हिन्दी-साहित्य

और

उस के निर्माता

लेखक—

पं० लक्ष्मी कान्त 'मुक्त' साहित्यरत्न

सम्पादक 'सौरभ' दिल्ली

प्रकाशक—

रोशन बुक डिपो

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

नईसड़क, दिल्ली।

[मूल्य ५)

प्रकाशक:—

रोशन बुक डिपो,

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

नईसड़क, दिल्ली ।

मूल्य ५)

मुद्रक—

नवजीवन प्रेस

कूचा शरीफ बेग,

बाजार सीताराम, देहली

पं० रघुवीर दत्त (लेखक के पिता)

समर्पण

परम पूज्य पिता जी को

लक्ष्मी कान्त

दो-शब्द

'हिन्दी-साहित्य और उसके निर्माता' के नाम से हिन्दी-साहित्य का यह इतिहास मैंने हिन्दी भाषा के विकास का आवश्यक विवेचन करते हुये, समय-समय पर उसमें उद्भूत काव्य-धाराओं को लेकर लिखा है। निस्सन्देह हिन्दी में साहित्य के इतिहासों की कमी नहीं है। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे कितने ही इतिहास विद्वानों ने लिखे हैं, किन्तु जो बड़े इतिहास हैं, वे इतने उच्चकोटि के हैं कि मध्यमश्रेणी के पाठकों के लिये उनका समझना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। छोटे इतिहास पाठकों की आवश्यकता को पूरा नहीं कर पाते। इसलिए मैंने इस इतिहास को मध्यम-आकार में समाप्त किया है, न तो यह अत्यन्त संक्षिप्त है और न बृहद् ही।

कवियों की विवेचना करते समय मैंने उनके जीवन-वृत्त की छान-बीन पर अधिक बल न दे कर, उनकी साहित्य-सेवा अथवा काव्य-साधना का विवेचन अधिक किया है। वास्तव में साहित्य-सेवियों के, विशेषकर कवियों के, जीवन की अपेक्षा उनकी कृतियों में ही हमें उनका उज्ज्वल रूप मिलता है। सच्चा साहित्यिक तो अपने जीवन को मिटाकर ही सरस्वती के भंडार को भर पाता है, उसका व्यक्तित्व जीवन में नहीं रचनाओं में

रहता है। इसलिए कवियों की जीवनी पर मैंने बहुत ही कम प्रकाश डाला है। हाँ, उनकी साहित्यिक विशेषताओं का विवेचन कहीं २ पर मैं अन्य बृहद्-आकार के इतिहासकारों से भी बहुत अधिक कर गया हूं। ऐसा प्रतिनिधि कवियों का उल्लेख करते हुए ही प्रायः हुआ है। कुछ छोटे-छोटे कवियों पर मैंने अधिक प्रकाश भी डाला है, क्योंकि उनकी रचनाओं में मैंने उनकी कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं को अनुभव किया है। इसके साथ ही भक्ति-काल और रीति-काल के कितने ही ऐसे कवियों को, जिनकी रचनाओं में तत्कालीन काव्यगत अभिरुचि के अतिरिक्त कोई अन्य विशेषता दृष्टिगोचर नहीं हुई, मैं छोड़ भी गया हूँ। ऐसा करने में मेरा ध्येय पाठकों के सन्मुख हिन्दी-साहित्य का एक मार्मिक और आवश्यक विवेचन उपस्थित करना रहा है।

काल-विभाजन में मैंने स्वर्गीय आचार्य प्रवर रामचन्द्र जी शुक्ल का अनुसरण किया है। रीति-काल तक के कवियों का वर्गीकरण तो बिल्कुल उनके ही समान रखा है। हां, उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के समस्त इतिहास को आधुनिक काल के अन्तर्गत न रख कर, मैंने उसे गद्य-काल, भारतेन्दु-काल द्विवेदि-काल, प्रसाद-काल और प्रगतिशील-साहित्य के शीर्षकों में बाँट दिया है, क्योंकि आधुनिककाल में जो व्यंजना है, वह इस समय प्रगतिशील साहित्य का बोध कराती है, जिन काव्य-धाराओं को समाप्त हुए लगभग एक सदी बीत चुकी है,

उनकी गणना आधुनिक काल में करना मुझे कुछ उचित प्रतीत नहीं हुआ।

जहाँ तक मुझसे बन पड़ा है; मैंने आदिकाल से लेकर वर्तमानकाल तक की सभी काव्य और गद्यधाराओं का सम्यक् विवेचन अपनी इस पुस्तक में किया है। इसके लिखने में मैंने अनेक विद्वानों की कृतियों से सहायता ली है। उन्हें धन्यवाद देकर मैं उऋण नहीं होना चाहता, अपितु मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उनके चरण-चिन्हों पर चल कर ही मैं अपने इस कार्य की पूर्ति कर सका हूँ। मैंने किसी नवीन साहित्यिकता का सृजन नहीं किया, बल्कि इतिहास जैसे गूढ़ विषय को पाठकों के लिए सरल और उपयोगी बनाने का प्रयत्न मात्र किया है। उपयोगितावाद के मेरे इस दृष्टिकोण को पाठक भली-भाँति समझ सकेंगे, यह मुझे पूर्ण विश्वास है।

शेष—यह पुस्तक कैसी बन पड़ी है? इसका निर्णय पाठकों पर निर्भर है। हाँ, अपने ८–१० वर्ष के अध्यापन के आधार पर मैं यह अवश्य कह सकता हूं कि उच्च और मध्यम दोनों कोटि के परीक्षार्थियों के लिए मेरी यह पुस्तक अवश्य उपयोगी सिद्ध होगी।

रघुकुल आयुर्वैदिक फार्मेसी
रुड़की, जि० सहारनपुर, यू० पी०
वसन्त पंचमी १९५० ई०

लेखक—

विषय-सूची

—:०:—

(अंक संख्या पृष्ठों की है)

हिंदी भाषा का विकास—१

अपभ्रंश काल—८

वीर-गाथा-काल—१३

(सं० १२००—१४००)

भक्ति-काल—३४

(सं० १४००—१७००)

प्रेम-मार्गी कवि—७६

राम-भक्ति-शाखा—१०९

कृष्ण-भक्ति-शाखा—१४२

भक्ति-काल की फुटकल काव्य-धारा—२०४

रीति-काल

(सं० १७००—१९००)

रीति-काल के अन्य कवि—२९४

गद्यकाल—२०५

(संवत् १९०० से अब तक)

गद्य-साहित्य का प्रथम उत्थान—२२२

(१९२५ से १९५०)

गद्य-साहित्य का द्वितीय उत्थान—२३४

(१९५० से अब तक)

आधुनिक-काव्य—३८१

(संवन १९०० से अब तक)

नवीन ब्रजभाषा काव्य—३९१

(संवत १९०० से अब तक)

भारतेन्दु-काल ४०२

राष्ट्रीय चेतना के कवि

(मंवत् १९२५ से १९५०)

द्विवेदी काल-४११

राष्ट्रवादी कवि

(संवत् १९५० से १९७५)

प्रसाद काल—४६३

छायावादी रहस्यवादी कवि

(१६७५—२०००)

प्रगतिशील—साहित्य—५२२

प्रगतिवादी—कवि

(संवत् २०००-)

हिन्दी भाषा का विकास

हिन्दी-साहित्य का इतिहास जानने से पूर्व हिन्दी भाषा का क्रमिक-विकास जानना आवश्यक है। भाषा विज्ञान का यह नियम है कि साहित्यिक भाषा धीरे २ जन साधारण की बोल-चाल की भाषा से दूर हो जाती है, उसके जानने वाले केवल साहित्यिक या पढ़े लिखे लोग ही रह जाते हैं। कालान्तर में साहित्यिक भाषा और बोल चाल की भाषा का यह अन्तर इतना अधिक हो हो जाता है कि हमें बोल-चाल की भाषा को अपनाना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाये तो साहित्य में संचित ज्ञान के लाभ से हमारे समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अनभिज्ञ रह जाए तथा साहित्यिकों की साधना और उद्देश्य भी व्यर्थ जाएँ।

वैदिक भाषा—हम किसी भी देश के साहित्य अथवा भाषा के विकास को देखकर यह कह सकते हैं कि समय २ पर उस देश की बोल-चाल की भाषा ही साहित्यिक भाषा का रूप लेती रही है। किसी अन्य देश अथवा भाषा के विकास को न लेकर यदि हम अपने ही देश के साहित्य और भाषा पर विचार करें तो हमें परिवर्तन की यह क्रिया प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती है।

भाषा की इस परिवर्तनशीलता को जानने के लिये हमें अपने देश के उन प्राचीन ग्रन्थों पर विचार करना होगा जो हमें भारतीय-साहित्य के मूलरूप में प्राप्त होते हैं और मूलरूप में प्राप्त होने वाले ये ग्रन्थ वेद हैं। वेदों में व्यवहरित भाषा को ही हम भारत की मूल भाषा या हिन्दी का उद्गम स्थान कह सकते हैं।

संस्कृत – जिस भाषा में वेद लिखे गये हैं। वह उस समय की साहित्यिक भाषा थी। वेदों का पठन पाठन कालान्तर में जब लोगों के लिये कठिन हो गया होगा और उनके समझने-समझाने वाले इने गिने व्यक्ति ही रह गये होंगे तब यह आवश्यकता जान पड़ी होगी कि अब उस भाषा को साहित्यिक भाषा का रूप दिया जाय, जिसके समझने वालों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक थी और जो उस समय की बोल-चाल की भाषा थी। वेदों के बाद का साहित्य हमें संस्कृत में लिखा हुआ मिलता है, इस लिये हम कह सकते हैं कि संस्कृत से मिलती जुलती भाषा ही उस समय की बोल-चाल की भाषा रही होगी। संस्कृत भाषा का निर्माण वैदिक भाषा में संस्कार (सुधार) करके किया गया था। इसीलिये इस भाषा का नाम संस्कृत रक्खा गया। पर संस्कृत भाषा किसी समय समस्त भारत की बोल-चाल की भाषा रह चुकी है। इसका शब्द भँडार और साहित्य इतना अपार है कि एक डेढ़ हजार वर्ष से उसमें कोई श्रीवृद्धि न होने पर भी वह विश्व की समस्त भाषाओं के साहित्य में महत्वपूर्ण बना हुआ

है। ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शनशास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, खगोल और भूगोल आदि साहित्य या कोई भी विषय ऐसा नहीं जो हमें इस भाषा में न मिलता हो। ताड़पत्र पर, हस्तलिखित रूप में लिखा हुआ होने पर भी संस्कृत का साहित्य-भण्डार जिन निधियों से भरा हुआ है वे हमें विश्व के किसी भी साहित्य में नहीं मिलतीं।

प्राकृत—किन्तु कालान्तर में संस्कृत भाषा भी बोल-चाल की भाषा से प्रथक हो गई, जिसके फलस्वरूप बोलचाल की भाषा ने साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। क्योंकि संस्कृत के बाद का साहित्य हमें प्राकृत में लिखा हुआ मिलता है। इसलिये प्राकृत से मिलती जुलती भाषा को ही हम उस समय की बोल-चाल की भाषा कह सकते हैं। सम्भवतः इस भाषा को प्राकृत नाम इसलिये दिया गया हो कि यह भाषा अपने प्रकृत रूप में बोलचाल की भाषा बनी हुई थी; जबकि संस्कृत व्याकरण के नियमों में बंधकर अपने रूप को निर्धारित कर चुकी थी। बौद्ध संबंधी साहित्य हमें इसी प्राकृत भाषा में लिखा हुआ मिलता है। कुछ लोग प्राकृत को वैदिक भाषा से भी पूर्व की भाषा मानते हैं। उनका यह कथन इस दृष्टि से तो सही है कि यह भाषा बोलचाल के रूप में वास्तव में वैदिक भाषा से पूर्व से ही चली आ रही थी, किन्तु साहित्य का रूप इसे बौद्ध काल में ही प्राप्त हुआ। क्योंकि इससे पूर्व इस भाषा का साहित्यिक रूप हमें प्राप्त नहीं होता। इसलिये इस भाषा को हम संस्कृत के बाद की ही भाषा कहेंगे।

खड़ी बोली—हिन्दी साहित्य का भक्ति-काल, रीतिकाल और भारतेन्दु काल का पूर्वार्ध ब्रजभाषा का ही युग रहा। ब्रज-भाषा के संमुख किसी अन्य भाषा को उस समय के कवि प्रधानता नहीं देते थे, किन्तु मुसलमानों के भारत में आ-जाने के कारण यहाँ की बोल चाल की भाषा दिन पर दिन बदलती गई। अरबी-फारसी के संमिश्रण से जिस भाषा ने उत्तर पश्चिम भारत में बोलचाल का रूप लिया उसे खड़ी बोली कहा गया। इस भाषा का एक रूप उर्दू के नाम से मुसलमान कवियों द्वारा फलता-फूलता रहा। उर्दू के लेखक भारत में रहते हुए भी अरब और फारस के स्वप्न देखा करते थे। वहीं की लीपि में इन लोगों ने इस भाषा के शरीर को बाँधा और वहीं की विचार धारा से इसका प्राण सिंचन किया। यही कारण है कि भारत के भूभाग में जन्म लेने पर भी यह भाषा बिलकुल विदेशी बन गई। वीर गाथा काल के उत्तरार्ध में होने वाले अमीर खुसरो से लेकर भारतेन्दु काल तक उर्दू भाषा ने उत्तर पश्चिम भारत में अपना पूर्ण साहित्यक स्थान बना लिया था और शिष्ट समुदाय की भाषा यही भाषा समझी जाने लगी थी। केवल मुसलमानों ने ही नहीं अपितु बहुत से हिन्दुओं ने भी इस भाषा के कलेवर में श्रीवृद्धि की। भारतेन्दु काल में आकर ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों की रचनाओं को समझने वालों की संख्या उंगलियों पर रह गई थी। उर्दू के संमुख ब्रजभाषा के साहित्य का कोई मुल्य

नहीं रह गया था । तब हमारे हिन्दी कवियों का ध्यान बोल चाल की भाषा की ओर गया तथा उन्होंने बोलचाल की भाषा खड़ी बोली को जिसे वे अब तक गँवारू कहते रहे थे, अपनाना आरंभ किया । इस विचारधारा के साहित्यकों में भारतेन्दु जी का स्थान सर्व प्रथम है उनका ध्यान भाषा की विषमता की ओर ही नहीं, अपितु रचना तत्व की विषमता की ओर भी गया । उस समय हमारे देश को किस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता थी ? इस की परख भारतेन्दु ने की । उन्होंने खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा का रूप दिया और साहित्य को राष्ट्रीय चेतना तथा समाज की भावनाओं से ओत प्रोत किया ।

द्विवेदी काल में महामना आचार्य द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को परिमार्जित कर इसे व्याकरण के नियमों में बांधा तथा इसके शब्द-कोष को संस्कृत के शब्दों से भरपूर किया । यह भाषा संस्कृत की ओर अधिक झुकी तथा इसमें संस्कृत के शब्द अपने वास्तविक रूप में प्रयुक्त होने लगे । संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का मेल इस भाषा में इतना हुआ कि यह भाषा पूर्णतः संस्कृत गर्भित होने लगी । इसका खड़ापन नष्ट हो गया और संस्कृत का सा माधुर्य इस भाषा में भी आ गया । आज यही भाषा हमारे हिन्दी साहित्य की भाषा बनी हुई है तथा इसी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न हो रहे है ।

अपभ्रंश काल

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक रूप हमें अपभ्रंश काल के साहित्य में प्राप्त होता है। अपभ्रंश भाषा का साहित्य-काल विक्रम की सातवीं शताब्दी से लेकर सं० १३७५ तक हुआ है। बौद्ध सम्प्रदाय की वज्रयान शाखा के सिद्धों ने अपनी रचनायें अपभ्रंश भाषा में ही लिखी हैं। बौद्ध सम्प्रदाय की यह वज्रयान शाखा अपने वामाचार के कारण विकृत हो गई थी। ये लोग तांत्रिक थे और विक्रम की दसवीं शताब्दी तक भारतीय जनता पर इनका प्रभाव पाया जाता है। विहार, नालन्दा और विक्रम-शिला नाम के प्रसिद्ध विद्यापीठों में ये तांत्रिक सिद्ध लोग रहा करते थे तथा इनमें चौरासी सिद्धों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। ये लोग उस समय की बोलचाल की भाषा अपभ्रंश मिश्रित देशी भाषा में अपने उपदेश दिया करते थे। इन लोगों ने अपनी अटपटी (रहस्यमयी) भाषा में ब्रह्मानन्द के सुख को सहवास के सुख जैसा ही कहना प्रारंभ कर दिया था। इन्होंने स्त्री-प्रसंग और मद्यपान को भी साधना का एक रूप दे दिया था। स्त्री को शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कह कर उसके सेवन को सिद्धि के लिये ये आवश्यक बतलाते थे। इस प्रकार धर्म के नाम पर दुराचार का प्रचार इन लोगों ने कर दिया था।

धर्म के इस विकृत रूप में सुधार करने के लिये गोरखनाथ ने अपना गोरखपंथ चलाया। बज्रयानी शाखा के सिद्ध लोग भारत के पूर्वी भाग में अधिक फैले हुये थे और गोरख-पंथियों ने अपने धर्म का प्रचार भारत के पश्चिमी भाग में अधिक किया था। नाथ-पंथिओं का समय विक्रम की दसवीं शताब्दी माना जाता है। ये अन्तस्साधना पर अधिक जोर देते थे। इनका पन्थ नाथपन्थियों के नाम से प्रचलित हुआ। इन नाथों की संख्या नौ मानी जाती है, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

(१) नागार्जुन (२) जड़भरत (३) हरिश्चन्द्र (४) सत्यनाथ (५) भीमनाथ (६) गोरक्षनाथ (७) चर्पट (८) जलन्धर और (९) मलयार्जुन। कुछ सूफी लोगों ने भारत के इन योगियों से प्राणायाम की बातें सीखी थी, इसका समर्थन इतिहास से होता है। जिस समय मुसलमान पीर लोग भारत की जनता में अपने मत का प्रचार कर रहे थे, तब इन गोरख पन्थियों से ही उन्हें टक्कर लेनी पड़ी थी। यह समय चमत्कार का था, जो पीर अथवा सिद्ध जितना चमत्कार दिखाता था, उतनी ही श्रद्धा लोगों को उस पर होती थी। नाथ पन्थियों ने ईश्वर की उपासना के बाहरी विधानों की निन्दा की तथा वेद-शास्त्र और तीर्थ-व्रत आदि को निष्फल ठहराया। ये घट के भीतर ही ईश्वर को ढूंढने का उपदेश लोगों को दिया करते थे। वज्रयानी और नाथ पन्थी इन दोनों शाखाओं में जाति-पाति का कोई भेद नहीं था। विद्वानों को फटकारना तथा गुरू की महिमा पर जोर

डालना इनका नियम था। ये कानों में स्फटिक के बड़े २ कुंडल पहनते थे, जिससे इन्हें कनफटे साधू भी कहा जाता था।

नाथ-पन्थियों से हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्रभावित हुये। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इनका प्रभाव शिक्षित लोगों की अपेक्षा अशिक्षित लोगों पर ही अधिक पड़ा। गोरख-पन्थ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों रूपों में प्राप्त होती हैं। इन पुस्तकों का महत्व काव्य कला की दृष्टि से कुछ नहीं है। हिन्दी-भाषा का रूप उस समय क्या था इसका ज्ञान इन पुस्तकों से अच्छा होता है। इनमें प्रयुक्त भाषा को शौरसेनी से उत्पन्न पुरानी पश्चिमी हिन्दी समझना चाहिये। वैसे इसकी भाषा का कोई एक रूप निश्चित नहीं है। उसमें हमें बिहारी और ब्रज भाषा के शब्द भी मिलते हैं। सिद्धों और नाथपथियों की अधिकतर रचनायें धार्मिक कोटि की हैं। साहित्यिक दृष्टी से इन रचनाओं को काव्य श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता। इस काल में हेमचन्द्र सोमप्रभसूरी, जैनाचार्य मेरुतुंग, विद्याधर और शार्ङ्गधर नाम के कुछ व्यक्ति ऐसे हुये हैं, जिनकी रचनाओं में सामान्य साहित्य के अच्छे दर्शन होते हैं।

हेमचन्द्र—अपने काल में ये एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हुये हैं इनका समय संवत ११६६ से १२३० हुआ है, इन्हों ने 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' नाम का व्याकरण ग्रन्थ लिखा है, जिस

में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं पर विचार किया गया है। उस समय की दृष्टि से उनका यह व्याकरण ग्रन्थ उत्तम कहा जा सकता है। इन्होंने 'कुमारपाल-चरित' नाम का एक प्राकृत काव्य लिखा था।

सोमप्रभ सूरी—ये भी एक जैन पंडित थे। इन्होंने 'कुमार पाल प्रतिबोध' नाम का एक काव्यग्रन्थ लिखा है, जो गद्यपद्य दोनों में लिखा गया है। इसकी भाषा प्राकृत है। बीच २ में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश भाषा के दोहे भी लिखे गये हैं।

जैनाचार्य मेरुतुंग—ये भी एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। इन्होंने सम्वत् १३६१ में 'प्रबन्ध चिंतामणि' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। यह संस्कृत में लिखा गया था, किन्तु इसमें बीच २ में अपभ्रंश के पद्य भी दिये गये हैं, जो इनके अपने लिखे हुये न हो कर अन्य कवियों के हैं। कुछ दोहे राजा भोज के चाचा कविवर मुंज के लिखे हुये हैं। मुंज के ये दोहे तैलंग देश के राजा तैलप की बहिन मृणालवती के प्रेम को लेकर लिखे गये हैं। मुंज को जब तैलंग नरेश ने बन्दी बना लिया था तो उस समय उनका प्रेम मृणालवती से हो गया था। इन दोहों में सच्चे प्रेम का सुन्दर वर्णन हुआ है।

विद्याधर—इनके विषय में अभी तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सम्भावना है कि इस नाम के

किसी कवि ने राठौर के सम्राट की वीरता और पराक्रम का वर्णन किया था, किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका।

शार्ङ्गधर—इनका समय विक्रम को १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में माना जाता है। इन्हों ने आयुर्वेद का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। अपने समय के ये एक अच्छे कवि और सूत्रकार थे। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि इन्हों ने 'हम्मीर-रासो' नाम के एक काव्य की रचना पुरानी हिन्दी में की थी, किन्तु इनका यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। इनके जो पद अब तक उपलब्ध हो सके हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका यह ग्रन्थ वीर रस का एक सुन्दर काव्य है।

अपभ्रंश भाषा में जैनियों के धर्म-ग्रन्थ ही अधिक लिखे हुये मिलते हैं, जिन्हें अभी तक साहित्यिक दृष्टि से नहीं आंका गया है। एक प्रकार से इस भाषा का काल विक्रम को १४ वीं शताब्दी में ही समाप्त सा हो जाता है। वैसे विद्यापति की लिखी हुई कीर्तिलता और कीर्तिपताका नाम की दो पुस्तकें अपभ्रंश भाषा में लिखी हुई और मिलती है जो विक्रमी संवत १४५६ के आस पास की हैं, किन्तु इन पुस्तकों में जिस अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है, वह देश भाषा मिश्रित है। इस काल में संस्कृत के तत्सम शब्दों के बहिष्कार की रुचि अधिक पाई जाती है। इस युग के संस्कृत के साहित्यिक प्राकृत भाषा की रूढियों में अधिक बंधे हुये थे। किन्तु जैसे २ बोल-चाल की देशी भाषा काव्य का रूप लेती गई, वैसे ही वैसे संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर कवियों का झुकाव बढ़ता गया।

वीर गाथा काल

किसी भी देश के साहित्य पर वहां की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का पूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी साहित्य के आदि काल (वीर गाथा काल) पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि राजनैतिक दृष्टि से यह काल अशान्तिमय था। भारतवर्ष में कोई भी राज्य-शक्ति ऐसी नहीं रह गई थी, जिसके आधीन होकर छोटे-बड़े सब राजा शासन का कार्य चलाते हों। बल्कि भारतवर्ष छोटे २ टुकड़ों में विभाजित हो गया था अपने ५० या १०० ग्रामों को ही उस समय के राजपूत राज्य समझते थे तथा उनकी रक्षा करनी ही उनकी दृष्टि में राष्ट्र धर्म अथवा मातृभूमि की सेवा रह गया था। इन राजाओं में आपस में फूट थी तथा एक दूसरे को नीचा दिखाने का दाँव ये ढूंढते रहते थे। जरा जरा सी बातों पर आपस में तलवारें चल जाती थीं। इनकी वीरता का आदर्श स्वयंवर में रमणी को प्राप्त करना रह गया था। विवाह जैसी पवित्र धार्मिक प्रथा भी इस काल में युद्ध का कारण बन गई थी। लड़की का स्वयंवर रचते समय पिता को युद्ध की पूरी तैयारी करनी पड़ती थी तथा जयमाल पहनने वाले वीर को लड़की के पिता से ही नहीं अपितु स्वयंवर में उपस्थित सभी नरेशों से लड़ना पड़ता था

राज्यों की व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी। अपने भोग-विलास के अतिरिक्त राजा का अन्य कोई कार्य नहीं रह गया था। यदि इस काल को हम राजनैतिक दृष्टि से एक गया-बीता काल कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

देश की ऐसी राजनैतिक विषम परिस्थितियों में भारत के उत्तर- पश्चिम की ओर से मुसलमानों के आक्रमण निरन्तर हो रहे थे, जिनका लोहा सम्मिलित रूप से उस समय के ये राजपूत राजा नहीं लेते थे, । व्यक्तिगत रूप में यदि पृथ्वी राज जैसे कुछ राष्ट्र हितैषियों ने इन शत्रुओं का सामना भी किया तो दूसरों ने उनका साथ नहीं दिया और अकेले होने के कारण वे सफल नहीं हो सके। इस प्रकार देश की आपसी फूट के कारण धीरे २ मुसलमानों का प्रवेश भारत में हो गया तथा उन्हों ने अपने राज्य भी यहाँ बना लिये ।

धार्मिक स्थिति—बौध धर्म की विकृत वज्रयान शाखा के वामाचार द्वारा धर्म के नाम पर दुराचार का जो प्रचार हुआ था उसके प्रतिकार स्वरूप नाथ पंथियों ने हठयोग का प्रचार किया था। यह अपभ्रंश काल में बताया जा चुका है, किन्तु नाथ पन्थी भी धर्म का कोई ऐसा स्वरूप उपस्थित न कर सके, जिस से शिक्षित समुदाय की आत्म तुष्टि हो सकती। उधर राजनैतिक अशान्ति के कारण लोगों में हिंसा के भाव पनपने लगे थे । राजाओं का अधिक समय जीवन बिलास,पारस्परिक युद्ध और शिकार खेलने में

व्यतीत हुआ करता था। धार्मिक भावना लुप्त हो चुकी थी। वीरों में शक्ति की उपासना का प्रचार बढ़ता जा रहा था। तथा पशु-बलि और नरबलि देने की प्रथा फिर आरम्भ हो गई थी। रक्त-पात को ये लोग बुरा नहीं समझते थे। यहां तक कि स्वयंवर के शुभ अवसर पर भी लाखों का खून होजाता था। इस प्रकार लोगों के व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में से धर्म की सच्ची भावना का लोप हो गया था। संसार से विरक्त हुये प्राणियों के लिये तो यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस समय के सामाजिकों और राजाओं का जीवन धर्म भावना से प्रायः शून्य सा हो गया था।

सामाजिक स्थिति—राजनैतिक अशान्ति और धार्मिक भावनाओं के अभाव में उच्च कोटि की सामाजिकता कभी नहीं पनप सकती। राज्य और धर्म के दो नियंत्रण इस प्रकार के हैं कि जिनके सुचारु रूप में रहने पर सामाजिकता या नागरिकता स्वयं पनपती और विकसित होती है, किन्तु ये दोनों ही नियन्त्रण इस समय ढीले थे। इसलिये उच्च कोटी की समाजिकता हमें इस काल के व्यक्तियों में नहीं मिलती। सामाजिक जीवन की महत्ता को इस काल में नहीं समझा गया था। न तो इन लोगों का कोई ऊंचा समाज था और न कोई उसकी व्यवस्था थी। एक प्रकार से राजा को ही सर्वोपरी माना जाता था। तथा सब उसकी आज्ञा के आधीन होकर चलना ही अपना कर्तव्य समझते थे।

राजाओं का सम्मान अवतारों के रूप में होता था। राजा पूर्ण स्वतन्त्र होते थे और जो चाहें कर सकते थे। लोगों का सामाजिक जीवन भी राजाओं की तरह विलासी, वीरतामय और अहिंसक ढंग का था। नागरिकों की भी सहायता और पारस्परिक मंगल भावना उन में नहीं रह गई थी। विवाह स्वयंवर प्रथा के अनुसार होते थे, किन्तु स्वयंवर की यह प्रथा राजाओं में ही अधिक प्रचलित थी।

साहित्यिक-स्थिति—जो काल राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्ण अशान्तिमय और पतनावस्था को प्राप्त हो, उसमें उच्च कोटि की साहित्यिकता को ढूँढना मरुस्थल में पानी की खोज के समान है, किन्तु फिर भी हमें इस काल में वीरों के चरित-काव्यों के रूप में खुमानरासो, पृथ्वीराजरासो, वीसलदेव रासो और आल्हाखण्ड नामके जो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी का यह आदि युग विश्व की किसी भी भाषा के आदि साहित्य से कम महत्व का नहीं है। प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य का आदि काल शृंगार और वीर रस की कविताओं का युग रहा है। वैसे ही हमारे साहित्य का यह युग भी शृंगार और वीर-काव्य का युग रहा है। इस काल में राजदरबारों में चारण लोग रहा करते थे, जो अपने आश्रयदाताओं की वीरता, पराक्रम और साहस का वर्णन ओजमयी भाषा में किया करते थे। किसी रमणी के स्वयम्वर के समय जहां वे अपने आश्रय दाताओं की

कामनाओं को गुद-गुदाते थे, वहाँ युद्ध के अवसर पर वे स्वयं भी तलवारें खींच कर तथा राजाओं में वीरता का स्फुरण कर अपना जौहर दिखाया करते थे। इसमें संदेह नहीं कि इनकी वीरता प्रदर्शन की यह रीति निकृष्ट थी। क्योंकि इसमें अधिकतर अपने ही भाइयों का रक्तपात और अपने ही देश की संपत्ति तथा शक्ति का विनाश होता था, किन्तु फिर भी अपने वीर नायकों के युद्धों का जो वर्णन इन कवियों ने किया है, उसमें वीर रस की सुन्दर छटा तथा कवित्व की प्रबल अभिव्यक्ति हुई है। ये कवि उस समय की बोल-चाल की देशी भाषा (डिंगल और पिंगल) में अपने शृंगारिक और वीरतामय उद्‌गारों को प्रकट किया करते थे। इनका कार्य आश्रय-दाताओं को प्रसन्न करना था। काव्य साधना या देशहित की प्रेरणा से प्रेरित हो कर ये कुछ नहीं लिखते थे।

इन दरबारी कवियों को चारण कहा जाता था तथा राजदरबारों में इनका पैत्रिक स्थान होता था। आश्रयदाता की पूर्ण वंशावली इन्हें कण्ठस्थ याद होती थी, तथा उस वंश में होने वाले राजाओं के चरित-काव्य भी ये मौखिक रूप में याद रखते थे। आश्रय-दाता के चरित-काव्य की प्रायः दो हस्त-लिखित प्रतियां हुआ करती थीं, जिनमें से एक राज-दरबार में रहती थी तथा दूसरी चारण के घर पर। ये चारण कवि प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखा करते थे। प्रबन्ध-काव्य में आश्रयदाता का पूर्ण

जीवन अंकित रहता था। उसमें प्रायः उसके युद्धों, कार्य-कलापों और शृंगारिक जीवन का वर्णन किया जाता था। मुक्तक-काव्यों की शैली वीर-गीतों की सी थी, जिसका आधार आश्रयदाता के जीवन से सम्बन्धित कथा ही हुआ करती थी। नीति, आचार, शृंगार और धर्म सम्बन्धी फुटकल पदों की रचना भी ये लोग कभी २ किया करते थे, जो आश्रयदाताओं की प्रशंसा का ही एक ढंग था।

इन कवियों ने प्रधान रूप में वीर रस को अपनाया था तथा उस समय के वीरों की गाथाओं को ही काव्य का रूप ये दिया करते थे। इसलिये इन्हें वीर रस का कवि कहना ही उपयुक्त है। अपने आश्रयदाताओं पर जो ग्रन्थ ये लिखते थे उसका नाम आश्रयदाता के नाम के साथ रासो शब्द जोड़ कर रक्खा करते थे। रासो शब्द की उत्पत्ति रसायन शब्द से मानी जाती है, जिसका व्यवहार ये महाकाव्य के रूप में किया करते थे। रासो से अभिप्राय बृहद्-आकार के उस ग्रन्थ से होता था जो किसी वीर नायक पर लिखा गया हो, जिसकी शैली वर्णनात्मक और वीर रस प्रधान हो तथा जो महाकाव्य की सी विशेषताओं से पूर्ण हो। जिसकी कथा को सर्गों में विभाजित न करके ये 'समयों' में विभाजित किया करते थे, जिसका अभिप्राय सर्ग अथवा अध्याय होता था। कथा छन्दोबद्ध होती थी तथा वीररस के उपयुक्त छन्द-दोहा, त्रोटक, छप्पय, कवित्व, तोमर और पाधड़ी आदि का प्रयोग अधिक होता था।

वीरगाथा काल का जितना भी साहित्य अब तक प्राप्त हुआ है वह प्रायः संदिग्ध है। जिसका कारण इस काल में मिलने वाले रासो नाम के ग्रन्थों का अपने मूल रूप में प्राप्त न होना है। यही कारण है कि कभी २ इन ग्रन्थों को बिलकुल जाली कहा जाता है। यह कथन इस दृष्टि से तो सही है कि ये ग्रन्थ अपने उस रूप में नहीं हैं, जिनमें कि इनके रचयिताओं ने इन्हें लिखा था। भारत में जब मुसलमान सत्तारूढ़ हो गए तो उस समय हिन्दुओं की धर्म-पुस्तकों, साहित्यिक-ग्रन्थों और उस समस्त सामग्री को जो हिन्दुत्व के गौरव का संरक्षण करने वाली थी, नष्ट कर दिया गया जिनमें इन रासो नाम के ग्रन्थों को भी समझना चाहिये। किन्तु भारतवासियों का विद्या कंठस्थ रखने का सिद्धान्त होने के कारण इस प्रकार की किसी भी सामग्री का मूल रूप से विनाश नहीं हो सका। यह बात अवश्य है कि जिह्वा की वस्तु होने के कारण हमारे ग्रन्थों में अनेक परिवर्तन आ गये तथा सही संवत लिखने की कोई प्रथा न होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से इन ग्रन्थों की शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई। एक ही नाम के कई राजा होने के कारण एक के जीवन की घटनायें दूसरे के जीवन से जुड़ गईं। इसके अतिरिक्त चारण लोग अपने आश्रयदाता पर लिखे हुये छन्दों को किसी अन्य के नाम के साथ जोड़ कर उससे भी धन ऐंठ लिया करते थे। इस लिये बाद में जब इन ग्रन्थों का संग्रह हुआ तो कहीं के पद कहीं मिल गये। इन सब बातों के अतिरिक्त इन ग्रंथो में ऐतिहासिक तथ्य न मिलने का कारण चारण-कवियों की अत्युक्तिपूर्ण

वर्णन शैली भी है। अपने आश्रयदाता को यह इतना बढ़ा-चढ़ा कर लिखते थे कि उसका जीवन चरित इतिहास से बहुत विभिन्न हो जाता था। दूसरे ये काव्य ग्रन्थ हैं, चारणों ने इनमें कल्पना-शक्ति से भी काम लिया है। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इन्हों ने युद्ध का कारण किसी न किसी रमणी को लिया है, चाहे उसका कारण वह रही हो या न रही हो।

इन ग्रन्थों को जब हम ऐतिहासिक कसौटी पर कसते हैं तो हमें यह न भूलना चाहिये कि इस काल का इतिहास अंग्रेजों का लिखा हुआ है, क्योंकि इतिहास लिखने की शैली भारतवासियों की नहीं रही है। भारतवासियों ने अब तक जो इतिहास लिखे हैं वे भी अधिकतर उन्हीं प्रमाणों और अन्वेषणों पर आधारित हैं, जो अंग्रेजों के द्वारा किये गये थे। हमारी ऐतिहासिक सामग्री की जब तक पूर्ण खोज नहीं हो जाती, तब तक हम किसी भी विषय में सही निर्णय नहीं दे सकते। राजस्थान में ऐतिहासिक तथ्यों का वास्तविक ज्ञान कराने वाली सामग्री अब भी प्रचुर मात्रा में पड़ी हुई है, जिसका अनुसंधान होने पर संभवतः हमारे राजपूत-कालीन इतिहास की काया ही पलट हो जाये। ऐतिहासिक अनुसंधान की ओर संकेत करने से हमारा अभिप्राय यह है कि हम अपने इन 'रासो' नामक साहित्यिक ग्रन्थों के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से यह निर्णय नहीं दे सकते कि ये ग्रन्थ बिलकुल झूटे हैं तथा जिन कवियों के नाम से ये प्रसिद्ध हैं वे इन के रचयिता हुये ही नहीं। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये ग्रंथ

अपने असली रूप में हमें प्राप्त नहीं हो सके और इनका अधिकतर भाग प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा हुआ) है। जिसका प्रमाण इनकी भाषा से भी बहुत कुछ मिलता है।

प्रमुख कवि और ग्रंथ—इस काल में दलपति विजय, नरपति नल्ह, चन्दबरदाई, भट्टकेदार, मधुकर, जगनिक और श्रीधर नाम के प्रमुख कवि हुये हैं, जिनका वर्णन नीचे किया जाता है।

१. दलपति विजय—इन्होंने खुमान रासो नाम का एक ग्रन्थ लिखा है, जो चित्तौड़ के रावल द्वितीय खुमान पर लिखा गया है। इनका समय विक्रम संवत् ८५० से ६०० तक हुआ है। इस ग्रन्थ में बगदाद के खलीफा अलमामूँ के साथ रावल खुमान के युद्ध का वर्णन किया गया है। इसकी जो प्रति हमें प्राप्त है, वह अधूरी है। इसलिये इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इसमें महाराणा प्रतापसिंह का भी वर्णन आता है। इसके विषय में यह भी संदेह है कि इसका असली लेखक दलपति विजय हुआ है या नहीं अथवा इस ग्रन्थ में उसका अपना लिखा हुआ भाग कितना है? रावल खुमान की वीरता और युद्ध का वर्णन इसमें अच्छा हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक महत्व का नहीं कहा जा सकता। यह प्रबन्ध काव्य है तथा इसकी भाषा डिंगल है।

नरपति नल्ह—इन्होंने बीसलदेव रासो नाम का एक ग्रन्थ लिखा है जो केवल १००पृष्ठों के रूप में उपलब्ध हुआ है। इसका

रासो नाम होने के कारण यह संभावना की जा सकती है कि यह ग्रन्थ इतना ही बड़ा नहीं होगा। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि यह ग्रन्थ जिन चार भागों में विभाजित है, उनमें बीसलदेव के गृहस्थजीवन का शृंगारिक वर्णनमात्र हुआ है। इतिहास बताता है कि बीसलदेव एक वीर और प्रतापी शासक थे तथा उन्होंने भारत के उत्तर पश्चिम से मुसलमानों को निकाल कर आर्यावर्त की पुनः स्थापना की थी। जिसका वर्णन इन १०० पृष्ठों में नहीं मिलता। इसका कारण या तो यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अभी तक हमें पूरा नहीं मिल सका अथवा इसकी शैली शृंगारिक और गीतात्मक है, इसलिये इसमें बीसलदेव के वीरतापूर्ण जीवन को लिया ही नहीं गया।

इस पुस्तक को चार भागों में बाँटा जा सकता है (१) बीसलदेव का भोज परमार की लड़की राजमती से विवाह होना (२) राजमती से रूठकर बीसलदेव का उड़ीसा चला जाना तथा वहाँ एक वर्ष रहना(३) राजमती का विरह वर्णन और बीसलदेव का उड़ीसा से लौट कर आना (४) भोज का अपनी लड़की को लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का फिर उसे चित्तौड़ लाना।

बीसलदेव रासो वीर गीतों में लिखा गया है। यह घटना प्रधान न होकर, वर्णन प्रधान है। इसकी वर्णन शैली से ज्ञात होता है कि नरपतिनल्ह अपने नायक का समकालीन कवि था। शृंगार रस का यह अच्छा ग्रन्थ है। इसकी भाषा पिंगल है। अरबी-फारसी के शब्द भी इसमें मिलते हैं। इस ग्रन्थ को भी

हम इसके मूल रूप में नहीं पाते। इसका रूप बहुत कुछ विकृत हो गया है। संयोग और वियोग शृंगार का वर्णन ही इसमें अधिक हुआ है। वीर रस का केवल आभास मात्र मिलता है। इसकी वर्णन शैली परिमार्जित नहीं कही जा सकती। भाषा के विकास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का मूल्य अधिक है। पुरानी हिन्दी के ज्ञान के लिये इसमें पर्याप्त सामग्री मिलती है।

चन्दबरदाई—इन्हें हिन्दी का बाल्मीकि माना जाता है। इनका समय संवत् १२२५ से १२४९ हुआ है। ये दिल्ली के प्रसिद्ध सम्राट् महाराजा पृथ्वीराज के सामंत और राज कवि थे। इनका जन्म लाहौर में हुआ था। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि इनका जन्म और मृत्यु पृथ्वीराज के साथ हुई थी। इन्हें छः भाषाओं का ज्ञान था तथा ये व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द-शास्त्र और ज्योतिष आदि के पूर्ण पंडित थे। पृथ्वीराज का इन पर अटूट स्नेह था और ये हर समय उनके साथ रहते थे।

इन्होंने पृथ्वीराज रासो नाम का एक बृहद् ग्रन्थ लिखा है। इसकी पृष्ठ-संख्या ढाई हजार है। और यह ६९ समयों अथवा सर्गों में बांटा गया है। इस ग्रन्थ की पूर्ति इनके पुत्र 'जल्हण' ने की थी। जब शाहबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज को क़ैद करके गजनी ले गया तो चंद भी कुछ काल पश्चात् वहीं चले गये थे। इस ग्रन्थ में चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। जय-चंद की लड़की संयोगिता से गंधर्व-विवाह कर लेने पर पृथ्वीराज

का समय भोग-विलास में ही अधिक बीतने लगा था। अवसर पाकर शाहबुद्दीन ने भारत पर आक्रमण किया, पृथ्वीराज ने उसे बंदी बना लिया, किन्तु भारतीय आदर्श दिखाने के लिये छुड़वा दिया, किंतु शाहबुद्दीन अपनी चाल से बाज नहीं आया। उसने फिर आक्रमण किया तथा वह पृथ्वीराज को बंदी बना कर गजनी लेगया। बाद में चंदबरदाई भी गजनी गये। वहाँ एक दिन पृथ्वीराज ने चंद के इशारे पर महल की खिड़की में बैठे शाहबुद्दीन को शब्दवेधी बाण से मार दिया, फिर दोनों एक दूसरे को मार कर मर गए।

शाहबुद्दीन के आक्रमण का कारण पृथ्वीराज रासो में एक पठान का उस सुन्दरी को जिसे शाहबुद्दीन चाहता था अपने साथ लेकर पृथ्वीराज के यहाँ आजाना बताया गया है, किन्तु इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। इस के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में वर्णित बहुत सी अन्य घटनायें भी इतिहास से मेल नहीं खातीं, जिस से अनेक विद्वानों ने इसे भाटों की कल्पना मात्रा कहा है। काश्मीर के कवि जयानक ने पृथ्वीराज-विजय नाम का एक काव्य संस्कृत में लिखा था, जो अभी तक पूरा प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु इस ग्रंथ का जितना भाग अब तक उपलब्ध हुआ है, उसमें वर्णित घटनायें और संवत् इतिहास से पूरा मेल खाते हैं। पंडित मोहनलाल विष्णु-लाल पंड्या ने पृथ्वीराज रासो के विषय में आनन्द नाम के एक संवत की कल्पना की है, जिसका विक्रम संवत से ६०

वर्ष का अन्तर रहता है। पांड्या जी का कथन है कि पृथ्वीराज रासो में जो संवत दिये गये हैं, उन में और विक्रम संवत में ६० वर्ष का ही अन्तर रहता है। इसलिये इस ग्रंथ का आधार आनन्द संवत को ही समझना चाहिये। किन्तु शुक्लजी ने काश्मीरी कवि जयानक के काव्य ग्रंथ का प्रमाण देते हुये इस ग्रंथ को जाली कहा है। इस के आधार पर उन्होंने यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज के दरबार में चंद नाम का कोई कवि ही नहीं था, किन्तु जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' नामक काव्य अभी तक पूरा प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये इसके आधार पर किसी प्रकार का निर्णय सही नहीं दिया जा सकता। जब तक हमें प्रबल और विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक हम इस रचना को चन्दबरदाई के अतिरिक्त किसी अन्य की रचना नहीं कह सकते। इस ग्रंथ की दुर्दशा का कारण इस का विकृत हो जाना है। इसकी पूर्ति जल्हण ने की थी, यह बात तो अकाट्य है ही। इस के अतिरिक्त जो पृथ्वीराज रासो हमें प्राप्त है वह प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता। अब तक पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियाँ मिल चुकी हैं, जो एक दूसरे से मेल नहीं खातीं।

वीर गाथाकाल की सब रचनाओं में यही ग्रंथ साहित्यिक दृष्टि से महत्व का है। इसके जोड़ का कोई दूसरा ग्रंथ वीर-गाथा काल में नहीं लिखा गया। रामचरितमानस और पद्मावत के पश्चात् पृथ्वीराज रासो ही हिन्दी का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है, भाषा और भाव की

,२४

दृष्टि से भी यह ग्रन्थ वीरगाथा काल की अन्य रचनाओं से श्रेष्ठ है। इसमें स्थान २ पर जो पौराणिक वर्णन आये हैं, उन्होंने तथा कवि की अपनी सूक्तियों ने इस ग्रन्थ का सौंदर्य और भी दूना कर दिया है। इसमें छन्द भी तोमर, तोटक, दोहा, कवित्त और छप्पय आदि कई प्रयुक्त हुये हैं। इसकी भाषा डिंगल-पिंगल का मिश्रितरूप है अरबी फारसी के शब्द भी इसमें काफी आये हैं, जिनका कारण इस ग्रन्थ का बहुत समय तक मौखिक रूप में रहना तथा बाद में संग्रह किया जाना कहा जा सकता है।

वैसे इस ग्रंथ में हमें किसी उच्च समाज का चित्रण या मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन देखने को नहीं मिलता, न रामचरित-मानस जैसी लोक हित और उच्च-मर्यादा या उच्च-साहित्य की भावना ही इसमें मिलती है, किन्तु फिर भी वीर चरित काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी का आदि महा-काव्य है। युद्धों का सजीव वर्णन और वीर-चरित्रों की अपूर्व झलक इस ग्रन्थ में देखने को मिलती है।

जगनिक—इन्होंने आल्हा खण्ड नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ महोबे के दो प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल के जीवन पर लिखा गया है। इनका समय संवत् १२३० है। यह ग्रन्थ गीतात्मक शैली में लिखा गया है। इसका मूल रूप हमें अभी तक प्राप्त नहीं हो सका, किंतु आल्हा के नाम से जगनिक का यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ है कि भारत के समस्त हिन्दी-भाषी-प्रांतों में देहात के लोग वर्षा-काल में प्रायः अब भी इसे

गाते हैं। यह ग्रन्थ मौखिक रूप में बहुत समय तक रहा है। इसकी शैली से ज्ञात होता है कि यह साहित्यिक पद्धति से न लिखा जाकर गाने के लिये ही लिखा गया था, क्योंकि इसकी प्रति किसी भी राज-पुस्तकालय में सुरक्षित नहीं मिलती, इसका सबसे पहला संग्रह फरुखाबाद के कलक्टर श्रीयुत चार्ल्स-इलियट ने छपवाया था।

मौखिक रूप में रहने के कारण इस ग्रन्थ की भाषा बहुत कुछ परिवर्तित होगई है। जिस भाषा में आज कल यह ग्रन्थ लिखा हुआ मिलता है, वह कन्नौजी भाषा से बहुत कुछ मिलती जुलती है। वीर-रस का अपूर्व परिपाक इस ग्रन्थ में भी हुआ है। यह लगभग १००० पृष्ठों का ग्रन्थ है और इसकी कथा २६ अध्यायों में विभाजित की गई है। हर अध्याय के आरम्भ में गणेश, राम, हनुमान, भवानी, जगदम्बा, ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवी-देवताओं की वन्दना की गई है तथा फिर किसी युद्ध अथवा विवाह का वर्णन हुआ है, साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्व का नहीं कहा जा सकता। वैसे आरम्भिक वीर-चरित काव्य और गीति-काव्य की दृष्टि से वीरगाथा-काल का यह ग्रन्थ भी हिंदी के गौरव को बढ़ाने वाला है। भारत में इस ग्रन्थकी लोकप्रियता रामायण की तरह से हुई है। इसमें प्रयुक्त छन्द, भाषा और वीररस से ओत-प्रोत घटना वर्णन इतना ओज पूर्ण है कि जिसे सुन कर हृदय फड़क उठता है।

भट्ट केदार और मधुकर कवि—भट्टकेदार ने कन्नौज के महाराज जयचन्द के जीवन पर 'जयचन्द प्रकाश' नाम का

एक ग्रन्थ लिखा था, इसके अतिरिक्त 'जयमयंक जस चन्द्रिका' नाम का एक ग्रन्थ जयचन्द के जीवन पर ही और लिखा गया था, किन्तु ये दोनों ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं होसके, इस लिये इनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिल्ली-सम्राट् पृथ्वी-राज का जैसा प्रभाव राजपूताने पर था वैसा ही प्रभाव कन्नौज के राजा जयचन्द का बुन्देलखन्ड पर था, किन्तु जयचन्द ने गौरी का साथ देकर देशद्रोह का काम किया था, इसलिये उसकी कीर्ति स्थायी न हो सकी। लोगों की दृष्टि में उस का सम्मान गिर गया, संभवतः इसी लिये उस पर लिखे हुये ग्रन्थ भी जनता को रुचिकर न लगे और धीरे २ लुप्त हो गये।

फुटकल कवि-फुटकल ग्रन्थ और फुटकल कवियों से अभिप्राय उन पुस्तकों या कवियों से है, जो वीरगाथा काल और भक्ति-काल की शृंखला को जोड़ते हैं। इन दोनों काल के मध्य में विद्यापति ठाकुर और अमीर खुसरो नाम के दो कवि ऐसे हुए हैं, जो विषय और शैली की दृष्टि से न वीर-गाथा काल में ही कहे जा सकते हैं और न भक्ति काल की धारा में ही इन की गणना की जा सकती है। इन्होंने जो कुछ लिखा है और जिस भाषा में लिखा है, वह वीरगाथा-काल और भक्ति-काल दोनों कालों की काव्य-धारा और भाषा से पृथकता लिये हुये है। इन दोनों कवियों की रचनाओं से हमें पता चलता है कि जब वीर गाथा काल समाप्त हो रहा था और भक्ति काल के उदय के चिन्ह दृष्टि-गोचर हो रहे

थे, उस समय पूर्वी-हिन्दी और पश्चिमी–हिन्दी का क्या रूप हो गया था तथा विषय वर्णन की शैली किस प्रकार की हो गयी थी? और हमारे सहित्यिकों का झुकाव किस प्रकार की काव्य रचनाओं की ओर था? भाषा और विषय की तत्कालीन स्थिति का बोध कराने वाले इन दोनों कवियों का परिचय निम्न प्रकार है—

विद्यापतिः—इन्होंने 'कीर्तिलता' 'कीर्तिपताका' और 'पदावली' नाम के तीन ग्रन्थ लिखे हैं। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' इनके ये दो ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में लिखे गये हैं, और इनकी गणना वीर गाथा काल की काव्य परम्परा के अन्तर्गत की जा सकती है, किन्तु साहित्य जगत में इन की प्रसिद्ध रचना पदावली ही है। यह मैथिल प्रदेश की बोल-चाल की भाषा में लिखी गई है तथा इसमें राधा और कृष्ण के शृंगारिक प्रेम का वर्णन हुआ है। इनकी यह पदावली हिन्दी का सर्व प्रथम गीति-काव्य है। इसकी रचना संस्कृत कवि जयदेव के गीति-काव्य के ढंग पर हुई है। पदावली में संगीत की इतनी अनुपम छटा है कि उसके कारण ही विद्यापति को मैथिल कोकिल कहा जाता है। निस्सन्देह कोयल की सी मादक कूक पदावली के गीतों में भी सुनाई पड़ती है।

कुछ लोगों ने इनकी पदावली में आध्यात्मिक संकेत बताये हैं, किंतु यह केवल भ्रम मात्र है। वास्तव में यह शृंगारिक ग्रन्थ है और इसमें स्त्री-पुरुषों की प्रेम-भावनाओं का सुन्दर विकास दिखाया गया है। इसके गीतों में व्यक्त प्रेम-भाव हमें

आध्यात्मिक-जगत के उस धरातल पर नहीं लेजाते जहाँ सूर और मीरा आदि कृष्ण-भक्त कवियों के भाव लेजाते हैं । विद्यापति का शृंगार-रस लौकिक है । तथा इसको पढ़ते समय हम में लौकिकप्रेम के भाव ही जागते हैं। नर-नारियों की प्रेम भावनाओं का सुन्दर चितेरा विद्यापति को उनकी पदावली के आधार पर अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु कोई आध्यात्मिक महत्व उनकी इस रचना को नहीं दिया जा सकता । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगे चलकर कृष्ण-भक्त कवि सूरदास ने विद्यापति के गीतों के ढंग पर ही सूरसागर की रचना की और विद्यापति के कुछ गीत सूर की तरह ही भक्तिरस के भी हैं, किन्तु इसमें भक्ति की प्रधानता न होकर शृंगार की है । इस लिये हम विद्यापति को शृंगार का ही कवि कहेंगे । काव्य की सी मधुरता, संगीत-लहरी और मानव-मन की प्रेम-पिपासा का निदर्शन विद्यापति ने वास्तव में अनोखे ढंग का किया है । इनकी भाषा उस समय की पूर्वी-हिन्दी का पूर्ण-परिचय देती है और कविता में कृष्ण भक्ति शाखा में प्रवाहित होने वाली काव्यधारा का पूर्व आभास मिलता है ।

अमीर खुसरो :—इनकी रचना का समय सं० १३४० के आस-पास माना गया है ये फारसी के अच्छे विद्वान थे । इनका स्वभाव विनोदी, मिलनसार और सहृदयता पूर्ण था । इसलिये इन्होंने जनता से अधिक सम्पर्क बनाना चाहा । इन्होंने जनता की बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो-सखुने

अधिक लिखे हैं। कुछ रसीले गीत और दोहे भी इनके लिखे हुये मिलते हैं, परन्तु इनकी प्रतिभा का अधिक चमत्कार और कथन की विचित्रता पहेलियों और मुकरियों में ही अधिक झलकती है। इन्होंने 'ख़ालिकबरी' नाम का एक शब्दकोष भी लिखा था, जिसमें अरबी फारसी के शब्दों के अर्थ ब्रजभाषा में दिए गए थे। इनका यह प्रयत्न इस बात को सिद्ध करता है कि ये हिन्दू-मुसलमान दोनों में भाषा की समता चाहते थे।

इनकी भाषा उस समय की बोल-चाल की पश्चिमी-हिन्दी का पूर्ण बोध कराती है। इन्होंने अधिकतर उस समय की बोल-चाल में ही लिखा है। जिसे हम वर्तमान खड़ी बोली का पूर्व रूप कह सकते हैं। वैसे इनकी भाषा ब्रजभाषा की झलक लिये हुये है। खुसरो ब्रजभाषा के माधुर्य से बहुत ही प्रभावित हुये थे, इन्होंने लिखा है कि ब्रज-भाषा में अरबी से कम माधुर्य नहीं है।

मुसलमान जाति का सबसे पहला कवि खुसरो ही है, जिसने हिन्दी को अपनाया और यहाँ की जनता से मुस्लिम जाति का हार्दिक सम्बन्ध जोड़ना चाहा। इसके अतिरिक्त बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली की ओर भी सब से पहिले इनका ही ध्यान गया था। हास्य-रसमें मुकरियाँ, पहेलियाँ और दो सखुने लिखने वाला यह अकेला कवि ही हिन्दी-साहित्य में हुआ है। मुसलमान होते हुये भी हिन्दी की जो सेवा खुसरो ने की है, वह प्रशंसनीय है। इनकी कविता में जातिय की भावना किसी स्थान

पर भी नहीं मिलती। अभी तक इनका कोई संग्रह तैयार नहीं हो सका। कुछ फुटकल रचनायें ही इधर-उधर मिलती हैं।

विशेष—वीर काव्य की धारा आगे भी बहती रही। संवत् १३७५ तक का युग तो एक प्रकार से वीरकाव्य का ही युग रहा है, किंतु वैसे वीर-रस संबंधी काव्य भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल में निरन्तर लिखा जाता रहा है। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो हमें तुलसी के रामचरित-मानस में लंका-दहन आदि प्रकरण में युद्ध वीररस के अच्छे दर्शन होते हैं। वैसे भक्ति-काल में धर्म वीर और दान वीर का वर्णन पर्याप्त रूप में हुआ है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शांतिपूर्ण शासन काल में भी हिंदू जनता मुगलों की कूटनीति में फंस कर अपने वास्तविक अस्तित्व को निस्सन्देह भूल गई थी, किन्तु औरंगजेब के दारुण शासन चक्र ने सोई हुई हिन्दू जनता की आँखें एक बार फिर खोल दीं। राजपूत वीरों की सोई हुई धमनियों में वीरता का संचार इस काल में फिर हुआ। शिवाजी और छत्रसाल जैसे हिन्दुत्व के पुजारी उत्पन्न हुये और उन की कीर्ति-गान करने वाले भूषण जैसे शुद्ध वीररस के सिद्धहस्त कवि भी अवतीर्ण हुये तथा शृंगार की कलुषित नालियों को लुप्त करती हुई वीररस की पावन मन्दाकिनी हमारे साहित्य के रीति काल में बह चली, जिसका विवेचन रीतिकाल में किया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दु काल तक हमारा हिंदी-साहित्य शृंगार की लौकिक नालियों में ही बहता रहा, किसी

प्रकार की उच्चता और पावनता उसे प्राप्त नहीं हुई। देश की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रहीं कि जिन्होंने भारतीय जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया। अपने प्राचीन गौरव, संस्कृति और आदर्शों को हिन्दू बिलकुल भूल गये। उधर अंग्रेजों के भारत में आजाने पर अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से विदेशी सभ्यता का प्रभाव भी हिंदू जनता पर पड़ा। इस नवीन पाश्चात्य विचार-धारा में पड़ कर बहुत से हिंदू भारतीय संस्कृति और आदर्शों के प्रति अवहेलना का भाव रखने लगे। जातीयता में उन्हें हृदय की संकीर्णता दृष्टिगोचर होने लगी थी किन्तु अंग्रेजों की शोषण-नीति ने भारतीयों को निर्धन बनाना आरम्भ किया। कुछ उच्च-कोटी के शिक्षित लोगों का ध्यान गया। उन्होंने भारतीय हिंदू समाज को आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं में से निकालने का प्रयत्न किया। जिसका मूल कारण उन्हें देश की स्वतन्त्रता में दिखाई दिया। देश में राष्ट्रीय भावनायें उत्पन्न हुईं और कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ, जिसने गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक नीति को ग्रहण किया किंतु सुभाष जैसे नवयुवक वीरों ने देश की स्वतंत्रता के लिये वीरता का भी संचार किया। जिससे हिंसात्मिक भावनायें भी उग्र विचार वाले लोगों में उत्पन्न हुईं।

राष्ट्रीय चेतना की यह लहर भारतेन्दु काल में हिन्दी साहित्य में भी उदय हुई। जिसे भारतेन्दु काल के कवियों तथा द्विवेदी युग के कवियों ने अपनी काव्य धारा का विषय बनाया।

—:o:—

भक्ति-काल

सामान्य-परिचय

राजनैतिक-स्थिति—भक्ति-काल का प्रारम्भ जिन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में हुआ था, वे अत्यन्त विषम थीं। इस समय तक मुसलमानों की कई पीढ़ियां भारत में राज्य कर चुकी थीं। अनेक कट्टर-पंथी मुसलमान शासकों के अत्याचार हिन्दू जाति को सहने पड़े थे। हिन्दुओं के ऊपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध राज्य की ओर से लगा दिये गये थे। यहाँ तक कि उन्हें हिन्दू रहने का भी टैक्स देना पड़ता था। शत्रुओं के क्रूर हाथों ने हिन्दुओं के अनेक मन्दिर धर्म-ग्रन्थ और पावनतीर्थ नष्ट-भ्रष्ट कर दिये थे। इस प्रकार राज्य का कोई सहारा हिन्दुओं के लिये नहीं रह गया था। न तो मान-मर्यादा पर मिटने वाले वे क्षत्री अब दिखाई देते थे और न सतीत्व पर अपना सर्वस्व होम देने वाली रमणियाँ ही अब रह गई थीं। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुओं के लिये यह घोर निराशा का युग था। उनकी हर प्रकार की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई थी ऐसी परिस्थिति में सिवाय राम-नाम के कोई और सहारा हिन्दुओं को नहीं रह गया था।

सामाजिक स्थिति—मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित इस समय का हिन्दू समाज अनेक प्रकार की बुराइयों से ग्रसित

हो गया था। बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा जैसी कुप्रथायें इसमें प्रवेश कर गई थीं। हिन्दुओं की बहू-बेटियों की सुरक्षा का जब कोई साधन न रहा तो उन्होंने उन्हें घर की चार-दीवारियों में बन्द कर दिया, जिससे सबल बनकर युद्ध-भूमि में शत्रु से लोहा लेने वाली वीर-रमणियाँ भी अबला हो गईं। मुस्लिमों के प्रभाव से सामाजिकों के जीवन में विलासिता बढ़ गई, उनका अधिक समय भोग-विलास में व्यतीत होने लगा। धार्मिक कट्टरता के कारण छुआछूत की भावना खूब बढ़ गई। किसी प्रकार का सामाजिक संगठन न हो सका। मुसलमानों के अत्याचारों का सामना करने के लिए यदि कभी हिन्दू संगठित भी होते थे तो राज्य की ओर से उनकी इस भावना और प्रयत्न को नष्ट कर दिया जाता था। इस प्रकार समाज में धीरे २ कायरता और दीनता का प्रवेश होता गया, जो सहसा धर्मभावना के रूप में फूट पड़ा।

हिन्दू सदैव से धर्म-प्राण रहे हैं। अपना सर्वस्व होम कर भी धर्म की रक्षा करना उन्होंने सीखा है। धर्म पर जब कभी संकट आया है तभी हिन्दुओं ने किसी न किसी रूप में अपना जौहर अवश्य दिखलाया है। इस काल में उनका राज्य शत्रुओं का हो गया था, इसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की, उनके धर्म-ग्रन्थ जला दिये गये, हर प्रकार की स्वतंत्रता छीन ली गई, बहुत-सी क्षत्राणियों को मुसलमान बादशाहों के हरमों (रणवासों) की शोभा बढ़ानी पड़ी, जिसे धीरता की प्रतिमा हिन्दूजाति सहन

कर गई, किन्तु जब उनके धर्म पर आँच आने लगी उन्हें जबरदस्ती मुल्ला बनाया जाने लगा तो उनकी आँखें खुलीं—भगवान् की प्रतिमाओं का संहार अपनी आँखों से देखकर उनके मन में नास्तिकता के जो भाव जाग उठे थे सहसा दूर हो गये, तथा उन्होंने धर्म का उत्थान करने वाले भगवान को याद किया। इस प्रकार राज्य के अनेक दुखों से पीड़ित हिन्दुओं की विचार धारा ईश्वर भक्ति के नाना रूपों में फूट पड़ी जिनमें प्रधानता ब्रह्म के साकार रूप की रही, जिसका विवेचन निम्न प्रकार है:—

धार्मिक-स्थिति—जिस समय मुसलमानों के आक्रमण भारत पर हुये थे, उसी समय से भारत के पूर्वी भागों में बौद्ध धर्म की विकृत शाखा वज्रयानी और पश्चिमी भागों में गोरख-पंथियों का प्रभाव जमा हुआ था, जिनके प्रचार से धर्म की वास्तविक भावना साधारण लोगों के हृदय से दूर हो गई थी तथा तंत्र-मंत्र सिद्धि में उनका विश्वास हो चला था। वज्रयानी शाखा का प्रभाव इस समय तक बहुत कुछ कम हो गया था, किंतु नाथ-पंथी अपना स्थान लोगों के हृदय में बनाए हुए थे। इनकी अंतस्साधना ने उस समय के समाज का मन अपनी ओर बहुत कुछ आकृष्ट कर लिया था। इन लोगों ने वेद-शास्त्रों के अर्थशून्य-विधानों तथा तीर्थ-व्रत आदि की निस्सारता का प्रचार कर कर्म विधान की संकुचितता को दूर करने का जो प्रयत्न किया वह समाज को आत्म-कल्याण और लोक कल्याण के कर्मक्षेत्र में न ला सका। इनके इस प्रयत्न ने एक प्रकार से समाज को कर्मक्षेत्र से भी पीछे हटा

दिया। अपनी रहस्यमयी बातों का निदर्शन करने के लिये ये लोग बाह्य संसार को छोड़ कर घट के संसार की चर्चा करने लगे। भक्ति का वास्तविक स्वरूप 'प्रेम' जिसमें हृदय की बहुत कुछ स्वाभाविकता है उनकी अंतरसाधना का विषय न बन सका तथा सामाजिकों का मन अनेक प्रकार के मंत्र-तंत्र और सिद्धियों में उलझ गया, जिसका अधिकतर प्रभाव साधारण लोगों पर ही पड़ा। शास्त्रों में विश्वास करने वाला उच्चवर्ग सिद्धों की वाणियों से प्रभावित नहीं हुआ। शिक्षित वर्ग में ईश्वर-आराधना का विषय वेदान्त ही बना रहा।

इस समय का हिन्दू और मुस्लिम समाज ईश्वर के किसी ऐसे स्वरूप की खोज में लगा हुआ था जो राम और रहीम के भेद को मिटा सके तथा जिससे सर्व साधारण की आत्म-तुष्टि हो सके। इस प्रयत्न को लेकर कबीर-पंथ और सूफी-सम्प्रदाय कार्य-क्षेत्र में उतरे। ये दोनों ईश्वर के निराकार स्वरूप का समर्थन करते थे, और गुरु की महत्ता पर जोर डालते थे, किन्तु इनकी भक्ति-पद्धति में बहुत कुछ अन्तर था। जहाँ कबीर-पंथ ज्ञान पर जोर देता था, वहाँ सूफी-मत में प्रेम को प्रधानता दी गई थी।

उधर रामानुजाचार्य का सगुण-भक्ति का प्रचार भी शिक्षित समाज में हो चला था। इनकी शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द जी हुये। जिन्होंने राम की भक्ति का प्रचार भारत में घूम २ कर किया। स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास हुये, जिन्होंने हिन्दी-भाषा में राम के जीवन

को लिख कर उनकी सगुण-भक्ति का प्रचार किया। राम की भक्ति जीवन के उच्चादर्श को लेकर खड़ी हुई तथा उसमें भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों का समन्वय हुआ। उधर प्रेम-तत्व को लेकर चलने वाले सूफी-मत का प्रभाव जब हिन्दू जनता पर अधिकाधिक पड़ने लगा तो हिन्दुओं का ध्यान भगवान की प्रेम-मूर्ति की ओर भी गया तथा स्वामी वल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेम-प्रधान भक्ति का प्रचार किया। जिनके शिष्य सूरदास जी हुये, जिन्होंने कृष्ण की बाल और प्रेम लीलाओं पर सूरसागर की रचना व्रज-भाषा में की, और कृष्ण की प्रेम-प्रधान भक्ति का रसास्वादन सर्व-साधारण को कराया।

इस काल में हिन्दू और मुसलमानों के लिये भक्ति का एक सामान्य मार्ग निकालने का प्रयत्न प्रारम्भ से ही चला आ रहा था। नाथ पंथियों ने भी इसके लिये प्रयत्न किया था, किन्तु उनकी हृदय-पक्ष शून्य अंतस्साधना लोगों को अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। इसके पश्चात् महाराष्ट्र प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने भी हिन्दू मुसलमानों के लिये भक्ति का एक सामान्य मार्ग खड़ा करने का प्रयत्न किया था, किंतु इस प्रयत्न में अधिक सफलता कबीर-पंथियों और सूफियों को ही मिली।

कबीर पंथ—कबीर-पंथ इस समय में प्रचलित भक्ति भावनाओं का एक सामान्य रूप लेकर खड़ा हुआ था। उसने हठयोग से अंतस्साधना, सूफी मत से प्रेम-तत्व, वैष्णव धर्म से अहिंसा और शंकराचार्य के अद्वैतवाद से माया के सिद्धान्त को

ग्रहण किया। यह पंथ ऐसे अवसर पर आरम्भ हुआ कि इसके द्वारा भक्ति-मार्ग से पिछड़ी हुई भारतीय जनता को बहुत कुछ सान्त्वना मिली। कबीर ने निराकार ब्रह्म की उपासना में भक्ति या प्रेम का जो योग किया, उससे निराकार ब्रह्म के स्वरूप पर लोगों की आस्था होने लगी। उधर जाति-पाँति का भेद-भाव न रहने के कारण कबीर के निर्गुण पंथ से सभी जातियों के लोग प्रभावित हुये। हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक कट्टरता को दूर करने में भी कबीर-पंथियों ने महत्व-पूर्ण कार्य किया।

नाथ-पंथियों की तरह कबीर भी अंतस्साधना पर जोर देते थे, तथा उस निराकार और निरंजन को घट में ही ढूँढने का उपदेश लोगों को देते थे, इन्होंने रोजा, नमाज, व्रत पूजा और तीर्थाटन आदि की निन्दा की, तथा ईश्वर के दरबार में मानव-मात्र का समान अधिकार बतलाया। इन्होंने धर्म के नाम पर फैले हुये समस्त बाह्य आडम्बरों को दूर कर धार्मिक एकता सात्विक-जीवन तथा विशुद्ध ईश्वर प्रेम का निरूपण अपने सच्चे हृदय से किया। ईश्वर के प्रति इनकी प्रेम-भावना दाम्पत्य भाव की थी तथा निराकार प्रभु के सामने ये अपने आप को पत्नी, पुत्र और सेवक आदि अनेक रूपों में उपस्थित करते थे। इनका प्रेम-वर्णन उच्चकोटि का और आध्यात्मिक था। सूफीमत वालों से कबीर पंथियों की यही विशेषता है कि इनके प्रेमोद्‌गार उनसे कहीं अधिक शुद्ध और वासना-विहीन हैं तथा ये ब्रह्म को पत्नी की अपेक्षा पति के रूप में भजते थे।

सूफीमत—'सूफी' शब्द 'सूफ' से बना है। 'सूफ' का अर्थ है 'ऊन'। इस मत को मानने वाले ऊन की कफनी और कनटोप पहनते थे। इसलिए इन्हें 'सूफी' कहा जाता था। इस शब्द का दूसरा अर्थ संसार से विरक्त वह प्राणी है जो प्रेम के द्वारा प्रभु से तादात्म्य स्थापित करना चाहता है—ऐसे विचारों के लोगों के सम्प्रदाय को सूफीमत कहा गया। इस मत की स्थापना सर्वप्रथम पैलेस्टाइन में अबुहाशम नाम के व्यक्ति ने की थी। वहीं से यह विश्व में फैला। भारत में यह मत मुसलमानों के साथ २ ही आया था। सूफीमत के मानने वाले लोग उन सहृदय मुसलमानों में से थे, जिनका हृदय हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये छटपटाया करता था। जो ईश्वर के निराकार रूप का प्रतिपादन प्रेम-तत्व द्वारा किया करते थे। इसलिये इन्हें प्रेम-मार्गी भी कहा जाता है। लौकिक प्रेम के कथानकों द्वारा प्रेम का वह स्वरूप ये लोग चित्रत किया करते थे, जिसमें प्रियतम के दिव्य-प्रेम की झलक मिलती थी। इनकी कथाओं का आधार हिन्दू राजकुमार और राजकुमारियों की प्रेम-कहानियाँ हुआ करती थीं। नायक और नायिका के प्रेम का वर्णन ये इस ढंग से करते थे कि जिससे ईश्वर-प्रेम की राह पर चलने वाले राही की अनेक बाधाओं का बोध भी होता था। प्रेम की व्यापकता को पशु पक्षी, लता-कुन्जों और मानव मात्र में दिखलाकर ये इस बात को सिद्ध करते थे कि यह समस्त संसार प्रेम के एक ही सूत्र में बँधा हुआ है तथा बस प्रभु के दिव्य प्रेम की एक ही ज्योति सब में जगमगा रही है।

लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम का चित्र उतारने वाले प्रमुख कवि मुसलमान ही हुये हैं। इस प्रकार के कुछ प्रेम कथानक हमें हिन्दू कवियों द्वारा भी लिखे हुये मिलते हैं; किन्तु इनके प्रेम वर्णन में ईश्वर प्रेम की वह व्यंजना दिखाई नहीं देती, जो हमें मुसलमान काव्यकारों में मिलती है। इसलिये प्रेम-मार्गी कवियों में जायसी कुतबन और मंझन आदि मुसलमान कवियों की ही गणना की जाती है।

ये मुसलमान कवि हिन्दुओं की प्रेम कथाओं को उन्हीं की भाषा में लिखा करते थे, किन्तु इनकी लिपि अरबी होती थी। दोहा और चौपाई की जिस शैली का अनुकरण इन कवियों ने किया है उसकी परम्परा जैनियों के चरित-काव्यों से ही हमारे यहाँ चली आरही थी। केवल लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम व्यंजना ही इनकी अपनी वस्तु थी इसके अतिरिक्त काव्य के अन्तर्गत, प्रकृति, जीव, और ब्रह्म आदि के विषय में ये जो कुछ चर्चा करते थे उसमें भी इनका पैगम्बरवाद छिपा रहता था।

कबीर पंथ की अपेक्षा सूफी मत वालों को हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने में अधिक सफलता प्राप्त हुई। इसका कारण इन कवियों का उस रागात्मक तत्व को ग्रहण करना कहा जा सकता है, जो हृदय का विषय है तथा हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से पाया जाता है। हिन्दू-मुस्लिम कट्टरता को दूर करने के लिये कबीर-पंथियों ने खण्डन मण्डन की जिस पद्धति को अपनाया था, वह हिन्दू और मुसलमान दोनों को

चिढ़ाने वाली सिद्ध हुई। इस लिये कबीर को काशी के पंडों से तंग आकर मगहर प्राण छोड़ने पड़े तथा इब्राहीम लोदी जैसे मुस्लिम शासक द्वारा अनेक यातनायें सहन करनी पड़ी। अनपढ़ होने के कारण कबीर का एकेश्वरवाद अशिक्षित लोगों तक ही सीमित रह गया, किन्तु सूफी कवियों हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के हृदयों को एक दूसरे के संमुख रख कर जिस अभेदता का निरूपण किया, उसने दोनों जातियों को समान रूप से अपनी ओर आकर्षित किया तथा इस मत का प्रभाव दोनों जातियों पर समान रूप से पड़ा।

काव्य साधना—सूफी मत सम्बन्धी प्रेम कथानक लिखने वाले इन मुसमान काव्यकारों का साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य में प्रमुख स्थान है। इनके ग्रंथ प्रबंध काव्य की एक परिमार्जित शैली प्रस्तुत करते हैं। चरित्र-चित्रण और कवित्व की दृष्टि से भी ये उत्कृष्ट रचनायें हैं। इतना ही नहीं प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी का पद्मावत तो हिन्दी साहित्य में रामचरित मानस जैसा दूसरी श्रेणी का महाकाव्य है। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि मुसलमान होने के कारण इनकी रचनायें, काव्य-शैली और विषय-वर्णन की दृष्टि से भारतीयता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। उनमें अधिकाँश बातें इस्लाम धर्म सम्बन्धी या सूफी-मत की हैं। क्योंकि सूफी-मत कुरान-शरीफ के उन प्रसंगों के आधार पर खड़ा हुआ था, जिनमें सर्वव्यापी प्रभु के प्रेम स्वरूप शील और सौन्दर्य का वर्णन हुआ है। इसलिये इन

कवियों की प्रेम-पद्धति, जीवन-दृष्टिकोण, संस्कृति तथा जीव और प्रकृति सम्बन्धी अधिकतर विचार इस्लामी ढंग के हैं। बीच २ में भारतीयता का मेल उनमें अवश्य मिलता है। इनकी रचनाओं मे काव्य तत्व के सुन्दर दर्शन होते हैं तथा इनकी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय भी उनसे पर्याप्त मिलता है।

राम-भक्ति—वैदिक धर्म में जब कर्मकांड की मात्रा अपनी सीमा को पार कर गई और यज्ञों के नाम पर अनेक पशुओं की बलि दी जाने लगी तो उसकी प्रतिक्रिया के लिये वासुदेव धर्म तथा बौद्ध धर्म का उदय साथ २ ही हुआ। ये दोनों धर्म अहिंसा, उदारता और सदाचार की भावनाओं को लेकर खड़े हुये थे। इन में से बौद्ध-धर्म तो ईश्वर की सत्ता को न मान कर आत्म-शुद्धि के प्रचार में लग गया तथा वासुदेव धर्म ने भगवान् की भक्ति का आश्रय लिया। आगे चलकर वासुदेव धर्म ही वैष्णव धर्म के रूप में परिवर्तित हुआ, जिसमें अवतारवाद की भावना ने अपना स्थान बना लिया। बाद में विष्णु के दो अवतार राम और कृष्ण की भक्ति के रूप में यह धारा हिन्दी-साहित्य में भी प्रकट हुई।

बौद्ध-धर्म के नास्तिक वाद का उन्मूलन करने के लिये स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैतवाद (आत्मा और परमात्मा एक है) के जिस सिद्धान्त को जनता के सामने रक्खा। उसमें यद्यपि व्यवहारिक सगुणोपासना को स्वीकार किया गया था, तथापि भक्ति का कोई दृढ़ आधार शंकराचार्य का अद्वैतवाद प्रस्तुत न कर सका। भगवान् के ऐसे स्वरूप के लिये उस समय की जनता

सरसती ही रही, जो उनकी तरह ही जीवन की अनेक लीलाओं को करने वाला तथा सुख और दुख की अनुभूति से पीड़ित होने वाला हो। भगवान् के ऐसे स्वरूप का चित्रण सम्वत् १०७३ में रामानुजाचार्य ने किया। इन्हों ने राम और कृष्ण का उल्लेख न करके विष्णु के साकार रूप का प्रतिपादन किया। इनके सिद्धान्त के अनुसार संसार के सारे प्राणी उस प्रभु के ही अंश हैं तथा उस अंशी (प्रभु) के पास पहुंचना ही मुक्ति है। इनके सम्प्रदाय में सं० १३५० के लगभग स्वामी राघवानन्द जी हुये। इन्होंने विष्णु की भक्ति का प्रचार काशी में रह कर किया। विष्णु की भक्ति की यह सगुणवादी धारा दक्षिण भारत के संतों द्वारा प्रवाहित की गई थी। उत्तर भारत में पहुँचते इसे काफी समय लगा। वैसे इसका संदेश निम्बार्क स्वामी सं० १२५० के आस-पास उत्तर-भारत में ले आये थे, किन्तु इस के प्रचार का श्रेय स्वामी राघवानन्द जी के शिष्य स्वामी रामानन्द जी को ही है। स्वामी रामानन्द अपने समय के माने हुये धर्माचार्य हुये हैं। उनका समय विक्रम सम्वत् १५५० के आस-पास माना जाता है। ये राम-नाम का उपदेश देते थे, तथा राम के स्वरूप को ही लोक कल्याण का हेतु मानते थे। भक्ति के मार्ग से इन्होंने जाति-पाँति और वर्ग आदि के भेद-भाव को दूर किया, तथा भक्ति का द्वार सब जातियों के लिये समान रूप से खोल दिया। किन्तु यह समानता भक्ति के क्षेत्र में ही इन्होंने स्वीकार की थी। व्यवहारिक कर्म-क्षेत्र में शास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन इन्होंने नहीं किया। स्वामी रामानन्द जी के १२ शिष्य माने गये

हैं, जिन के द्वारा रामभक्ति का प्रचार भारतवर्ष में निरन्तर होता रहा, किन्तु इस धारा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास जी विक्रम की १७ वीं शताब्दी में हुये। उन्होंने उस समय की बोल-चाल की भाषा अवधी में राम की भक्ति का प्रचार किया।

हिन्दी साहित्य में तुलसीदास जी धार्मिक और साहित्यक दोनों दृष्टियों से अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी ईश्वर-आराधना जितनी विशुद्ध, आदर्शमयी और प्रबल है, उतनी ही विशुद्धता, उच्चता और प्रबलता उनके कवित्व में भी मिलती है। भारतवर्ष के घर २ में रामभक्ति का सन्देश पहुँचाने का श्रेय उनके रामचिरित मानस को है। इनका ग्रंथ भारतवर्ष में पंचम वेद की तरह माना जाता है। इनकी भक्ति-भावना इतनी पावन थी कि आज भी राम और सीता के दर्शनों का पिपासु वह तुलसी रामचरित की प्रत्येक पंक्ति और व्यंजना में समाया हुआ है।

राम भक्ति शाखा भक्ति के एक आदर्श स्वरूप को लेकर खड़ी हुई। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का जो समन्वय हुआ, वह हमें और किसी भी भक्तिधारा में प्राप्त नहीं होता तथा लोक-मर्यादा, जीवन-विकास और मानव-कल्याण की जितनी बातें हमें राम की भक्ति में मिलती में उतनी भारत में ही नहीं अपितु विश्व में प्रचलित किसी भी भक्ति धारा में हमें उपलब्ध नहीं होतीं, किन्तु फिर भी रामभक्ति की यह धारा, कृष्ण भक्ति की तरह लोकप्रिय न हो सकी, इसका कारण इसमें

निहित आदर्श की वह कसौटी है, जिस पर चलना सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं।

कृष्णभक्ति—कबीर के एकेश्वरवाद का प्रभाव साधारण जनता पर इतना पड़ा कि वेद-शास्त्र और मूर्ति-पूजा से उनकी श्रद्धा हटने लगी। उधर भारत के उत्तर से लेकर दक्षिण तक मुसलमानों का राज्य हो जाने के कारण इस्लाम धर्म के संस्कार हिन्दुओं पर अपना प्रभाव डाल रहे थे तथा सूफी पीरों की प्रेम प्रधान भक्ति शिक्षित हिन्दू वर्ग को भी अपनी ओर आकर्षित करने लगी थी। सूफीमत का प्रचार बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा था। कबीर पंथियों तथा सूफियों के प्रभाव को हिन्दू जनता पर से दूर करने के लिये तुलसीदास ने राम की आदर्श भक्ति का स्वरूप उस समय की जनता के सामने रक्खा, किन्तु सूफियों के प्रेम तत्त्व के सामने तुलसी की पावन भक्ति लोगों को आकर्षित न कर सकी, तथा हमारे हिन्दू भक्त ईश्वर का प्रेम स्वरूप खोजने में लगे रहे।

रामानुजाचार्य ने विष्णु के जिस साकार रूप का निरूपण किया था वह एक ओर तो राम की भक्ति का शुद्ध रूप जनता के सामने प्रस्तुत करने में लगा रहा, तथा दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्य ने कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर प्रेम प्रधान सगुणोपासना का प्रचार किया। उन्होंने सारे संसार को प्रभु की लीला का क्षेत्र मानकर उसकी अनेक बाल-लीलाओं और प्रेम-लीलाओं का वर्णन करना आरम्भ किया। उन्होंने प्रभु को सत्, चित्

और आनन्द से पूर्ण कह कर परब्रह्म को ही श्रीकृष्ण कहा। कृष्ण को ही वे पुरुषोत्तम कहते थे, तथा उनकी समस्त लीलाओं को नित्य मानते थे। उनकी दृष्टि में यह संसार भगवान की नित्य लीलाओं का एक क्षेत्र था, तथा इसमें प्रवेश करना ही वे जीव के लिये परम गति मानते थे। शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को प्रधानता दी थी और उसके साकार रूप को माया कहकर व्यवहार की वस्तु माना था। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को साकार मानकर उसके प्रेम रूप का चित्रण किया, तथा इस प्रकार कृष्ण की प्रेम प्रधान भक्ति का एक स्वरूप जनता के सामने उपस्थित हुआ। इनका सिद्धान्त था कि भगवान की प्रेमप्रधान भक्ति की ओर जीव तभी जाता है, जब वे उस पर कृपा करते हैं। भगवान की इसी कृपा को वे पोषण या पुष्टि भी कहते थे। इसलिये इन्होंने अपने भक्ति मार्ग को पुष्टि मार्ग भी कहा है।

स्वामी वल्लभाचार्य ने उस समय के अनेक पंडितों से शास्त्रार्थ करके अपने पुष्टि मार्ग का प्रचार किया तथा व्रज में जाकर अपनी गद्दी स्थापित की। वल्लभाचार्य ने कृष्ण के जिस बाल और प्रेम-स्वरूप को ग्रहण किया, वह भगवत गीता में चित्रित था। भगवत-धर्म महाभारत काल से ही चला आ रहा था। भारत के दक्षिण में इस समय भी इस धर्म में विश्वास रखने वाले लोग थे। वे मंदिरों में अपनी लड़कियों को भगवान की मूर्तियों पर चढ़ा देते थे और इस प्रकार भगवान को समर्पित हुई लड़कियां मन्दिर में बनी हुई मूर्ति को ही अपना पति मानकर

उसकी सेवा में लगी रहती थीं। जिन्हें देवदासियां कहा जाता था। अन्दाल नाम की एक प्रसिद्ध देवदासी इसी प्रकार की हुई है, जो कृष्ण को ही अपना पति मानती थी। उपासना की इस पद्धति को लिखने से हमारा अभिप्राय यह है कि माधुर्य भाव की उपासना-पद्धति भारत में पहले से ही विद्यमान थी और मुस्लिम काल में सूफियों के प्रभाव के कारण उपासना की इस पद्धति को कुछ प्रोत्साहन मिला था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कृष्ण-भक्ति के रूप में हमें मिलता है।

माधुर्य भाव की भक्ति धीरे २ लौकिक रूप ले लेती है, क्योंकि उसमें प्रेम की तीव्रता का चित्रण किया जाता है, तथा परब्रह्म के विरह में विह्वल आत्मा के प्रेम के जो चित्र दाम्पत्य रूप में उतारे जाते हैं, वे ज्ञान तत्व से शून्य होने के कारण साधारण नर-नारियों की प्रेम लीलाओं का रूप ले लेते हैं। इसीलिए नारी को महामुद्रा या शक्ति का रूप देकर भक्ति का विषय मानने से जो अवस्था बज्रयान-शाखा की हुई थी, वह कृष्ण भक्ति-शाखा की भी हुई। कृष्ण भक्तकवियों के ब्रह्म-स्वरूप पुरुषोत्तम कृष्ण और उनकी शक्ति राधा आगे चल कर साधारण नायिक-नायिका बन गये और राधा-कृष्ण के नाम पर अश्लीलता की नालियाँ रीतिकालीन हिंदी साहित्य में बहने लगीं। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी बल्लभाचार्य, उनके पुत्र विट्ठलनाथ और प्रमुख शिष्य सूरदास आदि कृष्ण भक्तों ने हृदय की जिस पवित्रता के साथ राधा और कृष्ण के प्रेम का चित्रित्र आत्मा

और परमात्मा के प्रेम का रूप देकर खींचा था, उसने उस समय की भारतीय जनता का सही प्रतिनिधित्व किया, तथा माधुर्यभक्ति भावना की जो मंदाकिनी इन भक्तों ने प्रवाहित की, उसके सामने सूफियों का प्रेम तत्व न ठहर सका।

इस प्रकार हिन्दी के समस्त भक्तिकाल को हम निराकार और साकार की प्रमुख दो धाराओं में प्रवाहित होता हुआ पाते हैं, जिनमें निर्गुणवादियों की ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी तथा सगुणवादियों की राम-भक्ति, कृष्ण भक्ति नाम की दो शाखायें प्रधान रूप से मिलती हैं। ज्ञानमार्गियों में महात्मा कबीर, प्रेम मार्गियों में मलिक मुहम्मद जायसी और रामभक्ति शाखा में गोस्वामी तुलसीदास तथा कृष्ण भक्ति शाखा में महात्मा सूर दास जी प्रतिनिधि कवियों के रूप में हिन्दी में हुये हैं। जिनका विवेचन समकालीन कवियों सहित इस प्रकार है:—

महात्मा कबीर—(सं० १४५६—१५७५) परिस्थितियाँ ही किसी महापुरुष को जन्म देती हैं या परिस्थितियों के अनुकूल मानव समाज में से ही कोई व्यक्ति महापुरुष बन जाता है, यह बात महात्मा कबीर पर भी पूर्णतया घटित होती है। या परिस्थितियाँ ही कभी महा पुरुष का निर्माण करती हैं। उस समय की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों ने कबीर जैसे महापुरुष को जन्म दिया था। भारतवर्ष में मुसलमानों के राज्य का यह वह काल था, जब कि भारतभूमि के अधिकतर भाग पर उनके अत्याचारों के दारुणदृश्य अपना

प्रभाव डाल चुके थे और राज का कोई सहारा हिन्दुओं के लिये नहीं रह गया था। मुस्लिम प्रभाव के कारण हिन्दू समाज में अनेक बुराइयाँ आ गयी थीं, क्षत्रियों की तलवारों को जंग लग गया था और धार्मिक विशुद्धता लुप्त हो गई थी। हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव ने साधारण जनता के जीवन को दुखमय बना दिया था। आपसी द्वेष के कारण किसी भी तरह का विकास नहीं हो रहा था। देश की अधिकतर जनता निराश थी और लोगों के जीवन में दीनता ने अपना स्थान बना लिया था। न तो धर्म का कोई मंगलकारी स्वरूप उनके सामने था और ना ही समाज का उदार अंक उनके लिये खुला हुआ था। न राज्य की सुव्यवस्था थी और न कल्याणकारी नैतिकता के दर्शन कहीं होते थे। ऐसी विषम परिस्थितियों में एक क्रांतिकारी महात्मा की आवश्यकता थी जो उस समय की जनता को कबीर के रूप में प्राप्त हुआ।

कबीर के जन्म के विषय में दो मत प्रसिद्ध हैं—कबीर-पंथियों का कहना है कि ब्रह्ममुहूर्त में काशी में लहरतारा नाम के तालाब में एक ज्योति प्रकट हुई, जो शिशु का रूप लेकर एक कमल में बैठ कर तालाब में तैरने लगी। वहाँ से नीरू और नीमा नाम के जुलाहा पति-पत्नी ने उसे प्राप्त किया, तथा यह शिशु ही बड़ा होकर कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरे मत को मानने वालों का कहना है कि कबीर किसी विधवा ब्राह्मणी की सन्तान

थे, जो समाज के भय के कारण उन्हें शिशु रूप में लहरतारा तालाब में फेंक आई थी। इसके साथ कबीर पंथियों ने स्वामी रामानन्द के द्वारा उस ब्राह्मणी को भूल से पुत्रवती होने का आशीर्वाद देने की कथा और जोड़ दी है। इन दोनों जनश्रुतियों में अधिक उपयुक्त यह जनश्रुति ही जान पड़ती है कि कबीर किसी ब्राह्मणी की सन्तान थे, जो लोकलाज के कारण उन्हें लहरतारा तालाब पर डाल आई थी। ज्योति रूप में आज तक कोई भी अवतार अवतीर्ण नहीं हुआ है, जितने भी अवतार अब तक हुए हैं, उनका जन्म किसी न किसी भाग्यवती माता की कोख से ही हुआ है। इसके अतिरिक्त हम उस ब्राह्मणी को स्वामी रामानन्द द्वारा भूल से आशीर्वाद देने की घटना को मानते हैं तो इससे स्वामी रामानन्द की महत्ता कम होती है। इस जनश्रुति के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि कबीर-पंथियों ने कबीर के जीवन को रहस्यमय बनाने के लिये आगे चल कर रामानन्द के आशीर्वाद की घटना को उनके जन्म के साथ जोड़ दिया होगा।

ब्राह्मणी माता की कोख से उत्पन्न होना और मुसलमानों के यहाँ लालित-पालित होना यह सिद्ध करता है कि कबीर पर हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के संस्कार थे। कबीर का बचपन से ही राम-नाम जपना और जीवन की अन्तिम साँस तक राम-नाम का समर्थन करना सिद्ध करता है कि उन पर पैतृक संस्कार हिन्दुओं के थे, किन्तु उसके साथ २ ही उन्होंने अल्लाह के नाम को जिस श्रद्धा से लिया है वह उनके मुस्लिम संस्कारों का भी

परिचय देता है। कुछ भी हो कबीर का जीवन ही उनके उस उद्देश्य का समन्वय है, जिसे उन्होंने अपने जीवन में पूरा किया। जाति-पाँत के भेद को मिटाना, राम और रहीम की एकता का समर्थन करना तथा ऊँच-नीच सब के लिये समान रूप से भक्ति का द्वार खोलना ऐसे ही कार्य हैं, जो कबीर जैसी परिस्थितियों में उत्पन्न हुये व्यक्ति द्वारा ही संभव हो सकते हैं।

कबीर के गुरु बनाने की घटना भी बड़ी विचित्र है। उनके समय में स्वामी रामानन्द जी माने हुये संत थे, जिन्होंने जुलाहा होने के कारण कबीर को गुरुदीक्षा देने से मना कर दिया था। जब कबीर किसी प्रकार भी उनसे गुरुमंत्र लेने में सफल न हो सके तो, उन्हें एक युक्ति सूझी। स्वामी रामानन्द जी ब्रह्ममुहूर्त में लहरतारा तालाब पर स्नान के लिये आया करते थे। एक दिन कबीर तालाब की पैड़ियों पर जा कर लेट गये। सहसा स्वामीजी का पैर उनकी छाती पर आगया। स्वामीजी के मुख से स्वभावतः 'राम-राम' का शब्द निकल पड़ा। उसी राम-नाम को कबीर ने गुरु-मंत्र समझ कर जपना आरम्भ कर दिया। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि स्वामी रामानन्द ने जाति-पाँति का कोई भेद न रख कर सर्व-साधारण के लिये भक्ति का द्वार खोल दिया था तो हमें सन्देह होता है कि स्वामी जी ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से क्यों मना किया? यह या तो इस लिए हो सकता है कि नीरू और नीमा जुलाहे के यहाँ पोषित होने के कारण कबीर को मुसलमान समझा जाता था या कबीर को दीक्षा देने से स्वामी

जाति-पाँति के भेद को मानते रहे होंगे। किसी भी कारण से कहो, कबीर को स्वामी जी से गुरुमंत्र लेने में बाधा अवश्य हुई थी। स्वामी रामानन्द जी राम की सगुण-भक्ति का समर्थन करते थे, किंतु कबीर के राम साकार न रह कर निराकार हो गये। उन्हों ने कहा:—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

साकार से निराकार ब्रह्म की ओर प्रवृत्त हो जाने का कारण भी कबीर की सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। मुसलमानों के अल्लाहवाद के सामने उस समय निराकार ब्रह्म की उपासना पद्धति ही हिन्दू और मुसलमानों के लिये आस्था का विषय हो सकती थी। उन्होंने मुल्लाओं के जंजालों, पंडितों की शास्त्रीय जटिलताओं और योगियों के चमत्कारों में भटकी हुई जनता के सामने आत्मतत्व का निरूपण किया। नाथ-पंथियों की अंतस्साधना, सूफियों का प्रेम-तत्व, वैष्णव धर्म की अहिंसा, अद्वैतवाद के माया के सिद्धान्त को ग्रहण करके कबीर ने अपना एकेश्वरवाद खड़ा किया। उनका यह एकेश्वरवाद कबीरपंथ कहलाया, जिसके मानने वाले हिंदू और मुसलमान दोनों हुये। हिंदू और मुसलमान दोनों ही मतावलंबियों की अच्छी २ बातें कबीर ने ग्रहण कीं, और दोनों जातियों में जितना भी दिखावा था उसका खण्डन उन्होंने समानरूप से किया। कबीर ने जिस राम का समर्थन किया है वह वेदांतियों के परब्रह्म रूप जैसा है। अवतारवादियों के दाशरथी राम जैसा नहीं। हाँ, उनके राम की यह

विशेषता अवश्य है कि वह केवल ज्ञानियों की ही वस्तु न होकर संसार के समस्त प्राणियों की वस्तु है। उनका ब्रह्म तो फूलों की सुगंध से भी पतला है। उसे वेद, पुराण, स्मृति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेषनाग और गरुड़ आदि कोई भी नहीं जान पाया है। वह ध्यान स्वरूप है, तथा घट घट में रमता है। कबीर ने अपने निरंजन और निरंकार ब्रह्म का स्वरूप जिस अटपटी वाणी में दिया है, वह उसका निराकार या साकार कोई भी व्यवस्थित स्वरूप सिद्ध नहीं कर सकी। यही कारण है कि वे हमें निर्गुणोपासक और सगुणोपासक के झमेले में उलझे से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनकी साखियों का विचार करने पर प्रतीत होता है कि उनका ब्रह्म चिंतन का विषय है। जिसके लिये ज्ञान-प्रधान भक्ति-पद्धति ही उपयुक्त ठहरती है। इसी लिये कबीर ने साधना पर अधिक बल दिया है। इसमें संदेह नहीं कि सूफीमत की तरह दाम्पत्य-भावना को ग्रहण करने से कबीर के रहस्यवाद में बहुत कुछ भावतत्व आ गया है। नाथपंथियों की सी शुष्कता और वेदान्तियों की सी जटिलता उसमें नहीं रही। ब्रह्म के विरह में विह्वल आत्मा के जितने भी चित्र कबीर ने खींचे हैं, वहाँ हमें उनके विरह और मिलन के उद्गार प्रेम की उस पावनता और पीर से ओत-प्रोत हैं, जो एकमात्र भक्तों में ही मिलती है, उन्होंने जिस अनन्य भाव से प्रियतम ब्रह्म को आत्मसमर्पण किया है, उसमें उनकी निश्छलता, विह्वलता और निष्काम-प्रेम-भावना के अत्यन्त सुन्दर दर्शन होते हैं। उनका वह देव निष्कामी है, जिससे उसकी विरहिनी आत्मा का निष्काम होना

भी अनिवार्य है। कबीर की आत्मा निष्काम भाव से ही उस अज्ञात प्रियतम की ओर बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। कबीर की विरह वेदना तीव्रता के साथ प्रेम की विशुद्धता लेकर फूट पड़ी है। उसकी आत्मा मिलन-सुख के लिये बेचैन है। वह हर घड़ी 'पीव पीव' रटती है। सेज उसे खाने को दौड़ती है और आँखें हर घड़ी प्रिय के दर्शन में डूबी रहती है। वह अपनी इस विह्वल दशा को उस निर्मोही प्रियतम से कहने की उत्सुकता में रात-दिन झूमती रहती है। इस प्रकार प्रियतम के लिये घुन २ कर मरने की यह तड़पन भक्त कबीर को उसके भगवान् तक पहुँचाती है उसके प्रेम में झूमने से उन्हें वही आनन्द मिलता है, जोकि योगी को योगी की प्राप्ति होने पर अनुभव होता है।

कबीर की विशेषता—इसमें है कि वे सूफियों के प्रेमवाद और अद्वैतवादियों के मायावाद को मानते हुये भी अपना एक ऐसा एकेश्वरवाद चलाने में समर्थ हुये, जिसमें उनका अपनत्व है, जो भक्ति और ज्ञान दोनों का विषय कहा जा सकता है। उन्होंने अपना प्रेम-भक्ति के यज्ञ की वेदी भाव-भूमि के जिस उच्च स्थल पर खड़ी थी, उसका समझना प्रारम्भ में हिंदू और मुसलमान दोनों के लिये ही कठिन रहा। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने खण्डन की पद्धति को अपनाया था। उनके समय में हिंदू मुस्लिम दोनों ही समाज धर्म के बाह्य आडम्बरों में उलझे हुये थे। एक ओर हिंदू मूर्ति पूजा, छुआ-छूत, अवतारवाद, तीर्थाटन और कर्मकाण्ड आदि के वास्तविक रहस्य को न समझ कर मिथ्या

आडम्बरों में फँसे हुये थे तथा आत्मा की पवित्रता को भूल कर उस समय का हिंदू समाज देवों की प्रतिमाओं पर फूल चढ़ाकर, तीर्थों के जल में स्नान करके सारे मल धुल जाने में विश्वास करने लगा था। कर्म चाहे कितने ही जघन्य क्यों न हों और मन चाहे कितना ही कलुषित क्यों न रहे, किन्तु, किसी देव के नाम पर यज्ञ करा देने से या गंगा-जल का आचमन कर लेने से कोई पाप नहीं लगता। इस प्रकार का अंधविश्वास उस समय के हिन्दू समाज को घेरे हुये था। उधर मुसलमान भी मुर्गी को हलाल कर, गऊ को मारकर, बिसमिल्लाहमात्र से जन्नत (स्वर्ग) में जाने के ख्वाब देखा करते थे। उनके लिये साल भर में तीस दिन के रोजे और दिन में पाँच बार की नमाज अल्लाहताला के दरबार में पहुँचाने का साधन रह गई थी। रोजा और नमाज के मूल तत्व को उस समय का मुस्लिम समाज भी भूला हुआ था। कर्मों की जघन्यता और मन की कलुषितता उसमें भी हिंदुओं ही की तरह विद्यमान थी। उनके पीर (धर्म गुरु) बेपार और मुल्ला मजहब के ठेकेदार, हिंदुओं के पंडों की तरह ही बने हुये थे, जो धर्म के वास्तविक तत्व से हीन और बाह्यआडम्बरों में लीन थे। हिदुओं के लिये सिर पर चोटी रखना, गले में जनेऊ डालना, छुआछूत का विचार करना ही धर्म हो गया था और मुसलमान किसी काफिर हिंदू को मुसलमान बना लेना धर्म का कार्य समझे हुये थे। ऐसी विषम परिस्थितियों में एक महात्मा या सच्चे धर्म-नेता का क्या कर्तव्य है? यह बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। अपने उसी कर्तव्य की पूर्ति

कबीरदास ने राम और रहीम की एकता का प्रतिपादन करके की। उन्होंने निर्भीक होकर उस समय के मुल्लाओं और पंडों को ललकारा तथा धर्म का वास्तविक तत्त्व सर्वसाधारण को समझाया। इसी कारण कबीरदास ने अनेक स्थानों पर धर्म के इन ठेकेदारों को फटकारा है तथा रोजा-नमाज और मूर्ति-पूजा आदि की निन्दा की है।

कबीर का मुख्य सिद्धांत–मानवमात्र को ऊँचा उठाना, हिन्दू-मुस्लिम भेद को मिटाना और ईश्वर का सच्चा स्वरूप सर्वसाधारण के सम्मुख रखना था, जिसको उन्होंने पूरा किया। वे हृदय को शुद्ध रखने का उपदेश देते थे तथा राम के दरबार में छुआछूत या जाति-पाँति के भेदभाव को नहीं मानते थे। उन्हें कर्म में विश्वास था, इसीलिये उन्होंने भीख माँगने की निन्दा की है। उन्होंने यदि किसी के आगे हाथ फैलाया है तो उस प्रभु के, जो सब को देने वाला है। उन्होंने मानवीय गुणों का समर्थन किया है तथा तप, सत्य और अहिंसा में अपना विश्वास प्रकट किया है। वे कथनी और करनी में किसी प्रकार का अन्तर देखना नहीं चाहते थे, उनके हृदय की स्वच्छता, निष्कपटता और उदारता हमें उनकी प्रत्येक पंक्ति में मिलती है। उनकी कही हुई साखियाँ जीवन की गहराई, मार्मिकता, लौकिक अनुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण हैं।

कबीर को हम एक सच्चा समाज-सुधारक, आलोचक और उच्चकोटि का धर्म-प्रचारक कह सकते हैं। मानव-मात्र के प्रति

इनका दृष्टिकोण उदारता-पूर्ण एवं स्नेह भरा था। उनके विचारों में उग्रता, कथन में सचाई और कर्म में विशुद्धता थी। वे स्पष्ट-वादी थे तथा किसी प्रकार का भी आडम्बर उन्हें प्रिय नहीं था। इनकी वाणी जितनी सात्विक, सरल और प्रभावपूर्ण थी वैसा ही उनका जीवन भी था। उनकी जीविका का साधन करघे द्वारा कपड़ा बुन कर उसे उचित मूल्य पर बेचना था। वे कुटुम्ब समाता धन चाहते थे, उस से अधिक उन्हें कुछ नहीं चाहिये था। साधु संगति, गुरु-सेवा और ईश्वर आराधना उनके जीवन का लक्ष्य था।

आत्मा और परमात्मा के बीच में अन्तर डालने वाली माया की खबर कबीर ने अपनी वाणियों में खूब ली है। समस्त प्रकृति को माया मान कर उन्होंने उसे जीवों को भ्रम में डालने वाली कहा है। उनका कथन है कि जीव की उत्पत्ति माया से हुई है, जो अज्ञान के कारण अपनी जननी पर ही आसक्त हो गया है (माया के मोह में फँस गया है)। जब तक उसका यह अज्ञान दूर नहीं होगा तब तक वह ब्रह्म से नहीं मिल सकेगा। उनका कथन है कि माया के अज्ञान का यह पर्दा गुरु की कृपा के बिना दूर नहीं हो सकता। इसलिये गुरु की सेवा आवश्यक है। गुरु का पद उन्होंने गोविंद से भी बड़ा माना है। गोविन्द के सम्मुख खड़ा होने पर भी वे अपने गुरु पर ही बलिहारी हुये हैं:—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दिया बताय॥

सुर-नर और मुनि तक को उन्होंने माया के मोह में फँसा हुआ बताया है। कंचन और कामिनी ये दो माया के प्रतीक उन्होंने कहे हैं। यही कारण है कि कबीर हमें अनेक स्थानों पर नारी की निन्दा करते हुये दिखाई देते हैं, किन्तु नारी की निन्दा उन्होंने लोक-व्यवहार की दृष्टि से नहीं की। उन्होंने नारी के मातृत्व-रूप की प्रशंसा की है और पतिव्रता के रूप पर करोड़ों स्वरूपाओं को न्यौछावर किया है। नारी को जहाँ पर भी कबीर ने विकार बताया है वह या तो माया के रूप में, या योग के उन मार्गियों के लिये जो उस ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहते हैं। उन्होंने इस संसार को नश्वर कह कर यहाँ रहने के लम्बे-चौड़े मनसूबों का खण्डन किया है। उनके लिये यह देश बिगाना है और प्रियतम का देश अपना है। इसलिये उन की आत्मा उस प्रियतम के अपने लोक में जाने के लिये सदैव बेचैन रहती है।

कबीर पर सूफीमत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। यदि हम यह कहें कि कबीर ने प्रेम-भक्ति की भावना सूफीमत से ही ग्रहण की थी तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।। यह बात निस्संदेह कही जा सकती है कि कबीर की प्रेमभावनाएँ सूफियों से कहीं अधिक ऊँची और पवित्र हैं तथा उन्होंने सूफियों की तरह ब्रह्म को नारी न मान कर पुरुष माना है और आत्मा को उस के विरह में तड़-पने वाली प्रियतमा कहा है। किन्तु कबीर का मायावाद वेदान्त के आधार पर खड़ा हुआ है। वैसे सूफीमत वाले भी शैतान को

मानते थे, जो माया की तरह ही आत्मा और परमात्मा में अन्तर डालने वाला है। कबीरपंथ और सूफीमत में दूसरा बड़ा अन्तर ज्ञानवाद तथा प्रेमवाद का है। कबीर ने प्रेम-तत्व को ग्रहण करते हुये भी ज्ञान को महत्ता दी है, जबकि सूफीमत ने केवल प्रेमतत्व को ही अपनाया है।

कबीर की साखियों से पता चलता है कि उन्होंने ब्रह्मानन्द के उस अमृत को चखा था, जिस के लिये अनेक योगियों की आत्मा लालायित रही है उन्होंने ब्रह्म की अपूर्व झांकी भी देखी थी, किन्तु अपने वह आनन्द निरूपण वे शब्दों में नहीं कर सके। उन्होंने उसे गूँगे का गुड़ कह कर छोड़ दिया है वास्तव में ब्रह्म का वह स्वरूप और आनन्द है ही ऐसा कि जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता। कबीर अपने लाल की लाली देखते र स्वयं भी लाल हो गये थे। अपने प्रियतम के रंग में रंग कर उनका शरीर उज्ज्वल और मन निर्मल हो गया था। उनकी आत्मा हर घड़ी परमात्मा में ही लीन रहने लगी थी। इसी लिये उन्होंने लिखा है:—

> लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
> लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥

कबीर का व्यक्तित्व वर्तमान समय में गान्धी जी के जीवन में प्रकट हुआ था। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कबीर जिन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे वे धार्मिक थीं और गाँधी जी का समय राजनैतिक समस्याओं का युग रहा है। किन्तु जीवन का

दृष्टिकोण और धार्मिक भावनायें हमें कबीर और गाँधी जी में समान मिलती हैं। जिस तप, सत्य, अहिंसा और पवित्रता को कबीर ने मानव-जीवन की उच्चता कहा था उसी का समर्थन गान्धी जी भी करते रहे हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता, अछूतों की समस्या, ऊँच-नीच की भावना, जाति पाँति का प्रश्न और सामाजिक विषमताओं की गाँधी जी ने भी उसी प्रकार निंदा की है जैसे कि कबीर किया करते थे। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार का सात्विक जीवन, धार्मिक-सहिष्णुता, कर्म शीलता और मानवता से प्रेम था, वैसे ही गाँधी जी को भी इन से प्रेम था। जैसे कबीर ने अपने अहंभाव को मिटा कर नम्र होना सीखा था वैसे ही नम्रता गान्धी जी के जीवन में भी हमें मिलती है। इस के साथ ही जैसे कबीर ने कहीं एकान्त में समाधि न लगा कर इस संसार को ही अपनी साधना का क्षेत्र बनाया था, वैसे ही गान्धी जी की साधना का क्षेत्र भी यह संसार ही था। यह बात अवश्य है कि गाँधी जी को जितनी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई वह कबीर को नहीं हुई थी, क्योंकि कबीर का समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का युग नहीं था। उस समय न तो विज्ञान की उन्नति थी और नाही विश्व समाज एक दूसरे के सम्पर्क में आ सका था।

कबीर की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य-सम्बन्धी विशेषतायें भी हैं। यद्यपि इन्होंने कवि के नाते से कुछ नहीं लिखा था। ना ही उन्होंने किसी आश्रयदाता को प्रसन्न करने के

लिये भाषा का चमत्कार दिखाया था तथापि हमें उनकी वाणी में उच्च कोटि का कवित्व प्राप्त होता है।

इनकी कविता का मुख्य विषय शान्ति और ईश्वर आराधना था। अपने प्रभु के प्रेम में झूमते हुये मिलन अथवा विरह के जो उद्गार उनके हृदय से निकलते थे, उनमें मात्रा, यति अथवा छन्द-शास्त्र का ध्यान वे नहीं रखते थे। उनके हृदय में प्रभुप्रेम की तीव्र लगन थी तथा वे सत्य के एक ऐसे अन्वेषण में लगे हुये थे जहाँ कविता स्वयं भावमयी हो जाती है, उसमें से स्वतः रस की धारा फूट पड़ती है। किसी प्रकार का प्रयत्न उसके रचयिता को नहीं करना पड़ता। उसके हृदय में से कविता स्वयं भावों का वह स्वरूप लेकर निकलती है जो छन्दःशास्त्र की कसौटी पर छोटा बड़ा होने पर भी कविता के वास्तविक गुण 'भाव-तत्व' से पूर्ण होता है। इस दृष्टि से जब हम कबीर की काव्यसाधना पर विचार करते हैं, तो हमें पता चलता है कि उन्होंने अपनी वाणियों में जिस रस की मन्दाकिनी प्रवाहित की है, वह शान्त रस के स्वच्छ जल से परिपूर्ण है तथा स्थायी भाव निर्वेद उसमें मत्स्य की भाँति कलोलें मार रहा है। जहाँ पर कबीर ने विरहिणी आत्मा की प्रेम-विह्वलता का चित्र खींचा है या आध्यात्म-मिलन की अपूर्व झाँकी दिखाई है, वहाँ हमें उनकी वाणियों में शृङ्गार की पावन-सरिता भी बहती हुई मिलती है। इसके अतिरिक्त सांसारिक अनुभूति धर्म, नीति और आचार आदि पर भी उनकी जो उक्तियाँ हमें प्राप्त होती हैं, उनकी तुलना

हम किसी भी उच्च कोटि के कवि की कविताओं से करना चाहें तो कबीर की ये उक्तियाँ कविता की दृष्टि से निम्न-कोटि की नहीं रहेंगी। यह बात अवश्य है कि कबीर का मुख्य सिद्धान्त, समाज-सुधार, उपदेश और ज्ञान चर्चा होने के कारण तथा उन के अशिक्षित होने के कारण तुलसी और सूर की सी काव्यमयी वाणी के दर्शन नहीं होते। वैसे हमें उनमें भाषा का चमत्कार, अलंकार-प्रयोग और भाव व्यंजना पर्याप्त रूप में मिलती है। उनके निम्न पद कविता के सुन्दर नमुने हैं:—

माली आवत देखिकै, कलयाँ करें पुकार।
फूलि-फूलि-चुनि ले गया कालि हमारी बार॥

× × ×

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिहि रुचै, शीश देइ लै जाय॥

× × ×

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ पिउ कहै, मुख की सरधा नांहिं॥

× × ×

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय,
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय।

कबीर की भाषा बड़ी अटपटी है। उसमें प्रधानता खड़ी बोली की है वैसे पंजाबी, ब्रज, अवधी और अरबी आदि भाषाओं के शब्द भी उसमें काफी आ गये हैं। उनके गीतों की भाषा

प्रायः ब्रज और पूर्वी-हिन्दी है। भाषा के इस संमिश्रण के कारण ही इनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा जाता है। इनकी भाषा में कोमलता की कमी और कर्कशता की प्रधानता है।

कबीर की वाणी और साखियों को उनकी उलटबासियों ने अधिक जटिल बना दिया है। कितने ही प्रकार के रूपक बाँध कर अन्योक्तियों द्वारा ज्ञान की ऐसी चर्चा उन्होंने की है कि उनका ठीक २ अर्थ निकालना ही कठिन हो जाता है। लोक-व्यवहार की अनेक बातें इन्होंने बिलकुल उलटी कही हैं, इसलिए इनकी उलटबासियां अधिकतर आलोचकों को इनके दिमाग की सनक प्रतीत होती है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तव में कबीर का युग चमत्कार का युग था। नाथ-पंथियों के प्रभाव से उस समय का समाज उस गुरु को ही सिद्ध मानता था जो कोई करिश्मा (चमत्कार) दिखा सके। प्रारम्भ में कबीर ने सरल भाषा में अपने उपदेश दिये थे, किन्तु जब जनता पर उनका कोई प्रभाव न हुआ तो उन्होंने ऐसे चमत्कार-पूर्ण उपदेश देने आरम्भ कर दिये, जो लोक व्यवहार की दृष्टि से उलटे-सीधे होने के कारण उलटबासियों के नाम से प्रसिद्ध हुये। इनकी उलटबासियों के कुछ न कुछ अर्थ तो अवश्य निकलते हैं। और इसमें भी संदेह नहीं कि उनके बहुत से अर्थ अत्यन्त ज्ञानपूर्ण हैं, किन्तु अधिकतर उलटबासियाँ ऐसी हैं कि जिनका कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता। इसी दुरूहता के कारण प्रसिद्ध हो गया है:—

कबीर दास की उल्टी बानी,
बरसे कम्बल भीजे पानी ।

इनकी वाणिओं का संग्रह बीजक के नाम से हुआ है। बीजक के तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। इनकी साखी में साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश अधिक लिखे गये हैं। साखियों से अभिप्राय ज्ञानभरे उपदेशों से है। कबीर की लौकिक अनुभूति के भी साखी में अच्छे दर्शन होते हैं। रमैनी और सबद में इनके गीतों और पदों का संग्रह हुआ है, जिनका विषय आध्यात्मिक प्रेम या ज्ञान है।

कबीर के अतिरिक्त ज्ञानमार्गी शाखा में रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास और अक्षर अनन्य नाम के सन्त कवि और हुये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—

रैदास या रविदास—इनकी गणना स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों में की जाती है। ये जाति के चमार थे। इनका निवास स्थान काशी था। धन्ना और मीरा बाई ने इनका नाम बड़े आदर से लिया है। ये भी निराकार ब्रह्म के उपासक थे। इनकी भक्ति-पद्धति कबीर के ही ढङ्ग की कही जा सकती है। इनका कोई संग्रह ग्रंथ अभी तक तैयार नहीं हुआ। इनके लिखे हुये चालीस पद सिक्खों के आदि गुरु ग्रंथ साहब में माने जाते हैं। इनकी वाणी का मूल्य संत कवियों की दृष्टि से ही अधिक है। कोई साहित्यिक महत्ता इन्हें नहीं दी जा सकती।

धर्मदास—ये जाति के बनिये थे। कबीर से इनकी भेंट मथुरा से लौटते समय हुई थी। इन्हें बचपन से ही ईश्वर-प्रेम की लगन थी। आरम्भ से ही इनका समय सत्संगति, पूजा और तीर्थ-व्रत आदि में अधिक व्यतीत हुआ करता था। कबीर का उपदेश सुनकर इनके मन में निर्गुण के भाव जागे थे। कबीर से सत्य नाम की दीक्षा लेकर ये उनके प्रधान शिष्य बने तथा उनका परलोकवास हो जाने पर उनकी गद्दी भी इनको ही मिली। इन्होंने अपनी अपार सम्पत्ति को कबीर से दीक्षा लेते ही लुटा दिया था। कबीर की गद्दी पर ये बीस वर्ष तक विराजमान रहे। इनकी वाणियाँ भी सन्तों में बड़े आदर की वस्तु मानी गई हैं। इनकी भाषा सरल, भाव कोमल और वाणी सुव्यंजना पूर्ण है। कठोरता या कर्कशता इनकी वाणी में नहीं आने पाई। इन्होंने खण्डन-मण्डन की अपेक्षा प्रेमतत्त्व को अधिक ग्रहण किया है।

गुरु नानक—इनका जन्म सं० १५२६ में तिलवंडी नाम के ग्राम में हुआ था। इन की माता का नाम तृप्ता और पिता का नाम कालूचन्द था। बचपन से ही ये साधु स्वभाव के व्यक्ति थे। इनका विवाह सुलक्षणी नाम की स्त्री से हुआ था। श्री चन्द और लक्ष्मीचन्द नाम के दो पुत्र भी इनके हुये थे।

आरम्भ से ही इनका मन लोक व्यवहार की बातों में नहीं लगता था। इनके पिता ने इन्हें कितनी ही बार व्यवसाय कराया, किन्तु ये सदैव अपना धन गरीबों और साधुओं को बाँट दिया

करते थे। इनके समय में मुसलमानों का प्रभाव पड़ने के कारण हिन्दू देवी-देवताओं को न पूज कर ईश्वर पूजा को महत्ता देने लगे थे। वेद और शास्त्रों का अध्ययन उस समय के हिन्दुओं ने करना छोड़ दिया था, तथा कबीर-पंथ ही उस समय के साधारण पढ़े-लिखे लोगों का सहारा रह गया था। गुरु नानक ने भी उसकी शरण ली और कबीर की निर्गुण-भक्ति का प्रचार पंजाब में करना आरम्भ किया। इनका उद्देश्य भी धार्मिक एकता और समाज सुधार था। आगे चल कर ये सिक्ख सम्प्रदाय के आदि गुरु कहलाये। इनके गाये हुये भजनों का संग्रह गुरु ग्रंथ साहब में हुआ है। इनके कुछ भजन तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ उस समय की बोल-चाल की हिन्दी या काव्य-भाषा ब्रज-भाषा में लिखे गये हैं। इनके भाव भक्ति भावना से पूर्ण है। टेढ़े मेढ़े रूपक बाँधने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया। संसार जीव, माया सन्त स्वभाव और ब्रह्म आदि के विषय में इनके विचार कबीर जैसे ही हैं।

दादूदयाल—इनका जन्म सं० १६०१ माना जाता है। ये अहमदाबाद के रहने वाले थे। कुछ लोग इन्हें जाति से ब्राह्मण मानते हैं, कुछ मोची या धुनियां कहते हैं। इनके लिये प्रसिद्ध है कि ये साबरमती नदी में बहते हुये लोदीराम ब्राह्मण को मिले थे। इनके गुरु के विषय में कुछ पता नहीं। वैसे इन पर कबीर पंथ का पूर्ण प्रभाव मालूम होता है। इसी मत के अनुयायी भी थे।

कबीर पंथ का अनुयायी होते हुये भी इन्होंने दादू-पंथ के नाम से अपना एक अलग पंथ चलाया था। इस पथ का सिद्धान्त भी निरंजन या निरंकार की उपासना था। इस मत के मानने वाले न तो तिलक लगाते थे और न कंठी पहनते थे। इन्होंने भी कबीर की तरह दोहों में ज्ञान की चर्चा की है। इनका उद्देश्य भी कबीर की तरह ही जाति-पाँति, ऊँच-नीच और धार्मिक अन्ध विश्वासों को दूर करना था। जो विशेषतायें कबीर की वाणी की हैं वे ही हम इनकी वाणी में भी पाते हैं। इनके दोहों में प्रेमतत्व का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। सरसता, गम्भीरता और सरलता इनकी वाणी की विशेषता है। ईश्वर की व्यापकता, गुरु की महत्ता, संसार की क्षणभंगुरता, आत्म-निरूपण और हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि विषयों पर इन्होंने भी अत्यन्त सुन्दर लिखा है। किसी वाद-विवाद या खण्डन-मण्डन में न पड़ कर इन्होंने जो कुछ कहा है वह सीधी-सादी भाषा में कहा है। इनकी भाषा पश्चिमी हिन्दी है। राजस्थानी के शब्दों का मेल भी उसमें हुआ है। पूर्वी-हिन्दी का प्रयोग इनकी वाणी में नहीं मिलता।

सुन्दरदास—ये जाति के बनिये थे, इनका जन्म संवत् १६५३ में 'द्योसा' नाम के स्थान में हुआ था। छः वर्ष की आयु में ही ये दादूदयाल के शिष्य बन गये थे। इन्होंने काशी में रह कर ३० वर्ष की अवस्था तक संस्कृत, व्याकरण, वेदान्त और पुराण आदि का अध्ययन किया था। इन्हें फारसी का भी अच्छा ज्ञान था।

फतहपुर के नवाब इनका बड़ा सम्मान करते थे। ये बड़े प्रभावशाली और सुन्दर व्यक्ति थे। इनका स्वभाव बड़ा कोमल था। स्त्री-चर्चा से ये सदा दूर रहते थे और बाल ब्रह्मचारी थे। कबीर पंथियों में सुन्दरदास ही एक ऐसे व्यक्ति हुये हैं, जिन्होंने उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त की थी और काव्य-कला का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। इनकी रचनाओं में हमें पूर्ण साहित्यिकता मिलती है। इनकी भाषा भी मंजी हुई काव्य के उपयुक्त ब्रजभाषा है। इन्होंने दोहे, कवित्त, और सवैये आदि छंदों तथा गीतों और पदों में उच्चकोटि के कवियों की सी कविता की है। इनकी रचनायें काव्यशास्त्र की कसौटी पर पूर्ण उतरती हैं। अलंकारमयी भाषा में भक्ति, ज्ञान, नीति, लोक-व्यवहार और जो अनुभूतियां इन्होंने व्यक्त की हैं, उनके आधार पर हम इन्हें एक सिद्धहस्त कवि कह सकते हैं। यही कारण है कि इनकी और अन्य कवियों की वाणी में बड़ा अंतर है। 'सुन्दर विलास' नाम का इनका एक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। वैसे इन्होंने कई छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी हैं। कवि होने के नाते से इन्होंने समाज की रीति, नीति और व्यवहार का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। आध्यात्म के साथ २ लोक-धर्म का ध्यान भी इन्होंने रखा है। इनकी वाणी शास्त्र के अनुकूल परिमार्जित और ज्ञानमयी है। गुजरात, मारवाड़, दक्षिण और पूरब आदि देशों के आचार-विचार पर इन्होंने बड़ी ही विनोदपूर्ण उक्तियां लिखी हैं।

मलूकदास—इनका जन्म सं० १६३१ में कड़ा नाम के स्थान में हुआ था। ये १०८ वर्ष की आयु भोगकर स्वर्ग-वासी हुये थे। औरंगजेब के शासन काल में इन्हें उस समय का प्रसिद्ध सन्त माना जाता था। इनकी गद्दियां जयपुर गुजरात, मुलतान, पटना नैपाल और काबुल तक स्थापित हुई थी। इनके कितने ही चमत्कार प्रसिद्ध हैं—एक बार इन्होंने रुपयों का एक तोड़ा गंगाजी में तैरा कर कड़ा से इलाहाबाद पहुँचाया था। इनके निम्न-लिखित दोहे से कुछ आलोचक इन्हें आलसी सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहने लगे हैं, किन्तु जब हम विचार पूर्वक इनके इस दोहे को पढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इन्होंने 'अजगर करै न चाकरी' वाला दोहा इस उद्देश्य को लेकर नहीं लिखा कि लोग कर्म न करें और हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहें। वास्तव में इस दोहे में उन्होंने उन व्यक्तियों पर चोट की है, जो ईश्वर को दाता न मानकर धन के मोह से रात-दिन पच २ कर मरते हैं:—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम॥

रत्नखान और ज्ञान-बोध नाम की दो पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं। इनकी वाणी का संदेश भी वही है, जो कबीर की वाणी का। ईश्वर की व्यापकता वैराग्य, आत्मज्ञान, प्रेम और हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि विषयों पर इन्होंने भी बड़ा सुन्दर लिखा है। इनकी भाषा उस समय की बोल-चाल की खड़ी बोली है,

जिस में अरबी, फारसी और ब्रजभाषा के शब्दों का मिश्रण भी हुआ है। कहीं २ पर इनकी वाणियों में उच्च कोटि का कवित्व भी मिलता है। गीतों के अतिरिक्त कवित्त भी इन्होंने अच्छे लिखे हैं।

अक्षर अनन्य—इनकी जाति कायस्थ थी और ये सेनुहरा स्थान के रहने वाले थे। दतिया के महाराज पृथ्वीचन्द के दीवान भी ये कुछ दिन रहे थे। प्रसिद्ध वीर महाराज छत्रसाल इनके शिष्य थे। कहते हैं एक बार छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर ये जंगल में जा छुपे थे। जब महाराज इन्हें ढूँढते हुये वहाँ पहुँचे तो उन्होंने इन्हें एक झाड़ी के पास पैर फैला कर लेटे हुये देखा। तब महाराज ने पूछा—पाँव पसारा कब से? तो इन्होंने तुरन्त उत्तर दिय—हाथ समेटा जब से।

अपने समय में ये प्रकाण्ड पंडित और वेदान्त के पूर्ण ज्ञाता माने जाते थ। कबीर-पंथ का अनुयायी होने के कारण यद्यपि इनका विषय भी निराकार की उपासना और धार्मिक अन्ध-विश्वासों को दूर करना रहा है किन्तु योग और वेदान्त पर इनके लिखे हुये—राजयोग, विज्ञान योग, ध्यानयोग, सिद्धान्त बोध, अनन्यप्रकाश और ब्रह्म-ज्ञान आदि के जो ग्रंथ प्राप्त हुये हैं उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि ये अन्य कबीर-पंथियों की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और वेदान्त के महान् पंडित थे।

सन्तों की वाणी—ज्ञान मार्गी शाखा में जितने भी सन्त कवि हुए हैं, उनमें से प्रायः अशिक्षित थे। इस लिये उनकी वाणी

द्वारा साकार निराकार में से किसी का भी सुन्दर निरूपण नहीं हो सका। यह बात इन सन्तों के विषय में सभी आलोचकों ने कही है, किन्तु स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर ने हिन्दी के इन मर्मी-कवियों की वाणी का बहुत ही सुन्दर रहस्य प्रस्तुत किया है। उन्होंने हिन्दी के मर्मी कवि नाम के अपने लेख में लिखा है:—

दक्षिण समीर के आन्दोलन से जब बन-बन में प्राणों का गुप्त वाणी जागो जागो कर उठी थी—ऐसे समय, एका एक, उनके अन्तर के मध्य इस सौन्दर्य-लक्ष्मी का स्पर्श हुआ। मुहूर्त भर में उनका संशय नष्ट हो गया। शास्त्रों के बीच जिन्हें नहीं खोज पाया वही चित्त में पकड़ लिये गये, जगत के समस्त द्वन्द्व के भी भीतर 'एक' का प्रकाश हुआ। तब कवि ने देखा यहीं पर जगत की मुक्ति है—इसी महा सुन्दर के बीच गाने के रूप में कवि का आत्म निवेदन, उसी समय उच्छ्वसित हो उठा।

गान का सोता, हमारे सन्त कवियों के अन्तर में से इसी तरह फूट पड़ा है। उन्होंने राम को आनन्द स्वरूप परम 'एक' को, आत्मा के मध्य पाया था। वे सब ही प्रायः अन्त्यज समाज की नीचे की तली के थे, पण्डितों के दकियानूसी बंधे हुए विचारों के शास्त्र, धार्मिकों के बंधे हुए आचारों के नियम, उनके लिए सुगम नहीं थे। बाहरी पूजा के मंदिर उनके लिए बन्द थे, इसी लिए अन्तर के मिलन-मंदिर की चाबी उन्होंने खोल ली थी। उन्होंने ऐसे कितने ही शास्त्रीय शब्दों का अन्दाज से व्यवहार किया, जिन का शास्त्रों के साथ मेल नहीं खाता। उनका यह

प्रत्यक्ष उपलब्धि का 'राम' किसी पुराण में नहीं है। तुलसीदास सरीखे भक्त कवि भी इन लोगों की इस बन्धन-विहीन साधना से बहुत ही नाराज थे। जिन्होंने समाज के बाहरी घेरे से इन्हें देखा, वे इन्हें बिल्कुल ही न पहिचान सके।

इन्हीं सन्तों के विषय में आगे लिखते हैं—भारत के मर्मी कवियों ने शास्त्र-निर्मित पत्थर के बेड़े से भक्तजनों के मनको मुक्ति दी थी। प्रेम के अश्रु जल द्वारा देव-मन्दिर के आंगन में से रक्तपात की कलङ्क रेखा को पोंछ डालना उन्हीं का काम था। आनन्द के आलोक में जिनका आविर्भाव मनुष्य का सब भेद-भाव भीतर से मिटा देता है, उसी राम के वे दूत थे। भारत के इतिहास की निशीथ रात्रि में भेद-भाव का पिशाच जब विकट नृत्य कर रहा था तब उन्होंने ही उस पिशाच को स्वीकार नहीं किया। वे यह भी निश्चय से जानते थे कि जिनके आनन्दसे वे अपने आप को अहमिका के बन्धन से छुड़ा पाये हैं, उन्हीं के आनन्द से मनुष्य की भेद-बुद्धि दूर हो सकेगी—बाहर के किसी (राजनैतिक या सामाजिक) के समझौते से नहीं······ उनका वह एक तारे का तार ऐक्य का ही तार है। भेद बुद्धि के पण्डे, शास्त्रज्ञों और मौलवियों ने उनके ऊपर दण्ड उठाया है। किन्तु इतने दिन जो सामाजिक अवज्ञा से मरे नहीं वे सामाजिक शासक के समीप हार मान लेंगे, इस बात पर विश्वास नहीं होता·········मर्मी कवियों की वाणी का स्रोत इस मरुभूमि के घेरे में समाज के अगोचर स्तर में बह रहा है।

उद्धार कर के उसे अब साहित्य के ऊपरी धरातल में लाना होगा।.........मनुष्य के चित्त की रक्षा करने के लिये बैकुण्ठ के अमृत-रस प्रस्रवण पर ही हमारे मर्मी कवियों ने दृढ़ आस्था रखी थी—किसी बाहरी आचार के समझौते से नहीं। वे लोग जिस रसधारा को बैकुण्ठ से खींच लाये थे, हमारे देश की सामाजिक बालू के तल में वह छिपी हुई पड़ी है—नष्ट नहीं हो गई है। केवल हिन्दी से ही नहीं मैं आशा करता हूं कि बंगाल की गुहा से भी वे (क्षिति-मोहन) सन्तों की उस सुवर्ण-रेखा की वाणी धारा को प्रकाशित करेंगे, जिस में सोने के कण छिपे हुये हैं।

ऊपर के उद्धरण से कबीर-पंथ में होने वाले संतों की वाणी, उद्देश्य और साधना का पूर्ण प्रकाशन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि नैतिकता का निर्माण, मानवता की प्रतिष्ठा और अहिंसा की भावना का प्रतिपादन इन सन्तों की वाणी में बहुत ही सुन्दर हुआ है। एक तारे के तार के साथ इन सन्तों ने जो राग अलापे थे, उनमें वास्तव में जीवनामृत भरा हुआ है। भले ही हमें उनमें कविता का वह मादक रस न मिलता हो, जो कविता के प्रेमियों को प्रिय है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मानव-मात्र का हित करने की जितनी शक्ति इन संतों की वाणियों में निहित है वह हमें सूर और तुलसी को छोड़ कर किसी अन्य कवि में नहीं मिलती।

वाणी में पावनता और जीवन में सात्विकता होने पर भी निम्न जाति के होने के कारण इन संतों का सम्मान उस समय

के उच्च समाज ने नहीं किया। वह उस अङ्ग का वही चिरपरित रूढिग्रस्त स्वरूप ढूँढने में लगा रहा। संतों की अटपटी वाणी पर उसे आस्था न हुई, किंतु समाज का निम्नवर्ग उन्हीं की वाणी से उस सत्य तक पहुँच पाया। जो उनके लिये चिरकाल से रहस्य बना हुआ था। समाज के अन्त्यज लोगों को इनकी वाणी ने ही धैर्य दिया। इतना ही नहीं अपितु उत्तरी ध्रुव और दक्षिणीध्रुव की तरह प्रथक रहने वाला मुस्लिम समाज भी इनकी वाणी से प्रभावित हुआ। उसमें भी हृदय की एकता को पहचानने वाले सन्त पैदा हुए, जिन्होंने सूफीमत के सिद्धान्तों पर प्रेमतत्व का निरूपण किया और प्रेम-रस की वह दिव्यधारा प्रवाहित की जो मानवमात्र के हृदय को तरङ्गित करने वाली है।

प्रेम-मार्गी कवि

इस शाखा में सूफीमत को मानने वाले मुसलमान कवि ही अधिक प्रसिद्ध हैं। सामान्य परिचय में इस शाखा का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ हम इस शाखा के प्रमुख कवियों पर विचार करेंगे।

मालिक मुहम्मद जायसी--(जन्म सं० १५५०—मृत्यु स० १६००) ये जायस नगर के निवासी थे। इनके गुरु का नाम शेख मोहदी था। अपने समय में ये एक प्रसिद्ध सूफी फकीर माने जाते थे। महाराज अमेठी के राज घराने में इनका बड़ा सम्मान था। ये एक आँख से काने और कुरूप थे। एक बार शेरशाह ने इनकी हँसी उड़ाई थी, जिसका उत्तर इन्होंने बड़ी नम्रता से दिया था—कि मुझे हँसते हो या मुझे बनाने वाले कुम्हार (ईश्वर) को, तब शेरशाह ने लज्जित होकर इनसे क्षमा माँगी थी। इनकी मृत्यु के विषय में प्रसिद्ध है कि इन्होंने मरने से पूर्व ही अमेठी के महाराज रामसिंह से कह दिया था कि 'मेरी मृत्यु शिकारी के हाथ से होगी।' इस पर महाराज ने जंगल में शिकार खेलना ही बन्द करवा दिया था, किन्तु एक दिन एक शिकारी को जंगल में ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कि शेर उस पर

आक्रमण कर रहा है। उसने आत्म रक्षा के लिये वार किया, किन्तु जब वह उसके पास पहुँचा तो उसने देखा कि जायसी मरे हुये पड़े हैं, इनकी कब्र अमेठी के किले से पौने दो मील की दूरी पर अब भी बनी हुई है।

जायसी स्वभावतः प्रेमोपासक थे। इनका सारा जीवन प्रेम की साधना करते हुये ही व्यतीत हुआ। इन्होंने तीन ग्रंथ लिखे हैं—१-पद्मावत २-आखरी कलाम और ३-अखरावट। आखरी कलाम में कयामत (प्रलय) का वर्णन हुआ है तथा सृष्टि और जीव की दशा पर विचार किया गया है। अखरावट में हिन्दी-वर्ण माला के प्रत्येक अक्षर को लेकर ब्रह्म सम्बन्धी बातें कही गई हैं, जैसे 'ठ' अक्षर पर इन्होंने लिखा:—

ठा ठाकुर बड़ आप गुसाईं,
जिन सिरजा जग अपनईं नाईं।

इनकी अमर रचना पद्मावत है। इसमें इन्होंने चित्तौड़ के महाराज रत्नसेन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम कथा को लेकर अलौकिक प्रेम का चित्रण किया है। इनका यह ग्रंथ अवधी-भाषा और अरबी-लिपि में लिखा गया है। आरम्भ में इस ग्रंथ को मुसलमान अपनी ही वस्तु समझते थे तथा इसका सम्मान कुरान की तरह ही करते थे। हिन्दुओं को इसका बहुत कम ज्ञान था। वे नहीं जानते थे कि उनके हिन्दी साहित्य का एक अमूल्य रत्न अरबीभाषा के आवरण में छुप

पड़ा है, किन्तु स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य की इस अमर-निधि को उसकी ही लिपि से लिखकर सदा के लिये हिन्दी संसार की वस्तु बना दिया।

कथा की दृष्टि से जब हम इनके इस ग्रंथ पर विचार करते हैं तो हमें इसका पूर्वार्ध कल्पित और उत्तरार्ध ऐतिहासिक मिलता है। इसके पूर्वार्ध भाग के विषय में प्रसिद्ध इतिहास लेखक पं० भगवद्दत्त जी ने अपने एक लेख में लिखा है कि यह कथा जायसी की अपनी कल्पित नहीं है बल्कि 'कल्की पुराण' से ली गई है। इसकी कथा इस प्रकार है:—

चित्तौड़ के कुछ व्यापारी व्यापार के लिये सिंहल द्वीप जाते हैं उन्हीं के साथ एक ब्राह्मण भी व्यापार के लिये जाता है जिसके पास पूँजी बहुत थोड़ी थी, जब उसे वहाँ कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिलती कि जिसे वह खरीद सके तो बड़ा निराश होता है। उसी समय एक चिड़ीमार हीरामनि नाम का तोता बेचने के लिये आता है, जिसे वह ब्राह्मण खरीद कर चित्तौड़ ले आता है।

हीरामनि पद्मावती का पालतू तोता था, जो बड़ा पंडित और ज्ञानी था तथा पद्मावती के लिये वर की खोज में उड़कर आया था। इस पंडित तोते का पता जब रत्नसेन को लगा तो उन्होंने उस ब्राह्मण से इसे खरीद लिया। हीरामनि ने एक दिन रत्नसेन की पत्नी नागमती को पद्मावती की सुन्दरता की कथा सुनाई, जिसे सुनकर रानी को डर हुआ कि यदि इसने पद्मावती

का ज़िक्र महाराज से कर दिया तो वे उसे छोड़ देंगे। इसलिये उसने तोते को मारने की आज्ञा दासी को दी। किन्तु दासी बड़ी समझदार थी वह जानती थी कि महाराज रत्नसेन इस तोते को कितना चाहते हैं? इसलिये उसने तोते को अपने घर में छिपा लिया। जब महाराज शिकार से लौट कर आये तो वे हीरामनि को न पाकर बड़े व्याकुल और क्रोधित हुये। तब दासी ने अपने घर से हीरामनि को लाकर दिया। हीरामनि के मुख से पद्मावती की सुन्दरता का वर्णन सुनकर महाराज मूर्छित हो गये तथा बाद में जोगी बनकर पद्मावती को प्राप्त करने के लिये घर से निकल पड़े। उनके साथ में मार्ग दिखाने वाला यह तोता था तथा रक्षा के लिये सोलह हजार सैनिक जोगियों के वेश में थे।

जोगियों का यह दल कलिंग से बहुत से जहाजों में बैठकर सिंहल द्वीप की ओर चला और नाना कष्ट झेलता हुआ सिंहल द्वीप में पहुँचा। वहाँ पहुँचजाने पर रत्नसेन तो एक शिव-मन्दिर में ठहर गये और हीरामनि ने पद्मावती को रत्नसेन के आने का सारा वृत्तान्त जा सुनाया। रत्नसेन की प्रेम की सत्यता को जान कर पद्मावती अत्यन्त प्रभावित हुई। वह श्री पंचमी के दिन शिव को पूजने के लिये उस मन्दिर में आई। किंतु रत्नसेन उस के रूप को देख कर मूर्छित हो गये। पद्मावती ने उन्हें होश में लाने काफी प्रयत्न किया और जब होश न आया तो वह यह लिख कर चली गई—"जोगी! जब शिक्षा मिलने का समय आया तो तू पड़ कर सो गया।" मूर्छा दूर होने पर रत्नसेन को

बड़ा दुःख हुआ। निराश हो कर उन्होंने जलने के लिये चिता तैयार कर ली, तब पार्वती ने एक सुन्दर अप्सरा का रूप बना कर उनसे कहा कि मुझे इन्द्र ने भेजा है तुम मुझ से विवाह करलो, किन्तु रत्नसेन उसके लिये तैयार नहीं हुये। पार्वती को अब यह निश्चय हो गया कि रत्नसेन का प्रेम सत्य है, तो उन्होंने शिव से आग्रह किया कि वे पद्मावती को प्राप्त करने में रत्नसेन को सहायता दें। तब शिव ने प्रकट होकर सिंहलगढ़ में प्रवेश करने की विधि उनको बताई। शिवजी ने कहा था कि यदि तुम्हें किले पर चढ़ते २ सवेरा हो गया तो तुम पकड़े जाओगे। इस लिये रात में ही गढ़ में घुस जाना। किन्तु प्रयत्न करने पर भी रत्नसेन रात २ में किले में प्रविष्ट न हो सका। वहाँ के राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से उन्हें बन्दी बना लिया गया। इधर १६ हजार जोगियों ने गढ़ को चारों से घेर लिया। हनुमान् और महादेव आदि सारे देवता इन जोगियों के साथ मिलकर गंधर्वसेन की सेना से युद्ध कर रहे थे, युद्ध-क्षेत्र में गंधर्वसेन ने जब शिवजी को पहचान लिया तो वह उनके चरणों पर गिर पड़ा। उसने कहा—पद्मावती आप की है जिसे चाहें देदें। इस प्रकार रत्नसेन का विवाह पद्मावती से हो गया। कुछ समय तक वे सिंहल द्वीप में ही रहते रहे तथा अपनी पहली रानी नागमती को बिल्कुल भूल गये। एक दिन एक पक्षी ने नागमती की याद उन्हें दिलाई तब वे पद्मावती को साथ लेकर चित्तौड़ गढ़ वापस आ गये।

मार्ग में उनका जहाज समुद्र में डूब गया वहाँ सागर की लड़की की भेंट पद्मावती से हुई। उसके पास जब रत्नसेन पहुँचे तो उसने पद्मावती का रूप बना कर उसके प्रेम की परीक्षा ली। तब रत्नसेन ने कहा तुम फूल तो वही हो, किन्तु तुम्हारी सुगन्ध वैसी नहीं है। इस पर समुद्र-पुत्री ने पद्मावती की भेंट रत्नसेन से कराई। बाद में समुद्र ने बहुत से रत्न देकर उन्हें विदा किया।

चित्तौड़ में आकर रत्नसेन पद्मावती और नागमती दोनों रानियों के साथ सुखपूर्वक रहने लगे। एक दिन उन्होंने राघवचेतन नाम के एक ब्राह्मण को किसी अपराध पर देश निकाला दे दिया, जो बदला लेने की भावना से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के पास पहुँचा तथा पद्मावती की सुन्दरता का वर्णन उनसे किया। अलाउद्दीन ने रत्नसेन को एक पत्र लिखा, जिसमें पद्मावती को शाही महलों में भेजने को लिखा था। पत्र को पढ़ कर रत्नसेन बड़ा क्रोधित हुआ और युद्ध की तैयारी करने लगा। अलाउद्दीन कई वर्ष तक चित्तौड़गढ़ को घेरे रहा पर विजयी न हो सका। अन्तमें उसने रत्नसेन से छलपूर्वक संधि करली और एक दिन अवसर पाकर महाराज को बन्दी करवा कर दिल्ली मँगवा लिया।

अलाउद्दीन की इस धोखेबाजी का पता जब पद्मावती को लगा तो वह बहुत घबड़ाई, किन्तु अन्त में उसने महाराज को छुड़वाने की एक सुन्दर युक्ति सोच निकाली। सात सौ शस्त्रधारी

निष्क्रिय बना देती है। वियोग की स्थिति में प्रेमी और प्रेमिका को अपनी २ सहनशीलता, संवेदना, त्याग और आत्मसमर्पण के प्रदर्शित करने का जो अवसर मिलता है, वह मिलन में सहसा संकीर्ण हो जाता है। विरह की वह उत्सुकता और पीड़ा, जो पल २ में प्रेयसी या प्रीतम का नाम रटाती है, मिलन में मानो रह ही नहीं जाती। मिलन प्रेम का वह चरम-बिन्दु है जहां प्रेयसी और प्रियतम का तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक है। जब मिलन हो गया हो तो फिर संवेदना कैसी? प्रेम की वास्तविक पीड़ा की अनुभूति तो विरह में ही होती है। फिर जिस दिव्यप्रेम की व्यंजना जायसी ने की है वह तो विरह-वर्णन में ही संभव है।

इनके प्रेम-वर्णन की यह विशेषता है कि वह सूफीमत के ढंग का होने पर भी भारतीय आदर्श से पूर्ण है। रत्नसेन, पद्मावती और नागमती के प्रेम का चित्रण करते समय जायसी ने भारतीयता का पूर्ण ध्यान रखा है। वे इस बात को किसी स्थल पर भी नहीं भूलते कि उनके पात्र हिन्दू हैं। इसलिये उन्होंने भारतीय रमणी के आदर्शों का ध्यान रखते हुये ही पद्मावती तथा नागमती के प्रेम का निरूपण किया है। भारतीय रमणी के प्रेम की गम्भीरता और संयतता का उन्होंने पूरा ध्यान रक्खा है। नागमती के चरित्र में पूर्ण भारतीयता है और पद्मावती का चरित्र सूफी ढङ्ग की प्रेम-पद्धति का केन्द्र-बिन्दु बना हुआ है, जो अज्ञात प्रेयसी (ब्रह्म)

का प्रतीक है । उसी के लिये साधक रत्नसेन घर बार छोड़ कर निकल पड़ता है।

रत्नसेन के विरह में तड़फती हुई नागमती ने भ्रमर और काग के द्वारा उन्हें जो सन्देश भेजे हैं तथा विरह वेदना से विह्वल हो कर जिस प्रकार वह बन २ में डोलती फिरती है; उसमें प्रेम की व्यापकता, तल्लीनता और उत्पीड़न की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । नागमती के मुख से कहे हुये इन शब्दों में कितनी वेदना और मार्मिकता है--

हाड़ भये सब किंगरी, नसे भईं सब ताँति ।
रोंव रोंव से धुनि उठैं, कहौं बिथा केहि भाँति ॥

जो प्रेयसी अपने प्रियतम के वियोग में तड़फती हुई इस दशा को प्राप्त हो गई हो कि उसके रोम २ से प्रियतम के नाम की ध्वनि उठने लगी हो और व्यथा से विह्वल हृदय अपनी बात कहने में असमर्थ हो गया हो, उसकी व्यथा को उसका प्रेमास्पद अनुभव न करे, यह कभी संभव नहीं । ऐसी वियो-गिनियों के संदेशवाहक बादल, सरितायें, चाँद, सितारे और पक्षी निश्चय ही उनका संदेश प्रियतम को देते हैं । उन्हीं को सम्बोधित कर ऐसी विरहनियाँ अपने मन के बोझ को हलका किया करती हैं । नागमती भी भौंरे और काग से अपना संदेश प्रियतम को देने को कहती है, जिसे कवि ने इस प्रकार लिखा है—

पिउ सों कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि कै धुवां हम्ह-लाग ॥

इतना ही क्यों? कवि इनसे भी कहीं अधिक मार्मिक शब्दों में नागमती के बहाने प्रेम की व्यापकता और साधक की आध्यात्मिक विह्वलता को व्यक्त करता है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥

जायसी की इस विरहोक्ति में प्रेम की जो व्यंजना है, वह लौकिक धरातल से बहुत ऊँची उठी हुई है, वैसे इस में संदेह नहीं कि जायसी का प्रेम-वर्णन मानवहृदय की सामान्य-भाव-भूमि पर ही आधारित है। उनके विरह के प्रेमोद्गार पद्मावत के बारहमासे में प्रकृति की परिवर्तित दशा के साथ२ बड़े ही सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुये हैं। इनके विरह में वेदना, सरलता, कोमलता और गंभीरता की जो छटा है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

संयोग वर्णन भी इस कोटि का है जो पद्मावती से संबन्धित है। मिलने के पश्चात् पद्मावती को समस्त प्रकृति में जिस प्रकार का आकर्षण और माधुर्य दृष्टि-गोचर होता है, वह सिद्ध करता है कि मनुष्य के जीवन में प्रकृति का भी बड़ा भारी योग है। दादुर, कोयल, मोर, पपीहे की जो पुकारें विरह स्थिति में प्रेमियों को बेचैन करती हैं, उन्हीं की ध्वनि संयोग में एक अनुपम रस-धारा का संचार करती है। इस तथ्य का निरूपण कवि ने प्रकृति को आलंबन और उद्दीपन दोनों रूपों में अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बना

कर किया है। निम्न पंक्तियों में पाठक इसका अनुभव करें—

पद्मावती चाहति ऋतु पाई, गगनसुहावन भूमि सोहाई ॥
चमक बीजु बरसै जल सोना, दादुर मोर सबद सुठिलोना ॥
सीतल बूंद ऊंच चौबारा, हरियर सब देखई संसारा ॥

जायसी का प्रेम-वर्णन एक ऐसी सुरा है कि जिसे पीकर प्रेमी मरने-जीने के भय से मुक्त हो जाता है, उनके इस प्रेम का नशा जिसे भी चढ़ गया है, उसी ने संसार की चिन्ता नहीं की, वह सदा अपने प्रेमास्पद के ध्यान में ही डूबा रहा। प्रेम की इसी सुरा को पान करके पद्मावती और रत्नसेन दोनों एक-दूसरे के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं। उनके प्रेम की इस अनुभूति में रस की जो धारा प्रवाहित हुई है वह भक्ति-भावना से पूर्ण है, जिसके कारण भौतिक और अभौतिक दोनों ही प्रकार की प्रेमानुभूतियाँ हम जायसी के पद्मावत में पाते हैं। उनका यह ग्रंथ दिव्य-अनुभूतियों के जिस धरातल पर खड़ा है, वह जायसी को एकदम आध्यात्मिक प्रेम का चितेरा सिद्ध कर देता है, किन्तु इसका अभिप्राय: यह नहीं है कि उन्होंने सभी स्थलों पर इसी प्रकार के चित्र उतारे हैं कि जो मानव-जीवन की ऐहिकता के कम सूचक हैं। वास्तव में जायसी ने अपने हृदय में अनुभव की एक विराट् भावना को लेकर इस ग्रंथ का चित्रण किया है, जिसके फलस्वरूप उनकी लौकिकता भावनाओं की श्रेष्ठता और अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता के कारण अलौकिकता का रूप ले लेती है। जब

कवि पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करता है तो पाठक का ध्यान उसे पढ़ते २ सहसा उस विराट् की अनुपम छटा की ओर भी खिंच जाता है, जिसके सौन्दर्य से यह सारा विश्व जगमगा रहा है। इसी प्रकार कवि पद्मावती के नैहर की क्रीड़ाओं के बहाने से इस संसार की अस्थिरता का चित्रण कर जाता है। पिता के घर का सा आनन्द ससुराल में दुर्लभ है, ससुराल में तो कष्ट ही कष्ट है। कवि के इस प्रसंग में माया-मोह में फंसे हुये जीव को परमात्मा के पास पहुंचने की कल्पना का सुन्दर आभास मिलता है। इस प्रकार के कितने ही स्थानों पर कवि ने ऐसी रहस्यात्मक उक्तियाँ कही हैं कि जिनसे हमें जीव, संसार और प्रभु की वास्तविकता का ज्ञान होता है।

जायसी की रहस्यात्मक उक्तियों की यह विशेषता है कि वे एकान्ततः साध्य नहीं बन गई हैं, बल्कि उन्होंने कथा के बीच बीच में कहीं कहीं पर उस परोक्ष सत्ता का संकेत किया है, जिसके मधुर संकेत से यह समस्त विश्व चल रहा है। उनके रहस्यात्मक भावों की यह विशेषता है कि वे केवल अन्तस्तल की वस्तु ही न रह कर बाह्य जगत् से भी सम्बंधित हैं। उनका ब्रह्म प्रकृति के नाना रूपों में भी विद्यमान है, केवल घट के भीतर ही नहीं। ब्रह्म और जीव की जिस अद्वैत दशा का चित्र कबीर ने अपने रहस्यवाद में खींचा है, वह साधना की वस्तु है। भाव-जगत् में उसका मूल्य कम हो जाता है, किन्तु जायसी की अद्वैत-भावना भाव-जगत

पर आधारित है। कबीर पर भारतीय वेदान्त-वाद का प्रभाव होने के कारण उनकी प्रेमानुभूतियां भी उतनी तीव्र और मार्मिक नहीं हैं, जितनी कि जायसी की। जायसी में जो द्रवणशीलता है, वह हमें कबीर में नहीं मिलती। जायसी का उपास्य और उपासक दोनों एक दूसरे के मिलन के लिये बेचैन हैं। कबीर के रहस्यवाद में केवल प्रेयसी आत्मा ही उस परमात्मा के लिए तड़पती है। कबीर और जायसी आदि इन कवियों की तुलना करते हुए स्वर्गीय रामचन्द्र जी शुक्ल ने लिखा है—

कबीर ने अपनी झाड़ फटकार के द्वारा हिन्दू और मुसलमानों का कट्टर-पन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं। मनुष्य २ के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी करता है, उसकी अभिव्यञ्जना उस से न हुई। कुतुबन जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्य-मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं

के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखनें की आवश्यकता बनी थी, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

इसके अतिरिक्त जब हम साहित्यिक दृष्टि से कबीर और जायसी पर विचार करते हैं तो हमें कबीर की अपेक्षा जायसी में अधिक साहित्यिकता मिलती है। कबीर समाज-सुधारक उपदेशक और ज्ञान के चितेरे पहले हैं, कवि बाद में, किन्तु जायसी पहले कवि हैं और उपदेशक आदि बाद में। जायसी को चाहे हम प्राचीन शास्त्रीय कसौटी पर कसकर देखें और चाहे नवीन, दोनों ही दृष्टि से वे एक महाकवि ठहरते हैं।

कबीर ने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की, किन्तु जायसी ने पद्मावत जैसा महाकाव्य लिखा है जो प्रबन्ध काव्य की सब विशेषताओं से पूर्ण है। प्रबन्ध काव्य में मानव-जीवन की सुन्दर और विशद अभिव्यक्ति, कथा-निर्वाह, घटना-क्रम की शृङ्खला और मार्मिक प्रसंगों की योजना का होना आवश्यक होता है, जब हम पद्मावत को इस दृष्टि से देखते हैं तो वह इस कसौटी पर पूर्ण उतरता है। इसकी वर्णन-शैली भी महाकाव्य के पूर्ण उपयुक्त है, जिस समय कवि जलक्रीड़ा, सिंहल द्वीप-यात्रा, बारह मासे और षटऋतु आदि का वर्णन करता है तो हमारे सामने प्रत्यक्ष चित्र सा खिंच जाता है।

कहीं२ पर कवि का वर्णन सीमा को इतना पार अवश्य कर गया है कि पढ़ते २ पाठक का मन ऊब जाता है युद्ध आदि के वर्णन में ऐसे प्रसङ्ग भी कवि ने चित्रित किये हैं कि जो स्वाभाविकता की सीमा को लांघ गए हैं, किन्तु इसे हम कवि का दोष नहीं कह सकते। क्योंकि उस समय वीर गाथा काल की भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन-शैली का प्रचलन प्रायः विद्यमान था। जायसी का समय बौद्धिक विकास और वैज्ञानिक उन्नति का युग नहीं था। उस समय कल्पनाप्रधान और कौतुहलपूर्ण वर्णन प्रायः पाठकों को रोचक लगते थे। इसलिए इस प्रकार के वर्णनों को हम दोषपूर्ण नहीं कह सकते।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से जब हम पद्मावत पर विचार करते हैं तो हमें उसमें पद्मावती, नागमती, रत्नसेन, हीरामन तोते, गोरा-बादल और अलाउद्दीन आदि के चरित्रों का परिपूर्ण विकास मिलता है। ये पात्र अपने गुण और स्वभाव के अनुसार ही क्रिया-कलाप करते हुये दिखाये गये हैं। वीरता प्रेम, घृणा, क्रोध, हर्ष, उल्लास और शोक आदि विभिन्न भावों का चित्रण कवि ने इन पात्र विशेषों का सहारा लेकर ही किया है, जो अत्यन्त सुन्दर सजीव और स्वाभाविक है। कवि को इसके लिए किसी प्रकार का प्रयत्न करते हुये हम नहीं पाते। अलंकार-प्रयोग की स्थिति भी पद्मावत में हमें इसी प्रकार की स्वाभाविकता को लिये हुये मिलती है।

व्यथ के अलंकार-जाल में कवि किसी स्थान पर भी फंसता हुआ प्रतीत नहीं होता।

पद्मावत के विषय में यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कवि ने काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष का निरूपण इसमें जिस सुन्दर ढङ्ग से किया है वह शास्त्रीय शैली के सर्वथा अनुकूल है। यह बात अवश्य है कि सूफीमत का अनुयायी होने के कारण कवि ने प्रेम की पीर की व्यंजना ही अधिक की है अन्य भावों पर कम प्रकाश डाला है। कहीं २ पर सूफीमत की सी दार्शनिकता के दर्शन भी हमें पद्मावत में होते हैं, जिसमें हम भारतीय दार्शनिकता की पुट पाते हैं। फारसी के ढङ्ग की प्रेम कहानी में भारतीयता की पुट देकर सचमुच ही जायसी ने अपनी सहृदयता और उदारता का परिचय दिया है।

जायसी प्रेम-तत्त्व के उपासक अवश्य थे, किन्तु सच्ची धार्मिकता की भी उनमें कमी नहीं थी। बाहरी भेदभाव को भूलकर धार्मिक सहिष्णुता की प्रतिष्ठा करने के लिए जायसी ने जो मार्ग अपनाया था, वह वास्तव में स्तुत्य है और उन्हें हमारे साहित्य के प्रमुख धार्मिक कवि तुलसीदास की कोटि का कवि सिद्ध कर देता है। केवल अन्तर इतना ही है कि तुलसी की धार्मिक सहिष्णुता का क्षेत्र हिन्दू समाज तक ही सीमित था, किन्तु जायसी ने उस समय के हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रमुख समाजों की आवश्यकताओं को अपना दृष्टि-बिन्दु बनाया था। मुसलमान जैसी कट्टर जाति में अहिंसा और

विशुद्ध प्रेम की भावना भरने का जो कार्य जायसी ने किया, वह वास्तव में उस समय का कोई अन्य कवि नहीं कर सका।

अपने अमर ग्रंथों की रचना जायसी ने ठेठ अवधी भाषा में की है। जायसी की कविता का क्षेत्र उस समय भारत की साधारण जनता तक विस्तृत था। वे घूम-फिर कर प्रेम की उस अद्भुत सुरा का आस्वादन जन साधारण को कराया करते थे, जिसमें कि उनका अपना हृदय प्रतिक्षण झूमा करता था। इसीलिये यह आवश्यक ही था कि उनकी वाणी जन साधारण की वाणी हो। इसलिए उन्होंने उस समय की जनता की भाषा को ही अपने प्रतिपाद्य विषय का साधन बनाया। जायसी की भाषा की विशेषता यह है कि वह ठेठ ग्रामीण होते हुए भी रस और भाव-व्यंजना की अनुकूलता लिये हुए है। लम्बे २ समस्त पदों का उसमें अभाव है। शब्दों की तोड़-मरोड़ भी उन्होंने नहीं की। वैसे मुसलमान होने के कारण फारसी के शब्द भी इनकी रचनाओं में पर्याप्त आ गये हैं, किन्तु उनका प्रयोग पूर्ण स्वाभाविकता लिये हुए है। इनकी भाषा में ठेठ देहातीपन अवश्य है, किन्तु लोकव्यवहार की भाषा होने के कारण जो चलताऊपन हमें उस में मिलता है, वह काव्य के सर्वथा अनुकूल है। हम इनके पद्मावत में उस समय की 'लोकभाषा' को उस के मौलिक रूप में साहित्यिकता का रूप लिये हुए पाते हैं। भाषा की ऐसी विशेषता हमें थोड़े ही कवियों में मिलती है।

प्रेम-मार्गी शाखाके अन्य कवि कुतबन, मंझन, उसमान, शेख नबी कासिमशाह और नूर मोहम्मद हैं। इनका वर्णन नीचे किया जाता है—

कुतबन—इनका समय संवत् १५५० माना गया है। ये शेखबुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैन शाह के आश्रित थे। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक पुस्तक चौपाई और दोहे के क्रम से लिखी है। इसमें चन्द्र नगर के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती के प्रेम की कथा लिखी गई है। इस कथा में प्रेम-मार्ग के त्याग और कष्ट सहन-शक्ति का निरूपण इस ढंग से किया गया है कि वह साधक के प्रभु-प्रेम का चित्र उपस्थित करता है। कथा के बीच २ में कवि ने बड़े सुन्दर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास दर्शाये हैं, जो सूफियों की शैली पर आधारित हैं। मृगावती की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

चन्द्र नगर का राजकुमार कंचन नगर की राजकुमारी मृगावती पर मोहित होता है। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या में निपुण थी, इसलिए अनेक कष्टों के पश्चात् राजकुमार इसके पास पहुँच पाता है। दोनों का मिलन हो जाने पर एक दिन मृगावती चुपके से कहीं उड़कर चली जाती है। तब राज-कुमार उसके लिए योगी बन कर निकल पड़ता है। समुद्र से घिरी हुई एक पहाड़ी पर रुकमणी नाम की सुन्दरी को यह राजकुमार एक राक्षस से बचाता है। इस सुन्दरी का पिता

राजकुमार से प्रसन्न होकर अपनी कन्या का विवाह उस के साथ कर देता है। कुछ दिन इस सुन्दरी के साथ रहने के पश्चात् यह राजकुमार उस नगर में पहुँचता है, जहाँ मृगावती अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठकर राज्य कर रही थी। यहाँ पर वह बारह वर्ष तक रहता है। जब राजकुमार के पिता को उसकी सूचना मिलती है तो वह उसे बुलाने के लिए एक दूत भेजता है। पिता का सन्देश मिलने पर राजकुमारी मृगावती को अपने साथ लेकर राजकुमार चल पड़ता है। रास्ते में वह रुकमणी को भी अपने साथ ले लेता है। अपने नगर में वह बहुत समय तक सुख पूर्वक रहता है। अन्त में आखेट के समय हाथी से गिर कर उसकी मृत्यु हो जाती है और उसकी दोनों रानियाँ पिय-मिलन की आशा में उसके साथ सती हो जाती हैं।

कुतबन जायसी से पूर्व के कवि हैं। इन्होंने पाँच २ चौपाइयों के बाद एक दोहे के क्रम से अपने मृगावती नाम के ग्रंथ को लिखा है। इनकी वर्णन-शैली जायसी जैसी ही है। प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना जो सूफी साधुओं की विशेषता है, वह हमें इनमें भी मिलती है। सूफी शैली के हिन्दीकवियों में सर्वप्रथम इनकी ही गणना की जाती है। इनकी कविता में प्रेम-मार्ग की कठिनता, त्याग और आत्मसमर्पण की इतनी उत्कृष्ट अभिव्यंजना हुई है कि वह सहसा पाठक का ध्यान परमात्म-प्रेम की ओर आकृष्ट कर लेती है। इनकी

शैली जायसी से इतनी मिलती जुलती है कि यदि किसी को पुस्तक और लेखक का नाम न बताया जाय तो पाठक यह नहीं समझ सकेगा कि यह रचना जायसी की है अथवा कुतबन की। नीचे की पंक्तियों में यह बात भली भाँति परखी जा सकती है—

साह हुसैन अहैं बड़ राजा, छत्र सिंघासन उनको छाजा।
पंडित औ बुद्धिवंत सयाना, पढ़ै पुरान अरथ सब जाना॥
धरम दुदिस्ठल उनको छाजा, हम सिर छाँह जियो जग राजा।
दान देइ औ' गनत न आवै, बलि औ' करन न सरवरि पावैं॥

नीचे की पंक्तियों में कवि ने उस परम ज्योति की ओर संकेत किया है, जो समस्त प्रकृति में बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त है और जिसके सामने अन्य सब शक्तियाँ निरर्थक है तथा जिसकी लीलाओं का भेद कोई नहीं पा सका। इसके साथ ही सती के सतीत्व की अनुपम महत्ता भी इनमें लक्षित हो रही है—

रुकमिनि पुनि वैसेहि मरि गई, कुलवंती सत सौं सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई, घर-बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू, जो सिरजा सो जाहि निआनू।

मंझन—इनके विषय में अभी तक कुछ विशेष ज्ञात नहीं हुआ इनकी लिखी हुई 'मधुमालती' नाम की एक अपूर्ण रचना मिलती है। जिसमें इनकी कोमल कल्पना और नवनीत सहृदयता का अच्छा पता लगता है। यह रचना भी पाँच २

चौपाईयों के बाद एक दोहे के क्रम से लिखी गई है, किन्तु इस की वर्णन-शैली मृगावती की वर्णन-शैली से अत्यन्त विशद, कल्पनामय और हृदयग्राही है। आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना के लिये प्राकृतिक दृश्यों का सहारा भी मंझन ने बहुत सुन्दर लिया है, जिस से इनकी काव्यसंबन्धी विशेषतायें और प्रेम की अभिव्यक्ति द्विगुणित हो गई है। इनकी कथा भी बड़ी रोचक है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

कनेसर नगर के राजकुमार मनोहर को सोते हुये कुछ अप्सरायें रातों रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा देती हैं। जब राजकुमार की आँखें खुलती हैं और वह मधुमालती को देखता है तो दोनों एक दूसरे पर मोहित हो जाते हैं। जब मधुमालती मनोहर का परिचय पूछती है तो वह कहता है—राजकुमारी तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग कई जन्मों से है। जिस दिन से मैंने इस संसार में जन्म लिया है, उसी दिन से तुम्हारे प्रेम का अंकुर मेरे हृदय में जमा हुआ है। इसी प्रकार की अनेक बातें करते २ दोनों एक साथ सो जाते हैं, किन्तु अप्सरायें राजकुमार को वहां से उठाकर फिर उसके घर पहुँचा देती हैं। प्रातःकाल को अपने २ स्थान पर जब दोनों की आँखें खुलती हैं तो एक वे दूसरे को न पाकर अत्यन्त विह्वल होते हैं। राजकुमार व्याकुल होकर घर से निकल पड़ता है। समुद्र से यात्रा करते समय तूफान आने के कारण उस के सब इष्ट मित्र इधर-उधर हो

गए और वह एक पटरे पर बहता हुआ किसी जंगल में जा निकला। वहाँ पलंग पर लेटी हुई एक सुन्दरी की भेंट उससे हुई। जब उसने परिचय पूछा तो ज्ञात हुआ कि वह चित्रबिसराम पुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा है जिसे कोई राक्षस वहाँ उठा लाया है। मनोहर ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा की रक्षा की। और प्रेमा ने उसे मधुमालती का पता बताया, क्योंकि प्रेमा मधुमालती की सखी थी। फिर मनोहर को साथ लेकर जब प्रेमा अपने घर पहुँची तो उसका पिता उस का विवाह मनोहर के साथ करने के लिए इच्छुक हुआ तब प्रेमा ने इस सम्बन्ध के विषय में अपनी अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा—मनोहर मेरा भाई है, मैंने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती और मनोहर का मिलाप प्रेमा के घर पर ही हुआ। प्रातः काल के समय जब मधुमालती की माता रूपमंजरी उसकी चित्रसारी में गई तो उसने मनोहर को मधुमालती के साथ वहाँ पर देखा। जब मनोहर की आँखें खुलीं तो उसने अपने आपको किसी दूसरे स्थान पर पाया और रूपमंजरी अपनी बेटी मधुमालती को इस घटना के विषय में भला-बुरा कहने लगी। उसने मधुमालती को मनोहर का प्रेम छोड़ने के लिए बाध्य किया। जब वह न मानी तो माता ने शाप दिया कि तू पक्षी होजा। जब वह पक्षी बनकर उड़ गई तो माता को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, किन्तु मधुमालती

का कहीं पता नहीं लगा । वह उड़ती २ बहुत दूर चली गई पक्षी रूप में उसकी सुन्दरता से आकर्षित होकर ताराचन्द नाम के एक राजकुमार ने उसे पकड़ना चाहा। ताराचन्द का रूप मनोहर से कुछ मिलता-जुलता था, इसलिए वह पकड़ली गई। ताराचन्द ने उसे सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन मधुमालती रूपी इस पक्षी ने अपने प्रेम की सारी कथा ताराचन्द को सुनाई, जिसे सुन कर ताराचन्द ने प्रतिज्ञा की कि मैं तुमको तुम्हारे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा।

पक्षी के इस पिंजरे को लेकर जब ताराचन्द महारसनगर पहुँचा तो मधुमालती की माता उसे पाकर बड़ी प्रसन्न हुई, उसने मंत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का तो वह पक्षी से मनुष्य रूप में हो गई। मधुमालती के माता-पिता ने उसका विवाह ताराचन्द के साथ करने की इच्छा प्रकट की किन्तु ताराचन्द ने उत्तर दिया कि मधुमालमी मेरी बहिन है, मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं उसे मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। मधुमालती की माता यह सब कुछ लिख कर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसके पास अपने मन का हाल लिखकर भेजती है। प्रेमा अपनी सखी और उसकी माता के पत्र को पढ़कर चिन्ता में डूब जाती है। उसी समय उसकी एक सखी आकर सूचना देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के रूप में आ पहुँचा है। इसके बाद मधुमालती का पिता अपनी रानी सहित दल-बल के साथ प्रेमा के पिता चित्रसेन के

पास जाता है और वहाँ पर मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर मधुमालती और ताराचन्द तीनों बहुत दिनों तक प्रेमा के घर अतिथि बनकर रहते हैं। एक दिन प्रेमा और मधुमालती दोनों झूला झूल रहीं थीं कि ताराचन्द आखेट से लौटकर वहाँ आता है और प्रेमा पर मोहित हो कर मूर्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार करने में लग जातो हैं। यहीं पर यह प्रति खंडित हो जाती है। कथा का अन्त कवि किस रूप में करना चाहता था अथवा उसने किस रूप में किया था इस विषय में सही निर्णय नहीं दिया जा सकता।

इस कथा की विशेषता यह है कि इसमें कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना की है तथा उनके चरित्र के द्वारा सच्ची सहानुभूति, निस्वार्थ प्रेम-भावना और एक अपूर्व संयमका निरूपण किया है, ऐसा करने से इस कहानी में लोकहितकारिता की मात्रा अधिक आ गई है। समाज के लिये इस प्रकार के चरित्र बहुत ही हितकर कहे जा सकते हैं। मनोहर और मधुमालती का एक दूसरे के प्रति जन्म-जन्मान्तर का प्रेम दिखाकर कवि ने प्रेम की नित्यता और महानता का परिचय दिया है। यह सारा संसार प्रेम के एक ही सूत्र में किस प्रकार बंधा हुआ है तथा प्रेम-मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य प्रेम की उस पावन मूर्ति तक किस प्रकार पहुँच सकता है? इसकी व्यंजना मंझन के इस कथानक द्वारा पूर्णतः होती है।

सूफी साधु विरह की किस अपूर्व आँच में तपा करते थे और उन्हें यह सारी सृष्टि विरह की उसी आँच में कैसे सुलगी हुई सी लगती थी; इस का निरूपण मंझन ने भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है। नीचे की पंक्तियों में उनकी यह विशेषता देखी जा सकती है—

बिरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माँहि एक परै त पारा॥
बिरह की जगत अँबिरथा जाही। बिरह रूप यह सृष्टि सबाहीं॥
नैन बिरह अञ्जन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि शरीर बिरह-दुख होई॥

मंझन भी जायसी से पूर्व के कवि हैं। इनकी रचना का ठीक समय ज्ञात नहीं है। यह अनुमान किया जाता है कि इनका रचना काल संभवतः विक्रम संवत् १५५० और १५९५ के बीच में रहा हो।

उसमान—गाजीपुर निवासी कविवर उसमान जहाँगीर के समय में वर्तमान थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। इन्होंने सन् १६१३ ई० में 'चित्रावली' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। इसमें अपना परिचय लिखते हुए इन्होंने अपने आपको गाजीपुर का रहने वाला लिखा है तथा बादशाह जहाँगीर की प्रशंसा की है। इनकी यह रचना जायसी के अनुकरण पर लिखी गई है। इन्होंने भी प्रायः उन विषयों पर लिखा है जिनका वर्णन जायसी ने किया है। इनकी वर्णित कथा का संक्षेप रूप निम्न प्रकार है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार शिव और पार्वती की आराधना करके प्रसाद रूप में सुजान नाम का एक पुत्र प्राप्त करते हैं। यह कुमार एक दिन शिकार के समय मार्ग भूल जाने के कारण किसी देव की मढ़ी में विश्राम करता है। वह देव इसे सुरक्षा का वचन देकर वहीं रख लेता है। एक दिन कुमार उस देव के साथ रूप नगर की राजकुमारी चित्रा-वली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिए जाता है। वह देव तथा उसका मित्र देव दोनों उत्सव की शोभा देखने लगते हैं और इस राजकुमार को चित्रावली की चित्रसारी में बिठा देते हैं। वहां दीवार पर टगें हुए राजकुमारी के चित्र को देखकर यह कुमार उसपर मोहित हो जाता है तथा अपना चित्र बनाकर उस चित्र के पास टाँग देता है। चित्रसारी में सोये हुए राजकुमार को वे देव वहाँ से उठाकर फिर उसी मढ़ी में पहुँचा देते हैं। वहां जब इसकी आँखें खुलती हैं तो यह चित्रावली के प्रेम में विकल हो जाता है। इन्हीं दिनों इस राजकुमार के पिता के भेजे हुये कुछ आदमी आकर इसे राजधानी में वापस ले जाते हैं। राजधानी में आकर यह कुमार बड़ा उदास रहने लगता है और अन्त में अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक ब्राह्मण के साथ देव की उसी मढ़ी में पहुँचता है।

अपनी चित्रसारी में चित्रावली ने अपने चित्र के पास जब इसके चित्र को देखा तो वह भी इस पर आसक्त हो गई। उसने अपने नपुंसक सेवकों को जोगियों के वेश में इस राजकुमार

का पता लगाने के लिए भेजा। इन जोगियों में से एक जोगी सुजान नाम के इस राजकुमार को चित्रावली के पास ले आने में सफल हुआ। राजकुमारी और राजकुमार की भेंट एक शिव-मन्दिर में हुई, किन्तु उसी समय एक कुटीचर (चुगलखोर) ने राजकुमार को अन्धा कर के किसी गुफा में डाल दिया। वहाँ उसे एक अजगर निगल गया, किन्तु उस की विरह ज्वाला से जल कर उसने उसे तुरन्त ही उगल दिया। फिर एक बनमानस ने इस राजकुमार को कोई अंजन दिया, जिससे इसकी आँखें ज्यों की त्यों हो गईं। जंगल में घूमते हुये राजकुमार को एक हाथी ने पकड़ लिया। फिर इस हाथी को एक पक्षीराज ले उड़ा तथा उसने कुमार को किसी समुद्र-तट पर गिरा दिया। वहाँ से कुमार सागर गढ़ पहुँचा तथा राजकुमारी कमलावती की फुलवाड़ी में आराम करने लगा। जब राजकुमारी ने उसे वहाँ देखा तो वह उस पर मोहित हो गई। उसने उसे भोजन के बहाने से अपने घर बुलवाया तथा वहाँ अपने हार की चोरी का षड्यन्त्र रच कर उसे बन्दी बनवा लिया। सोहिल नाम के एक राजा ने कमलावती की सुन्दरता को सुनकर, उसे प्राप्त करने के लिये आक्रमण किया, जिसे इस राजकुमार ने मार भगाया। इस घटना से कमलावती सुजान पर और भी अधिक प्राण देने लगी। अन्त में सुजान ने चित्रावली के मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा करके इस राजकुमारी से विवाह कर लिया। बाद में वह राजकुमार यात्रा के लिये गिरनार गया।

प्राप्ति और प्रेम की अलौकिक व्यंजना इन्हों ने भी बड़े सुन्दर ढङ्ग से की है। प्रकृति का वर्णन भी इन्हीं ने बड़ा सरस और मनोहर किया है। जायसी की सी वर्णन शैली, वैसा ही चौपाई और दोहे का क्रम और उसी प्रकार की विरहानुभूतियाँ हमें उसमान की चित्रावली में भी देखने को मिलती हैं। विरहोद्‌गार से प्लावित और उस अनुपम की अपूर्व झाँकी से रंजित इनके बसन्त ऋतु वर्णन की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:—

ऋतु बसन्त नौवत बन फूला। जहँ तहँ भौर कुसुम रंग भूला॥
आहि कहाँ सो भवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूं दिसि लाई॥
रति-पति-दुरद ऋतु-पती बली। कानन देह-आई दलमली॥

शेखनबी—ये जोनपुर ज़िले में स्थित मऊ नामक स्थान के निवासी थे। इन्होंने 'ज्ञानदीप' नाम का एक आख्यान काव्य लिखा है, जिसमें महाराज ज्ञानदीप और देवजानी की प्रेम कथा ली गई है। ये संवत् १६७६ में वर्तमान थे। प्रेम-मार्गी धारा की समाप्ति एक प्रकार से इनके समय में ही हो जाती है। इनके बाद सूफी ढंग के से आख्यानों को लेकर जो रचनायें लिखी गईं, उनमें सूफियों की पद्धति का बहुत कुछ ह्रास हो जाता है। पहिले की सी व्यंजकता और प्रेम की पावन पीर उनमें जैसे रह ही नहीं जाती। शेखनबी के बाद

कासिम शाह और नूरमोहम्मद दो सूफी कवि और हुये हैं।

कासिम शाह ने "हंसजवाहिर" नाम की एक कथा लिखी है, जिसमें कहीं २ पर इन्होंने जायसी की पदावली को ज्यों का त्यों उठा लिया है। किसी प्रकार की प्रौढ़ता इनकी इस कहानी में दृष्टिगोचर नहीं होती।

नूरमोहम्मद ने 'इन्द्रावती' नाम की एक सुन्दर कथा लिखी है जिसमें कालिंजर के राजकुमार और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती के प्रेम की घटना ली गई है। इसमें इन्होंने पाँच २ चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम रखा है। सूफी पद्धति का यही अन्तिम ग्रंथ है, जिसमें हम प्रेम की उत्कृष्ट व्यंजना पाते हैं। इस के पश्चात् कोई सफल रचना इस पद्धति की नहीं लिखी गई। इनकी दूसरी पुस्तक 'अनुराग-बांसुरी' है, जिसमें सारी कहानी और पात्र रूपक रूप में हैं। इसमें इनका पूर्ण पांडित्य झलकता है। शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों को लेकर इन्होंने जो रूपक बांधा है; वह तत्व-ज्ञान सम्बन्धी विषय की पूर्ण विवेचना करता है। इनके इस ग्रंथ में ब्रजभाषा और संस्कृत के शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन्होंने कई स्थानों पर इस बात का सबूत भी दिया है कि हिन्दुओं के प्रेम कथानक भाषा और दार्शनिक विचारों से प्रभावित होकर ये अपने इस्लाम धर्म को नहीं भूले थे। अपने इस ग्रंथ की प्रशंसा करते हुये इन्होंने लिखा है—

जहँ इसलामी मुखसों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मंगल कष्ट नसात॥

इनकी अनुराग बांसुरी का एक मनोहारी और मार्मिक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

अंतः करण सदन एक रानी। महामोहनी नाम सयानी॥
बरनि न पारौं सुन्दरताई। सकल सुन्दरी देख लजाई॥
सर्वमंगला देखि असी सै। चाहे लोचन मध्य बई सै॥
कुन्तल भारत फाँदा डारै। चख चितवन सों चपला मारै॥
अपने मन्जु रूप वह दारा। रूप गर्विता जगत मँझारा॥
प्रीतम-प्रेम पाई वह नारी। प्रेम गर्विता भई पियारी॥
सदा न रूप रहत है अन्त नसाई।
प्रेम रूप के नासहि तें घटि जाई॥

रामभक्ति शाखा

इस शाखा के क्रमिक विकास का विवेचन सामान्य परिचय में किया जा चुका है। स्वामी रामानन्द आदि महात्माओं ने रामभक्ति सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे, उनका क्षेत्र संस्कृत साहित्य तक ही सीमित रहा है। हिन्दी में इन महात्माओं का लिखा हुआ कोई विशेष ग्रन्थ नहीं है। स्वामी रामानन्द के हिन्दी में लिखे हुए विनय और स्तुति के कुछ पद इधर-उधर अवश्य प्राप्त हुये हैं। भारतीय जनता के संमुख उनकी ही बोलचाल की भाषा अवधी में रामभक्ति सम्बन्धी साहित्य सृजन करने का एकमात्र श्रेय तुलसीदास जी को ही है इनका उल्लेख नीचे किया जाता है—

गोस्वामी तुलसीदास—इनका जन्म सं० १५८९ माना है। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। इनके जन्म के विषय में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है। कि ये मूलनक्षत्र में उत्पन्न हुए थे, जिस माता-पिता ने इन्हें जन्मते ही त्याग दिया था, क्योंकि मूलनक्षत्र में उत्पन्न हुई सन्तान को माता और पिता के लिए अशुभ समझा जाता है इनके लिए प्रसिद्ध है कि जब ये उत्पन्न हुए थे तो पांच वर्ष

के बालक जैसे थे तथा जन्म के समय रोने की अपेक्षा राम-नाम का शब्द इनके मुख से निकला था। इनका लालन-पालन इनकी माता की एक दासी मुनिया ने किया था, किन्तु वह भी इन्हें छोटी अवस्था में ही छोड़ कर चल बसी थी। बाद में कुछ काल तक तुलसीदास इधर-उधर ही भटकते रहे तथा सौभाग्य से इन्हें बाबा नरहरिदास जैसे गुरु प्राप्त हुए। इनकी सेवा में रहकर तुलसीदास ने शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। अपने गुरु के पास ये काशी में पंच-गंगा घाट पर रहा करते थे, यहीं पर शेष सनातन नाम के एक परम विद्वान महात्मा भी रहते थे, जिन्होंने इनको वेद-वेदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण और साहित्य आदि में प्रवीण बना दिया। इन महान् विद्वानों की सेवा में १५ वर्ष तक अध्ययन करके तुलसीदास जी अपनी जन्म-भूमि राजापुर में लौट आये। घर पहुँचने पर इनकी विद्वता, नम्रता और विनय-शीलता से प्रसन्न होकर भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या रत्ना का विवाह इनके साथ कर दिया, रत्ना परम सुन्दरी थी। तुलसीदास उसपर इतने अनुरक्त हुए कि उसे उसके पिता के घर भी नहीं जाने देते थे। एकबार रत्ना इनकी अनुपस्थिति में अपने भाई के साथ पिता के घर चली गई, किन्तु जब इन्हें मालूम हुआ तो ये तुरन्त उसे लाने के लिए पहुँच गए। कहते हैं कि तुलसीदास चढ़ी हुई नदी को पार करके रात्रि में ही रत्ना के पास पहुँचे थे, जब रत्ना ने इनको आया हुआ सुना तो वह बड़ी

लज्जित हुई और इनकी इस अन्धानुरक्ति को देख कर उस ने मिलने पर इनसे कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महं होति न तौ भवभीति॥

पत्नी के इन मार्मिक शब्दों का प्रभाव तुलसी दास के भावक हृदय पर इतना अधिक हुआ कि वे तुरन्त ही विरक्त होकर चल दिये! अब उनके लिए रत्ना, उसका प्रेम और सुन्दरता सब कुछ व्यर्थ हो गई। उनका मन रूपी चकोर जो प्रति-क्षण रत्ना के मुख चन्द्र की छटा निहारता था, अब राम की अनुपम छटा को देखने लगा। और सांसारिक प्रेम से बहुत दूर अध्यात्म प्रेम में लीन होकर तुलसीदास इस लोक के समस्त व्यवहारों को केवल राममय देखने लगे। इनका आराध्य देव दशरथी राम और आराध्य देवी माता सीता बनीं जिनके मर्यादा पूर्ण जीवन को काव्य की विभिन्न शैलियों में लिखकर इन्होंने अपने आपको अमर किया।

जीवन से विरक्त होकर ये अनेक तीर्थ-स्थानों पर यात्रा के लिये गए। इन्होंने जगन्नाथ पुरी, रामेश्वर, द्वारिका, बद्रिकाश्रम कैलाश, मानसरोवर और चित्रकूट आदि अनेक स्थानों का भ्रमण किया। इन स्थान पर इनकी भेंट अनेक साधु-सन्तों से हुई तथा ये विभिन्न प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आये, इस

के साथ ही प्राकृतिक सौंदर्य को देखने का अवसर भी इन्हें प्राप्त हुआ जिसमें इनको लौकिक और पार लौकिक दोनों ही प्रकार की अनुभूतियां तीव्र हो गईं राम-नाम से पीड़ित हृदय और अनुभूति पूर्ण ज्ञान वस्तु लेकर सं० १६३१ में जब ये अयोध्या पहुँचे तो इन्होंने अपनी अमर रचना "रामचरितमानस" को लिखना आरम्भ किया, जिसकी पूर्ति इन्होंने २ वर्ष और सात महीने में की। राम-नाम की चर्चा उस समय की बोल-चाल की भाषा अवधी में करने के कारण इनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। कुछ संस्कृत के विद्वानों ने इनका विरोध भी किया, क्योंकि उनका मत था कि राम-नाम का वर्णन केवल संस्कृत में ही होना चाहिये, किन्तु उनके विरोध से इनकी प्रसिद्धि में कुछ कमी नहीं आई। इनके मित्र-मण्डल में अब्दुर्रहीम खान खाना महाराज मानसिंह, नाभा जी और मधुसूदन आदि व्यक्तियों के नाम प्रसिद्ध हैं। उस समय इन मित्रों से दोहे में पत्र व्यवहार भी तुलसीदास कभी २ किया करते थे। कहते हैं एक बार मीरा ने भी अपने घर वालों से तंग आकर तुलसीदास जी को यह पूछा था कि मैं किस मार्ग का अनुसरण करूँ ? तब इन्होंने मीरा को लिखा था कि राम के लिये अपने परम सम्बन्धियों को भी छोड़ देना चाहिए।

तुलसीदास जी की मृत्युकाल के विषय में निम्न दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

इस दोहे के अनुसार सं० १६८० में श्रावण के शुक्ल पक्ष की सप्तमी इनके दिवंगत होने का दिन ठहरती है।

साहित्य-सेवा—हिन्दी काव्य-क्षेत्र में तुलसीदास जी का अवतीर्ण होना एक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, साधना और लगन के बल पर तुलसीदास जी ने हिन्दी साहित्य की जो सेवायें की हैं, वे किसी काल में भी भुलाई नहीं जा सकतीं। राम के सगुण रूप को भक्ति का ही विषय न रख कर इन्होंने उसे काव्य का विषय भी बना दिया है। इन्होंने अपने समय की अवधी और व्रज-भाषाओं में तथा तत्कालीन सभी काव्यशैलियों में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। इनके विषय में वीर-गाथा काल से आती हुई छप्पय लिखने की शैली, विद्यापति और सूरदास की प्रेम और भक्ति के पद लिखने की शैली, गंग आदि भाटों की कवित्त और सवैया लिखने की शैली, कबीरदास की नीति और लोक-व्यवहार सम्बन्धी दोहा लिखने की शैली और ईश्वरदास की दोहे तथा चौपाइयों में प्रबन्धकाव्य लिखने की शैलियाँ प्रचलित थीं। हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि तुलसीदास जी ने तत्कालीन साहित्य की इन पाँचों शैलियों में पूर्ण अधिकार के साथ लिखा है। यदि हम तुलसीदास जी की रचनाओं का विवेचन भाषा और काव्य-शैलियों की दृष्टि से करें तो हम देखेंगे कि व्रज भाषा का जो मधुर रूप हमें सूरदास के सूरसागर में मिलता है, वही तुलसी की

गीतावली और कृष्ण गीतावली में भी विद्यमान है। इसी प्रकार जायसी के पद्मावत में अवधी भाषा की जो मधुरता मिलती है वही तुलसीदास जी के जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवै रामायण और रामलला नहछू में भी विद्यमान है, किन्तु जहाँ हम जायसी को ब्रजभाषा और सूरदास को अवधी भाषा की विशेषता से शून्य पाते हैं, वहाँ हमें तुलसी में इन दोनों भाषाओं की विशेषता मिलती है।

काव्यशैली की दृष्टि से इनकी वीरगाथा काल की सी छप्पय लिखने की शैली हमें 'रामचरित मानस' के युद्ध वर्णन में मिलती है तथा विद्यापति और सूरदास की गीत लिखने की शैली, इनकी विनय पत्रिका और गीतावली में बड़े सुन्दर रूप में देखी जा सकती है गीतावली में तो केवल राम और श्याम का ही भेद दृष्टि-गोचर होता है, अन्यथा इस में तुलसी ने अपने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी कृष्ण की तरह ही सखियों के साथ झूला झूलते और होली खेलते दिखाया है। नख-शिख वर्णन भी इन्होंने राम का किया है, किन्तु यह सब होने पर भी राम और सीता के प्रति इनकी पूज्य भावना का लोप किसी स्थान पर भी नहीं हो पाया और इनकी यह विशेषता ही इन्हें सूर के पदों से पृथक् कर देती है।

गंग आदि भाटों की सी कवित्त और सवैया लिखने की शैली तुलसी की कवितावली में देखने को मिलती है। इस

पुस्तक में रस के अनुकूल शब्दयोजना का बड़ा ही सुन्दर चमत्कार इन्होंने दिखलाया है, जहाँ वे—

'राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नग की परछाई'
जैसी पंक्तियों में कोमल शब्दों की योजना करते हैं, वहाँ हम उन्हें भयानक और वीर के प्रसंग में 'प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदण्ड वीर' जैसी पंक्तियों में कर्कश शब्दावली का प्रयोग भी करते हुये पाते हैं। कबीरदास की नीति सम्बंधी दोहा शैली में हमें उनकी दोहावली और रामचरितमानस में अनेक दोहे मिलते हैं, जिनमें इन्होंने "नीति और व्यवहार की बातें बड़ी मार्मिकता और काव्य-कौशल के साथ कही हैं। भक्ति और प्रेम की मर्यादा का निर्वाह भी हम इनके दोहों में बड़ा सुन्दर पाते हैं। उदाहरण के लिये निम्न दोहे देखिये—

राम-नाम मनिदीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जो चाहसि उजियार॥

× × ×

हरे भरहिं तापहिं बरें, फरें पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब, परमारथ रघुनाथ॥

ईश्वरदास की, दोहे और चौपाई में प्रबन्ध काव्य लिखने की, शैली (जिसमें जायसी ने भी अपना पद्मावत नाम का प्रबन्ध काव्य लिखा है) में हम तुलसीदास जी की महान् रचना "रामचरित मानस" को लिखा हुआ पाते हैं। इनके इस ग्रन्थ की रचना-शैली इतनी उत्कृष्ट, सरल, शास्त्रीय और माधुर्यपूर्ण है कि इनका यह ग्रन्थ शिक्षित और

अशिक्षित दोनों को समान आनन्द देता है। अवधी के साथ २ संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का जो सुन्दर मिश्रण तुलसीदास ने अपने इस ग्रन्थ में किया है, उसी ने इसे साहित्यिकों की प्रिय वस्तु बना दिया है। तुलसी का काव्य-कौशल भी इसमें अपने परिपक्व रूप में मिलता है। कोरी भक्ति-भावना ने ही नहीं, अपितु काव्यमयी अनुपमता और प्रबन्ध काव्य की कुशलता ने भी तुलसी की इस रचना को हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट निधि बना दिया है यह बिना किसी पक्षपात के कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास जी की प्रतिभा ने तत्कालीन भाषाओं और काव्य शैलियों का कितना कौशलपूर्ण ग्रहण और निर्वाह किया था। अब हम उनकी अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

तुलसीदास जी ने जो कुछ भी लिखा है, वह सब स्वान्तः सुख के लिए। किसी राजा महाराजा को प्रसन्न करने का प्रश्न उनके सामने नहीं था। इसलिये समाज-निर्माण और समूचे राष्ट्र को उन्नत बनाने वाले जो तत्व हमें इनकी रचनाओं में मिलते हैं, उनका प्रभाव पाठकों के हृदय पर बहुत गहरा पड़ता है। एक वैरागी और संन्यासी महात्मा होते हुये भी इन्होंने समाज, राष्ट्र और लोक-कल्याण का पूर्ण ध्यान रखा है। जिस आदर्श जीवन, मर्यादा, लोक-व्यवस्था, राजनीति और धर्म की प्रतिष्ठा, तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में की

है, वह सर्व साधारण के लिए सब स्थानों पर तथा प्रत्येक काल में उपयोगी बनी रहेगी। इन्होंने भारतीय जीवन को अपनी भक्ति भावना की अनुपम अमृत-धारा से सींच कर सदा के लिए अमर कर दिया है। ये भक्त कवि, समाज सुधारक, उपदेशक और महात्मा सब कुछ एक साथ हैं। जब हम इनकी रचनाओं पर कवित्व की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें उनमें पूर्ण काव्य तत्त्व मिलते हैं। जीवन की जितनी मार्मिक, सर्वांगीण और कलापूर्ण अभिव्यक्ति तुलसीदास ने की है, उतनी हिन्दी का कोई भी कवि नहीं कर सका। उनकी काव्य कला जीवनोपयोगी बनकर अवतीर्ण हुई है। उनकी प्रतिभा महान, दृष्टि-कोण अत्यन्त सूक्ष्म और गवेषणात्मक है। जिस विषय को भी वे लेते हैं, उसी में प्राण डाल देते हैं।

प्रकृति की परिवर्त्तनशीलता, विविधता, सुन्दरता और सजीवता का चित्रण करते हुये मानव-जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का चित्रण करने की जो क्षमता इनमें है, वह किसी अन्य कवि में नहीं मिलती राम और सीता के मर्यादापूर्ण जीवन को लेकर विश्वजनीनता, मानवता, सहिष्णुता और उदारता का जो चित्रण इन्होंने किया है, उसने हिन्दी साहित्य को पीयूष की उस धारा से ओत प्रोत कर दिया है कि जिसका स्रोत किसी काल में भी नहीं सूखेगा। मानव जीवन के बाह्य और आन्तरिक प्रदेश का प्रकाशन तुलसी ने इतने सुन्दर ढङ्ग से किया है कि जो कभी भी मन्द पड़ने वाला नहीं है। विश्व

की यात्रा में भूले हुये प्राणी को शान्ति देने वाली, जीवन की ठोकरों से रक्षा करने वाली तथा आध्यात्म जगत के चिरन्तन-लोक में पहुँचाने वाली जो शक्ति इनकी कविता में विद्यमान है, वह हिन्दी-साहित्य की अपनी वस्तु है। राजा-प्रजा स्वामी-सेवक, माता-पिता पति-पत्नी और भाई-भाई के पवित्र संबन्धों का जो आदर्श तुलसी ने उपस्थित किया है, वह हमारे राजनैतिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन को सुखद और सुखमय बनाने के लिये कितना उपयोगी है, इसका अनुमान वे ही लगा सकते हैं, जिन्होंने कविशिरोमणि तुलसी की कविता का अध्ययन किया है, और उसमें निहित तथ्य को समझने का प्रयत्न किया है। मानव हृदय की भावुकता, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और विरक्ति आदि भावनाओं का सजीव चित्र खींचने में भी तुलसी को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। नारी की जिस सुन्दरता का आकर्षक, पावन और हितकारी चित्र तुलसी ने खींचा है, वह सचमुच ही मनुष्य के लिए वरदान है। तुलसी के इस काव्य-कौशल को परखने के लिए उनकी निम्न पंक्तियाँ ही पर्याप्त हैं:—

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचित सीय मन महं मुसुकानी॥
तिनहिं बिलोकि बिलोकत धरनी। दुहुँ संकोच सकुचत बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥

बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी। पियतन चितै भौंह करि बाँकी
खंजन मंजु तिरीछै नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि

अपने पति का परिचय देते हुए एक भारतीय ललना की कैसी दशा हो जाती है? तथा अपने अंगों की लज्जा-शीलता शब्दों की मृदुलता और हृदय की विह्वलता आदि नाना शारीरिक चेष्टाओं से पति का परिचय देकर वह लाज के घूंघट में कैसे सिमट जाती है? इसका चित्र तुलसी ने इन पंक्तियों में चित्रित कर के नारी की मनःस्थिति का स्वाभाविक और सजीव रूप अंकित किया है। इन पंक्तियों में कितनी मार्मिकता है, कितना रसोद्रेक और भावुकता है इसका अनुभव सहृदय पाठक भलीभांति कर सकते हैं।

भक्तिभावना—तुलसी ने इस समस्त संसार को सीता और राममय मानकर प्रकृति और ब्रह्म की अभिन्नता का भावपूर्ण चित्रण किया है तथा ज्ञान और भक्ति दोनों की महत्ता को स्वीकार करते हुये भक्ति पर अधिक बल दिया है और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बताया है। ज्ञानमार्गी योगियों की तरह उनका ईश्वर अन्तःस्तल में नहीं छुपा हुआ है, अपितु इस व्यक्त जगत् में अनेक लीलायें करता हुआ दर्शन दे रहा है। उन्होंने किसी भी तरह के रहस्य को भक्ति का विरोधी तत्त्व माना है। मन, वचन और कर्म की सरलता ही उनकी भक्ति का सार तत्व है तथा जीवन की सात्विकता और पवित्रता को ही उन्होंने प्रभु-

प्रेमका आधार माना है। नीचे की पंक्तियों में उनकी यह भाव व्यंजना स्पष्ट है—

सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
'तुलसी' सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम-प्रसूति॥

इनकी भक्ति-भावना माता-पिता, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी और भाई-भाई आदि अनेक प्रेम संबंधों का रूप लेकर व्यक्त हुई है। मनुष्य के हृदय में प्रेम की जो स्वाभाविक भावना है, यदि वह अपने वास्तविक रूप में अनन्यभाव से ईश्वरोन्मुख हो जाये तो बस यही ईश्वर-आराधना है। सिद्धों और ज्ञानमार्गी संत-कवियों ने जिस ईश्वर-दर्शन को विरले साधकों की वस्तु बना दिया था, उसका भंडार इन्होंने सर्वसाधारण के लिये खोल दिया और दृढ़ता के साथ जनता को यह उपदेश दिया कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये संसार को मिथ्या, नारी को माया जाल और लौकिक सुखों को बन्धन मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके लिये तो वैसी ही प्रेमानुभूति की आवश्यकता है, जैसी कि संसार के नाना सम्बन्धों और सुखों के लिये हम अनुभव करते हैं। केवल आवश्यकता इतनी ही है कि प्रेम की यह चिरन्तन भावना भगवान् की ओर भी उसी लगन के साथ लग जाये जैसी कि यह संसार की ओर लगी रहती है।

वास्तव में इनकी भक्ति-भावना, भक्ति, ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय है। और इन तीनों का समुचित समन्वय होने

पर ही व्यक्ति, समाज, देश और विश्व का कल्याण सम्भव है। इनमें से किसी का भी अभाव अथवा अतिरेक मानव को अकल्याण की ओर ले जा सकता है। कोरी भक्ति लौकिक प्रेम का रूप लेकर समाज को वासना से कलुषित कर सकती है, अकेला कर्म समाज को अर्थशून्य विधि विधानों की ओर अग्रसर करके हिंसक बना सकता है और ज्ञान रहस्य में उलझाकर मनुष्य को पाखण्ड की ओर ले जा सकता है। किन्तु यदि साधना के इन तीनों अंगों में पूर्णत: संतुलन हो तो फिर चारों ओर कल्याण ही कल्याण है। यही कारण है कि तुलसी ने भक्ति और ज्ञान में किसी तरह का भेद नहीं माना है, किन्तु ज्ञान को उन्होंने दुस्साध्य अथवा कृपाण की धार कहा है, क्योंकि भक्तिविहीन ज्ञान से भ्रष्ट होते मनुष्य को कुछ देर नहीं लगती। मन, कर्म और वचन की सात्विकता तथा सरलता पर भी तुलसी ने पूरा जोर दिया है, नीचे की पंक्तियाँ इसका समर्थन करती हैं।

भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा।

❀ ❀ ❀

ज्ञान को पंथ कृपान की धारा।

× × ×

तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी जो निज करतूति।
करम, वचन, मन, ठीक जेहि, तेहि न सकै कलि धूति॥

डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र ने तुलसीदास जी की भक्ति-पद्धति के विषय में लिखा है कि गीता का अनासक्ति योग बौद्धों और जैनियों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का जप, शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति-भावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, माध्व की रामोपासना, वल्लभाचार्य की बालकृष्णोपासना, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि सन्तों का नाम-माहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्मसमाज की ब्रह्म-कृपा, आर्यसमाज का आर्य-संगठन और गांधीवाद की सत्य अहिंसा मूलक आस्तिकतापूर्ण लोक-सेवा आदि सब कुछ तो उसमें हैं ही; साथ ही मुसलमानों का मानव-बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी उस में क्रीड़ा कर रहे हैं।

गोस्वामी जी ने अपने समय में इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि ज्ञानमार्गी सन्तों की वाणी में लोक-धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। इस लिये उन्होंने भक्ति के चरम-बिन्दु पर पहुँच कर भी लोक-पक्ष को नहीं छोड़ा। क्योंकि लोक-कल्याण भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि आत्म-कल्याण। यदि हम यह कहें कि लोक-कल्याण के बिना आत्म-कल्याण संभव ही नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी क्योंकि जिस लोक की कुछ मर्यादा नहीं, जहाँ जीवन विशृंखल है, और विद्वानों, आदर्श वीरों पतिपरायणा स्त्रियों, सत्पुरुषों

तथा न्यायप्रिय शासकों आदि के प्रति जहाँ भक्ति-भावना नहीं है, वहाँ मंगल की भावना का उदय होना ही असम्भव है और जहाँ मंगल की भावना ही नहीं, वहाँ आत्मकल्याण अथवा विश्व-कल्याण की बात सोचना व्यर्थ है। इसलिये तुलसी ने लोकपक्ष का भी उतना ही ध्यान रखा है, जितना कि अध्यात्म-पक्ष का। यही कारण है कि उन्होंने उपास्य और उपासक के सम्बन्धों की ही गूढ़ व्यंजना न करके लोक-व्यापी नाना सम्बन्धों की अपूर्व प्रतिष्ठा भी की है।

रचित ग्रन्थ—तुलसी दास जी के लिखे हुए बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। रामलला नहछू, वैराग्य सन्दीपिनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, कविता-वली, कृष्ण गीतावली, विनय पत्रिका और रामचरित-मानस इन में छः ग्रंथ अधिक महत्त्व के हैं। इनकी रचनाओं को हम इनके जीवन के महान् आदर्शों और अपूर्व सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक विधाओं का कोष कह सकते हैं। इनकी कृष्ण गीतावली में कृष्ण चरित्र का वर्णन हुआ है जो इस बात को सिद्ध करता है कि इन्हें विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास था तथा ये विष्णु के अवतार कृष्ण में भी उतनी श्रद्धा रखते थे, जितनी कि राम में। कवितावली में राम के पराक्रमी और तेजस्वी स्वरूप का वर्णन हुआ है और गीतावली में उनकी अनेक बाल-क्रीड़ायें चित्रित की गई हैं, इसकी शैली सूरदास की शैली से बहुत कुछ मिलती हुई है। विनयपत्रिका में हमें

इनके दार्शनिक और भक्ति के सिद्धान्तों का परिचय तथा आत्म-निवेदन की सुन्दर झाँकी मिलती है। इस में कवि तुलसी राम के सेवक अथवा दास बनकर अपनी समस्त दीनता का प्रकाशन उनके सम्मुख करते हैं।

इन की महान् कृति रामचरित-मानस है। वैसे तो तुलसी का समस्त काव्य ही राम के जीवन-चरित्र से ओत-प्रोत है, किन्तु यह ग्रंथ विशेष रूप से राम-जीवन की सम्पूर्ण कथा को लेकर महाकाव्य के रूप में लिखा गया है। इस ग्रंथ में तुलसी ने नाना पुराण और निगमागम का सार कथा के प्रशस्त प्रवाह के साथ २ भर दिया है। यह ग्रंथ राम-जीवन की कथा भी है और लोक-मुक्ति का समुज्ज्वल साधन भी।

साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, लोकपक्ष और अध्यात्म-पक्ष जिस दृष्टि से भी हम इनके इस ग्रंथ पर विचार करें, उसी दृष्टि से यह ग्रंथ अपनी उपमा नहीं रखता। यह एक सफल महाकाव्य है कथा का निर्वाह और मार्मिक स्थलों की अभिव्यक्ति जैसी इस ग्रंथ में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। शृंगार का शिष्ट मर्यादा पूर्ण वर्णन और जीवन की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति इस ग्रंथ की महान् विशेषतायें हैं। रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, भावमय चित्रण और काव्य सौष्ठव आदि साहित्य के सभी गुण हमें इनके इस महाकाव्य में मिलते हैं। इसमें शुष्क से शुष्क दार्शनिक सिद्धान्त भी कविता का रूप लेकर सरस हो गये हैं। इसमें तुलसी का राम,

नारायण और मानव दोनों रूपों में विभूषित होकर संसार के सुख-दुख से पीड़ित, जीवन के समस्त संघर्षों से दूर किसी अपार्थिव जगत् में विचरण करता हुआ सा दिखाई देता है। यहाँ उनका मानव रूप भी उतना ही आकर्षक है, जितना कि प्रभु-रूप। इसमें उन्होंने दानवता पर मानवता की विजय दिखाते हुए एक अपूर्व देवत्व की प्रतिष्ठा की है। अपने गहन-चिन्तन और मनन से तुलसी ने अपने समय की राजनैतिक अव्यवस्था का अनुभव किया था, समाज के चीत्कार और मानव के क्रंदन को सुना था तथा अपने काव्य ग्रंथ में असत्य पर सत्य की विजय को राम और रावण के युद्ध के रूप में चरितार्थ करके समस्त निराश हिन्दू जाति को जगाने का महान् प्रयत्न किया था। कोई सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक नेता बनकर जगह २ उपदेश देने की अपेक्षा उन्होंने एक साहित्यकार के नाते जनता का नेतृत्व किया—साहित्यिक अपनी लेखनी के द्वारा भूत वर्तमान और भविष्यत् का ऐसा सुन्दर चित्रण करता है कि जो मानव के पथदर्शन में सदैव सहायक रहता है, जबकि अन्य प्रकार के नेता का नेतृत्व उसके जीवनकाल में ही समाप्त हो जाता है। यदि तुलसी ने भी जनता का नेता बनकर केवल उपदेश देने का कार्य किया होता तो आज हम उनकी अमर कृतियों से वंचित रह जाते। साहित्यिक तुलसी ने रामत्व का जो चिरन्तन मंत्र दिया वह हिन्दू जाति के लिए वरदान बन गया, मुस्लिम सत्ता से प्रपीड़ित हिन्दू जाति के अस्तित्व के लिए

उस समय राम-नाम के इस मन्त्र से बढ़कर और कोई सहारा नहीं था इसीलिए राम का रूप भी उन्होंने ऐसा चित्रित किया है कि जो दानवताका चिरविनाशक है। तत्कालीन समाजके लिए रावण की क्रूरता, मुस्लिम क्रूरता का एक प्रतीक बनकर आई और रामराज्य के वर्णन ने कर्त्तव्य से विचलित शासकों को राज्य का व्यवस्थित और सुखद स्वरूप दिखाया। रामराज्य वर्णन में तुलसी ने अपनी राजनैतिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। उनके राज-धर्म का यह चित्रण देश-काल और जातीयता के बन्धनों में नहीं बाँधा जा सकता। रामराज्य का प्रतीक होते हुये भी वह प्रत्येक सुशासक के जीवन की वस्तु है। एक आदर्श राज्य की व्यवस्था कैसी होनी चाहिये ? उसका चित्रण निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है:—

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा,
सब सुन्दर सब विरुज सरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोई अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दंभ धर्मरत गुनी,
नर अरु नारी चतुर सब गुनी।
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी,
सब कृतज्ञ नहीं कपट सयानी ॥

× × ×

लता विटप मागें मधु चवहिं,
मन भावती धेनु पय स्रवहीं।

मसिसम्पन्न सदा रह धरनी,
त्रेता भई कृतजुग कै करनी ॥

तुलसी के कलियुग-वर्णन में हम उनके समय की सामाजिक अव्यवस्था का चित्रण पाते हैं, जिसने सचमुच ही कलियुग का रूप ले लिया था, यदि हम यह कहें कि तुलसी के इस वर्णन में हम वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था का भी पूर्ण आभास पाते हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। वर्तमान हिन्दू समाज अपने प्राचीन आदर्शों को छोड़ कर किस प्रकार पतनोन्मुख हो रहा है ? इसका निदर्शन तुलसी के कलियुग-वर्णन में निस्सन्देह मिलता है। आज कल माता-पिता, भाई-बहन, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, आदि सामाजिक सम्बन्ध कितने स्वार्थपूर्ण और दोषग्रस्त हो गये हैं ? वर्ण और आश्रम-व्यवस्था कैसी विशृंखल हो गई है तथा पवित्र सामाजिक सम्बन्धों को पाखंडियों ने किस प्रकार कलुषित कर दिया है ? धर्म, कर्तव्य और न्याय का पालन करने वालों की कितनी दुर्दशा है ? मिथ्याचारी, झूठे तथा पाखण्डियों का मान किस प्रकार बढ़ता जा रहा है ? नैतिकता का कितना पतन हो गया है, जीवन कितना कलुषित दुःखमय और अमानुषीय हो चला है, इसका चित्रण हम तुलसी के कलियुग-वर्णन में देखते हैं। जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि अपने समय का ही नहीं अपितु भविष्य का भी चितेरा होता है। राम-राज्य में सामाजिक

व्यवस्था कैसी थी ? किस प्रकार का शुद्ध आचरण लोग करते थे ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने २ धर्म के अनुकूल किस प्रकार चलते थे ? ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास वैदिक काल के इन चारों आश्रमों की व्यवस्था एक बार फिर कैसे प्रतिष्ठित हो गई थी ? धनी-निर्धन, छूत, अछूत, स्त्री और पुरुष आदि समस्याओं को राम के सुव्यवस्थित राज्य ने कैसे सुलझा दिया था ? लोग एक पत्नीव्रत का पालन किस प्रकार करने लगे थे ? और समाज तथा परिवार के सारे सम्बन्ध कितने उज्ज्वल और ऊँचे थे आदि २ बातों का चित्रण भी हम तुलसी के इस महान् ग्रन्थ में पाते हैं। नीचे की पंक्तियों में हमारे इस कथन की पूर्ति कितनी होती है ? इसका अनुभव पाठक स्वयं करें।

सब नर करहिं परस्पर प्रीति ।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति ॥

* * *

निज दुःख गिरिसम रजकरि जाना।
मित्र के दुःख रज मेरु समाना ॥

* * *

एक नारि-व्रत सब झारी ।
ते मन, वच, क्रम पति-हितकारी ॥

इधर कलियुग का चित्र भी देखिये—

बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति-विरोध रत सब नर नारी ॥

द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन ।
कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन ॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा ।
पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्या रंभ दंभ रत जोई ।
ताकहुँ संत कहहिं सब कोई ॥

नारी के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण बहुत ही ऊँचा और आदरपूर्ण रहा है । माता सीता के प्रति ही नहीं अपितु पार्वती, अनुसूया, कौशल्या, ग्राम-वधुओं, मन्दोदरी, सुलोचना आदि के प्रति भी उनका पूर्ण आदर भाव झलकता है, किन्तु नारी को जिस रूप में वे देखना चाहते थे वह अत्यन्त साधनामय और कष्ट-साध्य है। स्त्री को समाज में, परिवार में और अपने व्यक्तिगत जीवन में किस प्रकार रहना चाहिए ? इसका निदर्शन तुलसी ने सीता को अनुसूया के द्वारा उपदेश दिलवा कर किया है। अनुसूया के उपदेश में नारी के जो धर्म कहे गये हैं, वे समस्त नारी जाति के लिये ही नहीं अपितु समाज के लिए भी वरदान है। यदि नारी अपने आपको उस ढाँचे में ढाल ले तो सचमुच ही उसका कल्याण हो जाये और जिस समाज में नारी धर्म (सतीत्व) को परखने वाली स्त्रियाँ हैं, वह समाज किसी कालमें भी दूषित नहीं हो सकता। क्योंकि व्यक्ति, समाज और देश के निर्माण में नारी का बहुत महत्व पूर्ण स्थान है। कवि की निम्न पंक्तियों में नारी-धर्म की ऐसी ही उत्कृष्ट व्यञ्जना ध्वनित है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा, काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥
उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
सहज अपावनि नारि, पति सेवत शुभ गति लहइ ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥

उत्तम प्रकृति की नारी का तुलसी ने जितना गुणगान किया है, उतनी ही निकृष्ट प्रकृति की स्त्री की निन्दा भी की है। उनकी "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी" वाली उक्ति ऐसी ही स्त्रियों के लिये कही गई है। वैसे इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी के इस ताड़न शब्द में एक अति गूढ़ व्यंजना निहित है। नारी के लिए ताड़ना की आवश्यकता अवश्य है, किन्तु उसके लिए ताड़ना का अभिप्रायः ढोल और पशु की सी मारपीट से नहीं है, अपितु वह ताड़ना अतनु के कुसुम बाण की है। सचमुच ही नारी को प्रकृति ने पुरुष की इसी प्रताड़ना के निमित्त निर्मित किया है। इसकी मधुर चोट के बिना पुरुष का पुरुषत्व और नारी का नारीत्व सारहीन है। हमारा विचार है कि 'ताड़न' शब्द की इस प्रच्छन्न व्यंजना से कोई नारी असहमत नहीं हो सकती और इसीलिए वह ताड़न की वस्तु है। वैसे समाज में ऐसी स्त्रियों की भी कमी नहीं है कि जिनके लिए ढोल और पशु की सी ताड़ना भी कम होती है, किन्तु समस्त नारी जाति के लिए 'ताड़न' शब्द का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता।

हमारे सामाजिक जीवन की इकाई परिवार है और परिवारों का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है। व्यक्ति के समुचित निर्माण पर ही समाज और राष्ट्र का समुचित निर्माण सम्भव है, इस लिये तुलसी ने व्यक्ति और परिवार का ध्यान भी बहुत अधिक रखा है। भगवान् राम का पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन उतना ही समुज्ज्वल है, जितना कि सामाजिक और राजनैतिक। इसी तरह से अन्य पात्र भी व्यक्तिगत आदर्श की महानता लिये हुये हैं। लक्ष्मण और भरत भ्रातृ-स्नेह का उदाहरण उपस्थित करते हैं तो सीता एक आदर्श पत्नी का, राम एक आज्ञाकारी पुत्र का उदाहरण उपस्थित करते हैं, तो हनुमान सेवक और विभीषण-सुग्रीव मित्रता का। इसी प्रकार और पात्र भी अपनी २ विशेषतायें लिये हुये हैं, जिनमें हम वज्र की सी कठोरता और कुसुम की सी सुकोमलता साथ २ पाते हैं। दशरथ ने सत्य का पालन किया तो कौशल्या ने आदर्श सपत्नी के कर्तव्य का निर्वाहन करके एक अपूर्व आदर्श की प्रतिष्ठा की। सुमित्रा भी किसी पात्र से कम नहीं है और सबसे महत्वपूर्ण तथा मौन त्याग है उर्मिला का। उसके मौन बलिदान की ध्वनि तो कोई सुन ही नहीं सका। आधुनिक काल में कविवर मैथिलीशरण का ध्यान राम-चरित मानस के इस मूक पात्र की ओर अवश्य गया है तथा उन्होंने उसकी साधना, सहनशीलता और त्याग का चित्रण अपने साकेत में किया है, किन्तु तुलसी आदि भक्तों ने यों

उर्मिला के मौन रुदन में ही उसकी अपूर्व साधना का परिचय देना उपयुक्त समझा है।

तुलसी ने जैसे चरित्र से निर्मित व्यक्तियों और संगठित तथा सुव्यवस्थित परिवार की प्रतिष्ठा अपने रामचरित-मानस में की है, वह किसी भी समाज अथवा देश के गौरव को उन्नत करने में तथा पथ से विचलित व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन करने में चिरकाल तक उपयोगी रहेगी, यह बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है। राम-राज्य की सी व्यवस्था स्थापित करने की लालसा जो आदर्श लोगोंको समय२ पर होती रही है, उसका मुख्य कारण तुलसी की उपर्युक्त विशेषतायें ही हैं, जो समय २ पर हमारा मार्ग-दर्शन करती रही हैं तथा भविष्य में भी करती रहेंगी।

रामचरितमानस की धार्मिक विशेषता यह है कि इसमें स्वर्ग की छटा कहीं अन्यत्र न दिखाकर जीवन में ही उसका आभास दिखाया गया है। इसके अध्ययन से मनुष्य का मन किसी अज्ञात स्वर्ग के सुखों में न उलझ कर जीवन में ही स्वर्गीय सुखों की छटा लानेका इच्छुक होता है। इस में मनुष्य के शील गुण पर इतना अधिक बल दिया गया है कि इस अकेले शब्द में ही तुलसी ने अपनी सारी धार्मिकता समाहित कर दी है। वैसे उनका राम दशरथ-सुत होकर भी परब्रह्म का स्वरूप है और उन्होंने उसके निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप पर अधिक प्रकाश डाला है तथा उनकी

भक्ति का विषय भी ब्रह्म का सगुण रूप ही रहा है। वे एक सीधे-साधे भक्त के रूप में प्रभु से आत्म निवेदन करते हुए से प्रतीत होते हैं। राम के प्रति उनका सेवक और सेव्य भाव है। वे अपने आपको राम का सेवक मानकर अपनी दीनता को हनुमान और केवट आदि अनेक पात्रों के रूप में उनके संमुख व्यक्त करते हैं। भरत, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव और अंगद आदि पात्रों ने भी जहाँ-जहां पर राम के चरणों में अपनी अनन्य भक्ति की याचना की है, उनमें भी हमें तुलसी का याचक हृदय ही बोलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस ग्रंथ में तुलसी ने धर्म के उस रूप का निदर्शन किया है, जिसे लोक व्यवहार में कर्तव्य कहकर सम्बोधित किया जाता है। रामायण का प्रत्येक पात्र अपने कर्त्तव्य अथवा धर्म का पालन करने में तत्पर है। क्या स्त्री और क्या पुरुष, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी अपने कर्तव्य से उऋण होने के लिए प्राणों की आहुति देते हुए दिखाये गए हैं। धर्म का यह रूप कितना व्यवहारिक और मंगलमय है, इसका अनुमान बड़ी सरलता से लगाया जा सकता है।

तुलसी के 'मानस' पर जब हम साहित्यिक दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें उसमें उनकी बहुत सी विशेषतायें मिलती हैं। राम का जीवन वैसे पहिले बाल्मीकि जी अपनी रामायण में लिख चुके थे। उधर अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक और श्रीमद्भागवत आदि कुछ अन्य ग्रंथों में भी यह कथा वर्णित हो चुकी थी, किन्तु तुलसी ने इस प्राचीन कथानक को एक

नवीन रूप देकर इतने सुन्दर ढंग से चित्रित किया है कि वह लोक और अध्यात्म दोनों का विषय बन गया है। इसके साथ ही कल्पना और कला की भव्यता से भी उन्होंने इस कथानक को अलंकृत कर दिया है। उन्होंने इस चिरपरिचित कथा के अंतर्गत ऐसे मार्मिक स्थलों को ढूंढ़ निकाला है कि जहां पर भावुकता, कला और कल्पना ने सजीव रूप ले लिया है। राम और सीता का परस्पर दर्शन, पिता की आज्ञा पाकर राम का वन-गमन, चित्रकूट में भरत और राम का मिलन, सीता का हरण, लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर राम का विलाप और भरत का सिंहासन पर राम की पादुकायें रखना और वनमें राम के प्रति स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति आदि स्थल तुलसी ने इतने मार्मिक ढंग से चित्रित किए हैं कि जहाँ काव्य कला स्वयं बोलती हुई सी प्रतीत होती है। सीताहरण के समय जटायु का रावण के साथ युद्ध करना, राम का सीता के विरह में पशु-पक्षियों से उन्मादियों की भांति प्रवचन, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का साधारण व्यक्तियों की तरह प्रलाप करना, सीता का अशोक वृक्ष से अंगार माँगना आदि ऐसी घटनायें हैं कि जिनमें तुलसी का भावुक हृदय उमड़ कर बह निकला है। किन्तु विशेषता यह है कि मर्यादा का उल्लंघन वे किसी स्थान पर भी नहीं करते। मानव प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण, प्रेम की विह्वलता और आतुरता का वर्णन आदि सब कुछ वे ऐसी संयत और परिमार्जित भाषा में करते

हैं कि जहाँ अश्लीलता नाम मात्र को भी नहीं आ पाती। केवल शृंगार रस ही नहीं अपितु अन्य रसों का वर्णन भी वे ऐसी ही कुशलता के साथ करते हैं। भाषा पर उनका इतना सुन्दर अधिकार है कि जो विषय के अनुकूल स्वभावतः मधुर तथा कर्कश हो जाती है। तुलसी की भाषा सम्बन्धी यह विशेषता हम पहले लिख आये हैं।

तुलसी दास जी के विषय में स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रंथ में लिखा है—गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुकूल सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव जीवन में महत्त्व का अनुभव करती है।

इन पंक्तियों से बढ़कर तुलसी की विशेषताओं को अन्यत्र खोजना व्यर्थ है। आचार्य जी ने यहाँ संक्षेप में तुलसी की समस्त विशेषताओं पर प्रकाश डाल दिया है। वैसे तो तुलसी एक ऐसे कलाकार हैं कि जिनकी विशेषताओं की समाप्ति किसी काल में हो ही नहीं सकती। समय-समय पर अपनी बुद्धि और परिस्थितियों के अनुसार लोग उनकी वाणी की

महत्ता को परखेंगे और उसमें से जीवन सत्य की खोज कर अपना नव निर्माण करेंगे, क्योंकि तुलसी की वाणी ऐसी है ही नहीं कि जो किसी काल में जीवनोपयोगी न रहे। जीवन के जिन तथ्यों का प्रकाशन तुलसी ने किया है, वे जीवन-शास्त्र की उस चिरन्तन कसौटी पर कसे हुए हैं कि जिनका किसी काल में भी निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिए तुलसीदास भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के महान् कवियों में अग्रणी और अमर हैं।

इस शाखा के अन्य कवि स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान और हृदयराम हुये हैं। इनकी वाणी की विशेषता तुलसी के समान तो नहीं कही जा सकती, हाँ राम-की अर्चना में इन भक्तों ने भावों की जो कुसुमाञ्जलियां अर्पित की हैं, वे साहित्य का विषय तो हैं ही, साथ ही राम भक्ति की शृंखला की कड़ियां भी जोड़ती हैं। इन कवियों के जीवन और रचित ग्रंथों का परिचय निम्न प्रकार है—

स्वामी अग्रदास—ये संवत १६३२ के लगभग वर्तमान थे। इनके गुरु का नाम कृष्णदास पयहारी था। गलता (जयपुर) में ये भी रहा करते थे। इनकी लिखी हुई चार पुस्तकें प्राप्त हुई हैं (१) हितोपदेश उपखाना बावनी (२) ध्यान मञ्जरी (३) राम ध्यान मञ्जरी और (४) कुण्डलियां। अपने इन चारों ग्रंथों में राम के कथानक को आधार मान कर इन्होंने

कृष्णभक्त कवियों की सी शैली में राम-जीवन का गुणगान किया है।

नाभादास—ये संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे। स्वामी अग्रदास जी इनके गुरु थे। इन्होंने संवत् १६४२ के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भक्तमाल की रचना की थी। इसमें इन्होंने ३१६ छप्पयों में दो सौ भक्तों के चमत्कार पूर्ण चरित्रों का वर्णन किया है। भक्तों के जीवन-वृत्त को न लेकर इन्होंने उनकी केवल भक्ति-महिमासूचक बातों का ही वर्णन किया है। इनके ऐसा करने से साधारण लोगों में भक्तों के प्रति पूज्य भावना का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

इनके विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार ये तुलसीदास जी से मिलने काशी आये थे। उस समय तुलसीदास जी प्रभु-अर्चना में मग्न थे, इनसे न मिल सके। तब ये बिना मिले ही वृन्दावन चले आये। यहाँ आकर इन्होंने वैष्णवों का एक भंडारा किया, जिसमें तुलसीदास जी बिना बुलाये ही सम्मिलित हुए और साधुओं की मण्डली में न बैठकर दूर एक किनारे पर बैठ गये। गुसाईं जी ने ऐसा इसलिये किया था कि कहीं नाभादास जी ने उन्हें अभिमानी न समझा हो। नाभादास ने भी जान बूझकर इनकी ओर ध्यान नहीं दिया। जब भोजन परसने का अवसर आया तो तुलसी दास जी को खीर परसने के लिये कोई पात्र न मिला। इस पर तुलसीदास जी एक साधु का जूता उठा लाये और बोले कि इससे सुन्दर पात्र मेरे

लिए और क्या होगा ? तब नाभादास जी ने गद्-गद् होकर इन्हें गले से लगा लिया।

अपने भक्त माल ग्रन्थ में इन्होंने तुलसी दास जी के विषय में एक छप्पय इस प्रकार लिखा है—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अक्षर उच्चरे ब्रह्म-इत्यादि-परायन ॥
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
राम-चरन-रस मत्त रहत अह निसि व्रतधारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो ॥

ब्रजभाषा गद्य और रामचरित मानस की शैली पर दोहा चौपाइयों में इन्होंने दो अष्टयाम भी लिखे हैं, जिनमें इन्होंने राम की भक्ति पद्धति और महिमा का वर्णन किया है।

प्राणचन्द चौहान—इन्होंने संवत् १६६७ में संवाद पद्धति पर रामायण महानाटक लिखा था, जिसमें रामचरित को कथानक रूप में लिया गया है। इसकी रचना शैली निम्न प्रकार है—

संवत् सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा ॥
जो सारद मक्ता कर दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया ॥

हृदयराम—ये पंजाब निवासी थे। इन्होंने संवत् १६८० में हनुमन्नाटक की रचना की थी। जो संस्कृत के हनुमन्नाटक के ढंग पर संवाद पद्धति में लिखा गया है। कवित्त और

सवैयों में रामजीवन सम्बन्धी बड़ी सुन्दर तथा परिमार्जित कवितायें इन्होंने इसमें लिखी हैं। तुलसीदास जी ने काव्य की सभी शैलियों में रामचरित को लिखा था, किन्तु नाटक के रूप में उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी थी। आगे जब हिन्दी में रामभक्ति का प्रचार हुआ तथा राम के जीवन पर काव्य रचना करने की पद्धति का पूर्ण प्रसार हो गया तो कुछ भक्तों ने नाटकीय ढंग से भी राम-कथा का गुण गान किया। जिन में मुख्य स्थान हृदयराम जी के 'हनुमन्नाटक' का है। इसमें कहीं-कहीं पर संवाद रूप में हृदयरामजी ने बड़े ही मार्मिक छंद लिखे हैं। नीचे उनका एक सवैया उद्धृत किया जाता है-

घहो हनू कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही ?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही।।
जीवित है ? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमते बिछुराँहीं ?
प्रान बसे पद पंकज में, जम आवत है पर पावत नाहीं॥

हृदयराम जी के इस सवैये में कोरा संवाद का ही चमत्कार नहीं है, अपितु कविता की सरस अभिव्यंजना भी स्पष्ट है। राम की इस शंका का समाधान कि सीता उनसे बिछुड़ कर मर क्यों नहीं गई, हनुमान जी ने 'प्रान बसै पद पंकज में, जम आवत है पर पावत नाहीं' इस पंक्ति में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। 'जीवित है ? कहिबेई को नाथ' इन शब्दों से सीता की अनन्य पति-भक्ति का बोध होता है। सीता के प्राणों का राम के पद-पंकज में रहना, उसके प्रेम की पावनता

का द्योतक है। जिसके प्राण ही अपने प्रेमास्पद के चरणों में बस गये हों, उसके मृतप्राय शरीर को यम मार ही कैसे सकता है? क्योंकि जिन प्राणों का हरण यम को करना है वे तो वहाँ हैं ही नहीं; इसलिये बेचारा असमर्थ है। प्राणहीन शरीर का क्या करे?

राम-भक्ति शाखा की धाराका अन्त यहीं नहीं हो जाता। आगे भी यह धारा चलती रहती है। कृष्ण-भक्ति का प्रचार हो जाने पर इसकी गति में कुछ शिथिलता अवश्य आ जाती है, जिसके कई कारण हैं। मुख्य कारण राम भक्ति का आदर्श रूप होना है। राम के भक्तों ने जीवन के जिस आदर्श रूप का चित्रण किया है, लोक-प्रेम की ज्वाला में जलने वाले प्राणियों के लिए वह उतना ही दुःसाध्य है, जितना कि निर्गुणियों का ज्ञान। यही कारण है कि जब विष्णु की प्रेम-प्रधान भक्ति का प्रचार हुआ तो राम की आदर्श भक्ति शिथिल हो गई। इसलिए विष्णु के अवतार कृष्ण के प्रेम-रूप को लेकर जितना काव्य लिखा गया, उतना राम के आदर्श रूप को लेकर नहीं।

कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि राम के चरित्र पर तुलसी के व्यक्तित्व की जो छाप लगी थी, वह किसी काल में भी दूर नहीं हो सकी। केशव ने रामचन्द्रिका राम के जीवन पर लिखी। यह समय घोर शृंगारिक कविता का समय था और केशव भी एक शृंगारिक कवि थे, किन्तु फिर भी उन्होंने राम

के आदर्श रूप का पूर्ण निर्वाह किया। उनके मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप को विकृत करके उपहास के पात्र वे नहीं बने। इसके अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी राम के चरित्र की पावनता को दूषित करने का प्रयत्न कभी नहीं किया, यह सब तुलसी की साधना और अनन्य भक्ति भावना का ही फल है।

वर्त्तमान कालमें मैथिलीशरण गुप्त और स्व० अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि कुछ कवियों ने राम-जीवन पर बृहद् आकार के काव्य ग्रन्थों की रचना करके तथा राम के लोकहितकारी, मानवीय और दैवी रूपों का चित्रण करके अपार ख्याति प्राप्त की है, जिसका विवेचन आगे चलकर आधुनिक काल में किया जायेगा।
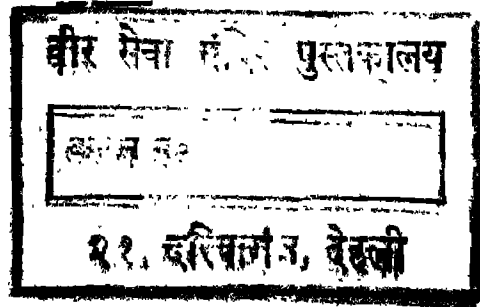
कृष्ण-भक्ति-शाखा

सामान्य परिचय में इस शाखा के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जा चुका है, यहाँ पर प्रमुख कृष्ण भक्त कवियों और उनकी कृतियों का विवेचन किया जायेगा:—

श्रीवल्लभाचार्य—हिन्दी में कृष्ण-काव्य की परम्परा प्रचलित करने का सारा श्रेय स्वामी वल्लभाचार्य जी को ही है। इनका जन्म संवत् १५३५ और गोलोकवास संवत् १५८१ में हुआ था। ये वेद-शास्त्र के परम विद्वान थे। इन्होंने सारे संसार को ब्रह्म की लीला का क्षेत्र माना है। इनके दार्शनिक विचारों का विवेचन करतेहुये आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने लिखा है—

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुये, सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था, जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती थी। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म मानें। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूप जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव

की अचिन्त्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। वह अपने सत् चित् और आनन्द, इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है पर आनन्द का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव, माया कोई वस्तु नहीं।

श्री कृष्ण ही पर ब्रह्म हैं, जो सब दिव्य गुणों से सकल होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनन्द का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलायें नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए "व्यापी वैकुण्ठ" में जो विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर है। अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी वैकुण्ठ का एक खंड है, जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज, इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान् की इस 'नित्य-लीला-सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सब से उत्तम गति है।

इस प्रकार ब्रह्म के साकार रूप को पारमार्थिक रूप मान कर वल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेम-प्रधान-भक्ति का निरूपण किया। इसके लिए उन्होंने लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादा दोनों के त्याग पर बल दिया है। उनका सिद्धान्त है कि इस प्रेम-लक्षणा-भक्ति की ओर जीव उसी समय प्रवृत्त होता है, जब ...न् उस पर अनुग्रह करते हैं। इस अनुग्रह को उन्होंने

पोषण या पुष्टि कहा है और इसलिये अपने मार्ग का नाम पुष्टिमार्ग रखा है। वल्लभाचार्य की इस प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रचार बहुत कुछ सूफी मत की प्रेम पद्धति के अनुसरण पर हुआ था। उस समय की हिन्दू जनता प्रभु के प्रेम-प्रधान स्वरूप के लिये भटक रही थी, जिसकी पूर्ति के लिए उसका सूफी मत की ओर झुक जाना बहुत कुछ सम्भाव्य था, किन्तु वल्लभाचार्य जी ने ठीक अवसर पर समाज रुचि को पहचाना। वे कृष्ण के शिशु और युवक रूप पर आकर्षित हुये, क्योंकि सौंदर्य और माधुर्य की धारा का सात्विक और मादक प्रवाह इन्हीं दो अवस्थाओं में मनुष्य में बहता है निराश हिन्दू जनता ने जब अपने भगवान् में सौंदर्य और माधुर्य की पावन छवि का दर्शन किया तो उसकी सारी विरक्ति जाती रही। जीवन के लिए एक नया आकर्षण उसमें उत्पन्न हुआ और वह कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला का सुन्दर-दृश्य देखने में तल्लीन हो गई।

भगवान् के इस माधुर्य और सुन्दरता पूर्ण रूप के आकर्षण का दूसरा कारण राजनैतिक भी था। इस काल में मुस्लिम सत्ता सुदृढ़ स्थिति में थी। मारकाट की कोई आवश्यता नहीं रह गई थी। जीवन में उल्लास और आकर्षण था। प्रत्येक वस्तु का मधुर रूप ही उस समय का प्राणी अनुभव कर रहा था, असुन्दर की ओर उसका ध्यान जाता ही नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में सौंदर्य-आकर्षण की प्रसुप्तभावना

आग उठी थी। मुगलराज्य-काल का यह वह समय था जब कि नाना ललित कलाओं के विकास की ओर शासकों का ध्यान झुका हुआ था। उधर सूफी मत और कबीरपंथ ने भी भगवान् के प्रेमरूप की मदिरा आम जनता को पिलाकर आत्मविभोर कर दिया था। इस तरह उस समय राजनैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार की अवस्थायें माधुर्यभाव की भक्ति के अनुकूल थीं। वल्लभाचार्य जी ने अपने समय की इन परिस्थितियों के बहुत कुछ अनुकूल ही अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने भारत भर में घूम २ कर जनता को उपदेश दिये, विद्वानों से शास्त्रार्थ किये, कृष्ण को अपना उपास्यमान कर, उनकी जन्मभूमि ब्रज में अपनी गद्दी स्थापित की, गोवर्धनपर्वत पर श्री नाथ जी का एक विशाल मन्दिर बनवाया, तथा भोग,राग और विलास की सामग्री को उपासना के अंग का रूप देकर अनेक सेवक सेविकाओं को कृष्ण की सेवा में निहित कर दिया, जो श्री कृष्ण के बालरूप और यौवनरूप को लेकर प्रेमसंगीत की मधुर धारा बहाने लगे। सभी भक्तों ने कृष्ण के प्रेम रूप को लिया, उनका लोकरक्षक और धर्म संस्थापक रूप उनके गीतों में स्पष्ट नहीं हो सका, जिसके फल स्वरूप राधा-कृष्ण और नाना गोपियों की प्रेम लीलाओं का चित्रण ही अधिक हो पाया है। जीवन के अन्य सम्बन्ध और स्वरूप सब यों ही छूट गये।

वल्लभाचार्य जी के लिखे हुए पाँच ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं (१)

पूर्व मीमांसा भाष्य (२) अणुभाष्य (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका और सुबोधनी टीका (४) तत्त्व दीपनिबन्ध (५) सोलह छोटे २ प्रकरण ग्रन्थ। इन ग्रन्थों में वल्लभाचार्य जी ने अपने मत की पुष्टि और विवेचना करते हुए अपने गूढ़ दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया है स्वा० वल्लभाचार्य जी का स्थान एक धर्माचार्य के रूप में ही अधिक महत्त्व का है। कवि के नाते से उन्हें कोई ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं है। उनके शिष्यों में भक्ति और काव्य की मधुर धारा बहाने वाले कवि 'सूरदास' हुये हैं। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि भी यही हैं।

सूरदास—कृष्ण-भक्तों की परम्पार को विकसित करने वाले तथा कृष्ण की प्रेम-प्रधान भक्ति की अविच्छिन्न धारा को हिन्दी में प्रवाहित करने वाले कविवर सूरदास आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे। यहीं पर एक बार इनकी भेंट स्वामी वल्लभाचार्य जी से हुई। इन्होंने उनको कृष्ण की भक्ति से भरा हुआ अपना एक पद गाकर सुनाया, जिसे सुनकर स्वामी जी बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया तथा भागवत की कथा को गानेके योग्य पदों में लिखने को कहा। इनका स्वामी वल्लभाचार्य जी का शिष्य होना सम्वत् १५८० के आस पास माना जाता है। जिस समय इनकी भेंट स्वामी जी से हुई तो ये अन्धे थे। इनके इससे पूर्व के जीवन के विषय में कुछ ठीक ज्ञात नहीं है।

बिल्व मंगल नाम के एक सूरदास की कथा कभी २ इनके जीवन के साथ जोड़ी जाती है। उस कथा के अनुसार इनका प्रेम सम्बन्ध एक अपूर्व सुन्दरी वेश्या के साथ दिखाया जाता है। जिसके प्रेम में अन्धे होकर ये एक बार उसके पास बड़ी नदी को पार करके पहुँचे थे। वहां जब इन्हें उसका द्वार बन्द मिला तो ये साँप को रस्सी समझ कर उसके सहारे से ऊपर चढ़ गए और रात मेंही इन्होंने उससे भेंट की। उस वेश्या ने जब इनकी इस अन्धानुरक्ति को देखा तो वह प्रसन्न होने की अपेक्षा इन्हें उपदेश देने लगी और उसने इनका अनादर भी किया। तबसे विरक्त होकर ये इधर-उधर फिरने लगे। कहते हैं-एक बार एक अति सुन्दरी रमणी को देख कर ये सारा दिन उसके द्वार पर बैठे रहे और जब उस रमणी का पति घर पर आया तो इन्होंने उससे अपनी इच्छा प्रकट की। वह व्यक्ति साधु-सेवा में तत्पर था, उसने द्वार पर आये हुये इस साधु की भोगलिप्सा की भीख को स्वीकार कर अपनी पत्नी को इच्छापूर्ति के लिये इनके पास भेज दिया। पति की सेवा और आज्ञा-पालन में निरत उस रमणी ने जब सूर को प्रेम-भाव से सम्बोधित किया तो ये दम्पति की महान साधु-भक्ति से लज्जित होगये तथा इन्होंने अपनी आँख फोड़ली। यह कथानक सूर के जीवन का है या नहीं, इस विषय में कुछ निर्णय नहीं हो सका है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास थे एक प्रेमी-जीव ही। सचमुच ही इनका मन हृदय की तीखी चोट

तक लौकिक प्रेम में डूबा रहा होगा, क्योंकि प्रेम-रस की जो धारा इनके पदोंमें प्रवाहित हुई है, वह भी इनके इस प्रेमी हृदय का पूर्ण परिचय देती है। परकिया प्रेम की जिन तीव्र अनुभूतियों का प्रकाशन इनके पदों में हुआ है, उनमें इनके जीवन का अंश कितना है? यह कहना तो कठिन है, किन्तु परकिया प्रेम की तीखी चोट से इनका हृदय पीड़ित हुआ था, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। संयोग और वियोग श्रृंगार के दोनों ही पक्ष सूर ने जिस कौशल के साथ लिखे हैं वे इसका पूर्ण आभास देते हैं कि सूर का हृदय इन दोनों पक्षों के रंग में पूर्णतः रंगा हुआ था, उसमें विरह की अनुभूतियाँ भी उतनी ही तीव्र और सजीव थीं जितनी कि मिलन की।

सूरदास जन्म के अन्धे थे या नहीं इसमें बड़ा मतभेद है। हमारे विचार से ये जन्म के अन्धे नहीं थे। इसका समर्थन इनके पदों से भी बहुत कुछ होता है। यदि हम इन्हें जन्म का अन्धा मानते हैं तो जिस प्रकार की बाललीलाओं का सजीव वर्णन इन्होंने किया है, वह संभव नहीं ठहरता। जन्म से अन्धा शिशु न तो स्वयं बाललीलायें कर पाता है और न अन्य शिशुओं की बालक्रीड़ायें देखने का अवसर ही उसे प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति की यह दशा हो, वह इतनी सुन्दर बाललीलायें लिख सकेगा, यह सत्य की कसौटी पर नहीं उतरता। इसके अतिरिक्त कुछ रंगों का वर्णन भी सूरदास ने

किया है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि सूरदास जन्म के अन्धे नहीं थे। यदि हम यह मानते हैं कि सूरदास ने किसी रमणी विशेष पर आसक्त होकर अपनी आंखें फोड़ली थीं तो यह भी ठीक नहीं जँचता क्योंकि सूर ने एक स्थान पर प्रभु को अपने नेत्रहीन होने का उलाहना दिया है—

मित्र सुदामा कियो अजाचक प्रीति पुरातन जानि।
'सूरदास' सों कहाँ निठुराई नैननि हूं की हानि॥

ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि सूर की आँखें बड़ा होने पर ही किसी रोग विशेष के कारण जाती रही होंगी? कुछ भी हो नेत्रहीन सूरदास के ज्ञान-चक्षुओं के खुलजाने पर लौकिक चर्म चक्षुओं से देखा हुआ उनका समस्त जगत् ही परिवर्तित हो जाता है, जिसका स्वरूप हमें उनके लिखे हुए अनेक पदों में देखने को मिलता है।

इनका जन्म काल संवत् १५४० और मृत्युकाल १६२० के लगभग माना जाता है। इनके जीवन चरित्र के साथ सूरदास नाम से मिलने वाले अन्य व्यक्तियों के जीवन चरित्र भी इधर-उधर लोगों ने जोड़ दिए हैं। इसलिए कोई संतोषजनक जीवन वृत्त इनका उपलब्ध नहीं होता। इनके जीवन के विषय में हमने जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध इनके वर्णित विषय से बहुत कुछ है, किन्तु तथ्य की कसौटी पर वह ठीक है या नहीं। यह नहीं कहा जा सकता। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य थे और वल्लभस्वामी के पुत्र स्वामी विट्ठल नाथ जी ने

अष्टछाप नाम से आठ कृष्ण भक्त कवियों में इन्हें प्रमुख स्थान दिया था, यह प्रामाणिक रूप से सिद्ध है। इनके लिखे हुए सूर सागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी नाम के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिसमें श्रेष्ठता सूरसागर की ही है। सूरसारावली में इन्होंने सूरसागर की विषय सूची सी दी है तथा साहित्य लहरी में सूर सागर में आये हुए कूट पदों का संग्रह किया गया है। इसमें इनका पाण्डित्य प्रदर्शित हुआ है।

सूरसागर—इस ग्रंथ का आधार भागवत पुराण है, किन्तु इसे हम उसका अनुवाद नहीं कर सकते। इसमें भागवत के दशम-स्कंध की कथा ही ली गई है। वह भी किसी क्रमिक रूप में नहीं है, वरन् मुक्तक पदों में कृष्ण की विनय, बाललीला, प्रेम-लीला, गोपियों का विरह, भ्रमर-गीति रास-लीला और माखन-लीला आदि प्रसंगों पर गाने के योग्य पद लिखे गये हैं। जिनमें कृष्ण का बालरूप और प्रेम-रूप ही प्रकाश में आया है। महाभारत के नीति-निपुण, लोक नेता के रूप में हमें कृष्ण सूर के इन पदों में दिखाई नहीं देते कहीं पर तो सूर उनसे अपने उद्धार के लिए विनय कर रहे हैं, और कहीं पर वे माखन चुराकर तथा नाना प्रकार की बाल-लीलायें करके समस्त गोपी जनों का मनोरंजन कर रहे हैं। कहीं माता यशोदा और नन्द से बाल-हठ कर रहे हैं और कहीं पर गोपियों के साथ रास-लीला रचाकर उनका मन हर रहे हैं। कहीं गऊओं के साथ विचरण करते हुए समस्त प्रकृति

को उल्लसित हुआ देख रहे हैं और कहीं ब्रज की रक्षा के लिए धेनुक जैसे राक्षसों, और कालिया नाग जैसे सर्पों का विनाश कर रहे हैं। कहीं पर गोवर्धन पर्वत को छिगुनी पर उठाकर सारे ब्रज की इन्द्र के प्रकोप से रक्षा कर रहे हैं, ऐसे स्थलों पर सूर के पदों में हमें कृष्ण का लोक-हितकारी रूप भी दिखाई देता है, किन्तु बहुत कम। अधिकतर पद शृंगार और विनय के ही हैं।

वास्तव में श्रीनाथ जी के मंदिर में सूर अपने बनाये हुये पदों को कृष्ण की मूर्ति के सामने गाया करते थे, जिनमें कृष्ण-जीवन की उन लीलाओं का चित्रण होता था जो कि उन्होंने बाल्यकाल और यौवनकाल में की थीं। कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण के इन्हीं दो रूपों को लेकर चले थे। इसीलिये इन्होंने जितना प्रकाशन कृष्ण के इन दो रूपों का किया है, उतना अन्य रूपों का नहीं। सूर से पहिले विद्यापति भी इस प्रकार के कुछ पद लिख चुके थे, किन्तु उनमें भक्ति की भावना उतनी प्रबल नहीं थी, जितनी कि सूर के पदों में मिलती है।

इनका सूर-सागर मानव-जीवन की शैशव और यौवन दोनों दशाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित करता है। इन दोनों दिशाओं में सूर की समता करने वाला कोई भी कवि नहीं है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन करते हुए इन्होंने केवल बच्चों के खेल-कूद ही नहीं दिखाये हैं, अपितु बाल-मनोविज्ञान के सूक्ष्म-चित्र भी अङ्कित किये

हैं। इन्होंने माता-पिता और पुत्र तीनों के हृदय का एक सजीव चित्र खींचा है। उनकी बाल-लीलाओं को पढ़कर नर, नारी, बाल, वृद्ध सभी समान आनन्द लेते हैं। माता यशोदा ने बड़ी साधना के पश्चात् पुत्र पाया है, वह रात-दिन उसके लिये मंगल कामनायें करती है। उसने अनेक प्रकार के चित्र अपने मन में संजोये हुये हैं—उसका लाल घुटनों चलेगा, उसे माता कहकर पुकारेगा, ठुमुक-ठुमुक चाल से आंगन में घूम फिर कर सब का मन हर लेगा, माखन रोटी माँगेगा, वह उसे धमकायेगी, उबटन मलेगी, उसकी चोटी गूँथेगी और उस पर न्यौछावर होगी। इसी प्रकार की अनेक अभिलाषायें यशोदा करती है, जिनमें उसके मातृ-हृदय की पूर्ण स्वाभाविकता है। प्रत्येक माता शिशु के लिये इसी प्रकार की कल्पनायें करती है।

किन्तु कृष्ण बड़ा नटखट शिशु है। केवल नन्द और यशोदा को ही नहीं, अपितु सारे ब्रज को ही वह अपनी लीलाओं से मुग्ध कर लेता है। ग्वाल बाल और गोपियाँ तो उसका साथ ही नहीं छोड़तीं। वे ब्रज की गलियों में खेलते फिरते हैं, ग्वालिनों का मक्खन चुराकर खा जाते हैं नहीं-नहीं वे केवल शिशु ही नहीं रहे, वरन् किशोर हो चले हैं। गोपियों को उनकी क्रीड़ाओं में विशेष आनन्द आने लगा है। वे किसी भी बहाने से उनसे बातें करना चाहती हैं। सारा मक्खन बखेर देने पर अथवा सखाओं को बांट देने पर भी उनके मुख से उस के लिए अप-

शब्द नहीं निकलता। कभी-कभी तंग होकर वे माता यशोदा से उनकी शिकायत करती हैं, किन्तु कृष्ण इतने चतुर हैं कि माता के सामने उनकी एक नहीं चलने देते। दधि-माखन चुराते हुये ऐन मौके पर पकड़े जाने पर भी वे कोई न कोई ऐसी युक्ति सोच लेते हैं कि साफ बच जाते हैं। गोपियाँ उन की चालाकियों पर मुग्ध होकर अपने आपको न्यौछावर करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पातीं। नीचे सूर का एक ऐसा ही पद दिया जाता है, जिसमें कृष्ण अपनी चतुराई से एक मतवाली गोपी का मन हर लेते हैं—

चोरी करत कान्ह धरि पाये

निसि बासर मोंहि बहुत सतायो अब हरि हाथहिं आये
माखन दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्हीं।
अब तो आइ परे हो लालन, तुम्हें भले मैं चीन्ही॥
दोऊ भुजा पकरि कह्यो-कित जैहौ माखन लेऊँ मंगाई।
'तेरी सौं, मैं नेक न खायो सखा गये सब खाई'॥
मुख तन चितै बिहँसि हँस दीन्हौं, रिस तब गई बुझाई।
लियो उर लाई ग्वालिनो हरि को, 'सूरदास' बलि जाई॥

इसके अतिरिक्त इस प्रकार के अनेक पद भी सूर ने लिखे हैं, जिनमें कि कृष्ण हमें साधारण शिशुओं की तरह बाल-क्रीड़ायें करते हुये दिखाई देते हैं। उनकी बालक्रीड़ाओं की यह विशेषता है कि उनमें उनका कृष्णत्व छुपा हुआ है। ब्रज में अन्य बालक भी बहुत से दिखाये गये हैं, कितनों

तो कृष्ण से निकट सम्बन्ध दर्शाया गया है। किन्तु जो चतुराई कृष्ण में है, वह अन्य बालकों में नहीं। अपने बाल्यकाल में ही उन्होंने ऐसे २ कार्य किए हैं कि जिनके कारण सारे ब्रज-मंडल पर उनके ईश्वरत्व की धाक बैठ जाती है। उनकी बालक्रीड़ाओं के लिए सभी नर-नारी तड़फते हैं। गोपियाँ तो उन पर विशेष रूप से प्राण देती थीं। अपनी किशोरावस्था में ही वे उनको मुग्ध कर लेते हैं, किन्तु उनका विशेष आकर्षण राधा के प्रति रहता है। यह राधा कौन है? बरसाने के वृषभानु की लड़की। जब कृष्ण पहली बार इस का दर्शन करते हैं तो वे इसकी सुन्दरता को देख कर मुग्ध हो जाते हैं तथा पूछते हैं—

बूझत श्याम कौन तू गोरी?
कहाँ रहति काकी बेटी है, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रजतन आवति खेलती रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति स्रवननि नंद ढोटा करत रहत दधि माखन चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरी हम लैहैं खेलन चल्यो संग मिलि जोरी।
'सूरदास' प्रभु रसिक शिरोमणि बातन भुरई राधिका भोरी॥

कृष्ण ने अब तक जिन गोपियों को देखा था, उनमें कोई भी इतनी सुन्दरी नहीं थी, जितनी कि राधा! इसलिए उन्होंने राधा का परिचय पूछा। राधा ने भी बिना किसी झिझक के कृष्ण को दधि-माखन की चोरी का व्यंग्य करके उत्तर दिया कि हम ब्रज में किस लिए आतीं, यहां तो चोर रहते हैं। किन्तु कृष्ण बड़े चतुर हैं, जो माता यशोदा को पीठ के पीछे दोना

दुराकर माखन न चुराने का सबूत दे देते हैं और बड़ी २ चतुर गोपियों को अपनी वाक् चातुरी से जीत लेते हैं, उनके सन्मुख वनमृगी के समान सरल-हृदया राधा की क्या पार बसा सकती थी ? उन्होंने राधा को तुरन्त उत्तर दिया 'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं' और बेचारी सरला राधा रसिक शिरोमणि की यह बात सुनते ही उनके बहकावे में आ गई, उनके साथ खेलने के लिए लता कुंज में चलदी। फिर इस प्रेम-मिलन के पश्चात् कृष्ण ने राधा को अपने घर आने के लिए जिन आतुर शब्दों में कहा वे भी पढ़ते ही बनते हैं—

खेलन कबहुँ हमारैं आवहु, नन्द-सदन-ब्रज गाऊँ।
द्वारैं आय टेरि मोहिं लीजौ, कान्ह हमारौ नाऊँ॥

बाद में कृष्ण और राधा एक दूसरे के हो जाते हैं। वे दोनों प्रति दिन एक दूसरे को मिलते हैं, इससे सारे ब्रज को उन पर संदेह होने लगता है किन्तु उनके प्रेम-सम्बन्ध को कोई भी छिन्न नहीं कर पाता। इसका एक मात्र कारण राधा और कृष्ण के प्रेम की वह अनन्यता, विशुद्धता और गम्भीरता है कि जिसमें वासना का नाम तक नहीं, राधा सौंदर्य और प्रेम की प्रतिमा है, वह वासनात्मक मिलन के लिए कभी बेचैन नहीं होती उसकी बेचैनी कृष्ण के प्रेम की उस पवित्रता स्निग्धता और स्पृहणीयता के लिए है, जो उसके रोम २ में समा गई है। वह प्रेम की दिव्य-ज्योति है, उसका प्रेम शैशव की क्रीड़ास्थली से उठकर यौवन के चरम बिन्दु तक पहुँचता है, किन्तु उसके

किसी कोण में भी वासना की कलुषितता नहीं है। उसके स्नेह की स्निग्धता यौवन काल में प्रेम की लुनाई का रूप अवश्य धारण करती है, परन्तु विशेष गरिमा के साथ। यही कारण है कि उसका प्रेम कोरा प्रेम न रहकर भक्ति का रूप ले लेता है और केवल राधा ही नहीं वरन् सारा ब्रज ही अपने-आप को राधा रूप में अनुभव करने लगता है।

सूर का यह प्रेम-कौशल सचमुच ही प्रशंसनीय है। तरुणावस्था के प्रेम को भक्ति का रूप देना साधारण काम नहीं है। प्रेम के बड़े २ चितेरे यहां पहुँच कर भूल कर जाते तथा उपास्य और उपासक की वासनात्मक आँखमिचौनी के चित्र खींच बैठते हैं, किन्तु सूर के पदों में ऐसा नहीं हुआ निस्संदेह-मिलन चित्रों में उन्होंने भी राधा की नीवी पकड़वाई है, चुम्बन, आलिंगन और उरोज-मर्दन आदि व्यापारों का वर्णन किया है और बादलों की घटा में अभिसार के लिए भी वे अपने आराध्य देव को ले गए हैं, किंतु उनके इन अभिसारों में, प्रेम के प्रतीकवत् व्यापारों में भक्ति भावना की ऐसी पुट है कि पाठक में वासना का उद्रेक होता ही नहीं, वह भगवान् की रहस्यमय लीलाओं का आभास ही उन में पाता है। क्योंकि कृष्ण की मिलन-लीलाओं के ये चित्र, रास-रंग की चहल-पहल, यमुना के पुष्पित लता-कुंजों और मुरली की मादक स्वर लहरी से गुंजायमान ब्रजमंडल में जिस समय खींचे जाते हैं, तब कृष्ण की आयु केवल १४ वर्ष की होती है। इतनी

आयु के किशोर की प्रेम लीलाओं में वासना की कर्दम और स्त्रैणता की कालिमा का आना वैसे भी अस्वाभाविक है। चौदह वर्ष की आयु तक तो उस समय के बालक यह भी नहीं जान पाते थे कि नारी का पुरुष के साथ कोई वासनात्मक सम्बन्ध भी होता है, इसलिए भावुक सूरदास के ये चित्र प्रतीकवत् हैं गोपियों का कृष्ण के प्रति जो प्रेम था वह इस लिए भी कि कृष्ण एक विलक्षण प्रकृत्ति के प्रतिभा और शक्तिसम्पन्न शिशु थे। उनकी चपलता और बालसुलभ कौतुहल ने उनका मन आकर्षित कर लिया था। इसके अतिरिक्त कृष्ण पूतना नाम की राक्षसी, कालियानाग, धेनुक और केशी आदि राक्षसों का बध करके तथा इन्द्र के प्रकोप से समस्त ब्रजवासियों की रक्षा करके अपनी अवतार-शक्ति का परिचय दे चुके थे। यही कारण है कि कृष्ण के मथुरा चले जाने पर सारी ब्रजभूमि ही उनके विरह में बेचैन हो जाती है

सूर ने जिस ढंग से ब्रजमंडल की वियोगावस्था का चित्र खींचा है, वह शृंगार के वियोग पक्ष के अन्तर्गत आता है। वैसे सूर का यह विरह-वर्णन वात्सल्य के वियोग रूप में भी चित्रित हुआ है। माता यशोदा, नन्द तथा अन्य गोपों को कृष्ण के बिछुड़ने का जो दुःख होता है, वह वात्सल्य के वियोग पक्ष का ही कहा जा सकता है। सूर का यह वियोग-वात्सल्य भी मिलन-वात्सल्य से कहीं अधिक तीव्र है। इसमें मातृ-हृदय, पितृ-हृदय और पुत्र-हृदय तीनों का तपकर

निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है। वात्सल्य का वियोग पक्ष शृंगार के वियोग पक्ष से कहीं अधिक विशुद्ध स्वाभाविक और निश्छल होता है। सचमुच ही हमें सूर के इस वर्णन में मात-पिता के हृदय की अपूर्व उत्सुकता, वेदना और बेचैनी का पता लगता है। इसके आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संसार में यदि कोई एकान्ततः विशुद्ध सम्बन्ध है तो वह सन्तान और माता-पिता का। प्रेम के बाद वात्सल्यभाव का सम्बन्ध ही हमारी दृष्टि से मानव का सब से बड़ा आकर्षण है। सूर ने अपने पदों में इस आकर्षण की कितनी पावन अभिव्यक्ति की है, इसका अनुभव उनके वात्सल्य रस से पूर्ण पदों को पढ़कर किया जा सकता है। माता यशोदा अपने पुत्र कृष्ण के वियोग में बेचैन होकर पथिक को जो सन्देशा देवकी के लिए देती है तथा कृष्ण के बिना उसकी जो दशा हो जाती है, उसका चित्र सूर ने अपने नीचे के पदों में इस प्रकार खींचा है—

सँदेसों देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियों।
जदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहिं कहि आवै॥
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्ह को माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जावे॥
जोई जोई माँगत सोई सोई देती क्रम क्रम करि न्हावे।

सूर पथिक सुनि, मोहि रैन दिन बढ्यों रहत उर सोच ॥
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वैहै करत संकोच ॥

× × ×

मेरी कुवंर कान्ह बिनु सब कुछ वैसे ही धर्यो रहै ॥
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेति गहै ।
सूने भवन यशोदा सुत के गुन गुनि शूल सहै ॥
दिन उठ घेरत ही घर ग्वारिनि उरहन कोऊ न कहै ।
जो ब्रज में आनन्द हुतो मुनि मनसाहु न गहै ॥
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ीहू न लहै ॥

यशोदा से बिछुड़ कर कृष्ण देवकी के पास मथुरा में आ गये थे। उन का लालन-पालन सब कुछ यशोदा ने किया था, इसलिये उनके विषय में जितना वह जानती थी उतना देवकी नहीं, अतएव अपने गोपालकी सारी आदतें वह देवकीको कहला कर भेजती है, किन्तु कृष्ण की असली माता तो देवकी है, इस लिये माता यशोदा उसके पुत्रकी धाय बनकर ही सन्तोष करती है तथा अपने हृदय की इस चिन्ता को कहती है कि उस का लाडला कृष्ण बड़े संकुचित स्वभाव का है। कृष्ण कितने चंचल शिशु थे, इसका चित्रण उनकी बाल लीलाओं में किया जा चुका है और अब तो वे भोले-भाले शिशु न रह कर तारुण्य की आभा से पूर्ण किशोरावस्था को पहुँच गये थे। मथुरा में उन्होंने कुवलयापीड़ जैसे खूनी हाथी और दुराचारी कंस को नष्ट कर दिया था, किन्तु माता के लिए तो वह अब

भी संकोची बालक है, उसे तो अब भी उसकी यही चिन्ता रहती है कि कहीं वह लज्जा के कारण देवकी से माखन-रोटी मांगने में सकुचा न जाये। इन पंक्तियों में सूर ने माता के हृदय का सजीव रूप चित्रित कर दिया है।

दूसरे पद में 'कुँवर कान्हबिन' माता यशोदा के सब पदार्थ वैसे ही रखे रहते हैं। न तो कोई प्रातः ही उठकर माखन मांगता है और न दूध बिलोते हुये उसके हाथ की नेती को पकड़ता है, न कोई ग्वालिन उलाहना देने ही आती है, सारा भवन सूना सा हो गया है। केवल भवन ही नहीं सारे ब्रज-मंडल का आनन्द ही समाप्त हो गया है। गोकुल को कृष्ण के बिना कोई कौड़ी के बदले भी नहीं पूछता—जिस घर से किसी माँ का इकलौता पुत्र कहीं चला जाये उस घर की और माता की स्थिति का यह कितना स्वाभाविक चित्र सूर ने खींचा है, इसका अनुभव सहृदय पाठकों को ही हो सकता है? फिर कृष्ण तो केवल नन्द के भवन का ही नहीं, अपितु सारे गोकुल का एक मात्र शिशु था, उसके वहाँ न रहने पर गोकुल का मूल्य एक कौड़ी भी न रहना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि प्राणों के बिना शरीर का व्यर्थ हो जाना।

जिस अनुभूति, सूक्ष्मदृष्टि और तीव्रता का परिचय सूर ने वात्सल्य रस के वियोग वर्णन में दिया है, उससे भी कहीं अधिक तीव्र अनुभूतियाँ हमें उनके शृंगाररस के वियोग वर्णन में मिलती हैं। निस्संदेह ही वात्सल्य की अपेक्षा शृंगार

में कहीं अधिक तीव्रता, उत्सुकता और बेचैनी का अनुभव होता है। स्नेह में पावनता तो प्रेम से अवश्य अधिक है, किन्तु प्रेम में अभाव और बेचैनी की एक विशेष अनुभूति के दर्शन होते हैं, जो वात्सल्य में नहीं रहती। यही कारण है कि संसार के अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा प्रेम का सम्बन्ध अधिक महत्व-पूर्ण माना गया है। सर्वस्व-समर्पण की भावना भी हमें इस सम्बन्ध में ही अधिक मिलती है। माता, पिता, भाई, बहिन और मित्र आदि से बिछुड़ कर मनुष्य कितने ही काल तक दूर रह सकता है; किन्तु अपने प्रेम-पात्र से दूर हो जाने पर उसे जीवन का प्रत्येक क्षण भार स्वरूप प्रतीत होता है। इसलिए प्रभु-प्रेम का निदर्शन करने के लिये भी भक्त कवियों ने प्रेम को ही अधिक महत्ता दी है, और उसमें भी वियोग पक्ष को प्रेम का मिलन-पक्ष प्रभु-प्रेम पर घटित भी कम होता है। क्योंकि आत्मा तो प्रभुसे बिछुड़ी हुई है और मिलन की आकांक्षा में ही वह अतिशय बेचैन रहती है। प्रभु-मिलन की आत्मिक अनुभूतियाँ लौकिक प्रेम की अनुभूतियों से कहीं अधिक विशुद्ध तथा तीव्र होती हैं। इसलिये लौकिक प्रेम के जिस वर्णन में भी हमें भावनाओं की पावनता और उच्चता मिलती है, उसीको हम आध्यात्मिक प्रेम के रूप में स्वीकार करते हैं। सूरदास प्रेम का वर्णन इसी कोटि का है। उनके मिलन के दृश्य जितने विशुद्ध, उच्च और रहस्यमय हैं, उतने ही विरह-वर्णन के भी। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की आँखों से आँसुओं

का जो पारावार उमड़ता है, उसमें सारा ब्रज मंडल डूब जाता है। सारी प्रकृति ही कृष्ण के वियोग में बेचैन हो जाती है। गऊएँ कृष्ण का नाम लेते ही राँभने लगती हैं और जिन २ स्थानों पर कृष्ण ने उनका दोहन किया था, उन स्थानों को वे सूंघती फिरती हैं रात्रि काली सांपिन का रूप ले लेती है लता और कुंजें उदासी बरसाने लगती हैं, यमुना का जल काला पड़ जाता है बादल उमड़कर आते हैं और गोपियों के आँसू बनकर बह जाते हैं। ऋतुयें उन्हें जलाती हैं और हरा-भरा मधुबन उन पर अंगारे बरसाता है, जिसे गोपियाँ जी भरकर कोसती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज्ज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा समय और बन के पखेरू धि-धिक सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठ परे ?

किन्तु गोपियों के हाथ में सिवाय आँसू बरसाने के और कुछ नहीं है। उनकी आँखें रात दिन बरसती हैं और जब से कृष्ण उन्हें छोड़कर गये हैं तभी से वे वर्षा ऋतु के होने का अनुभव करती हैं—

निशि दिन बरसत नयन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जबते श्याम सिधारे॥

गोपियों का विरह वर्णन करते हुये सूर ने केवल बाह्य स्थिति का ही चित्र उपस्थित नहीं किया, अपितु अन्तर्जगत

के भी भाव चित्र भी खींचे हैं, जिनमें हमें उनकी सूक्ष्म दृष्टि का पूर्ण परिचय मिलता है। विरह की एक ही भावना में नाना रूप-चित्रों का जितना सुन्दर निदर्शन सूर ने किया है, इतना किसी अन्य कवि के विरह वर्णन में हम नहीं पाते। वियोग के जितने भी भाव हो सकते हैं, प्रायः सभी का वर्णन सूर ने किया है। विरही को चांद, सितारे, पपीहे की पुकार आदि कितने दुःखदायी होते हैं तथा विरही अपने प्रेम-पात्र की किन किन स्मृतियों में डूबता है, कितने उपालम्भ और किस रूप में देता है आदि-आदि बातों का सजीव चित्रांकन सूर ने बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से किया है। इसके साथ ही विरही पर वियोग का बाह्य प्रभाव कैसा पड़ता है और उसका अङ्ग प्रत्यंग प्रेमी की विरहाग्नि में जलकर कैसा हो जाता है? इसका ध्यान भी सूर ने पूर्णतया रखा है। कृष्ण के वियोग में तपी हुई गोपियों की जलपूर्ण आँखों का वर्णन सूर ने अपने निम्न पद में बहुत ही स्वाभाविक ढङ्ग से किया है—

उपमा एक न नयन गही।
कवि जन कहत-कहत चलि आये, सुधि करि-करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुखविधु बिनु जीवत, भंवर न तहँ चलि जात।
हरि मुख कमल को बिछुरे तें, ठाले क्यों ठहरात?
खंजन मन रंजन जन जो पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पङ्ख पसारि न उड़त मन्द ह्वै, समर समीप बिकात॥
आये बधन ब्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय।

देखत भागि सबैं घन बन में, जहँ कोउ संग न आय ॥
ब्रज लोचन बिन रोचन कैसे, प्रति दिन अति दुख बाढ़त ।
'सूरदास' मीनता कछू इक, जल भरि संग न छांड़त ॥

विरहातुर गोपियों के नयनों का कोई उपमान ही नहीं रह जाता। न तो उन्हें चकोर कह सकते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के मुख-विधु के बिना जीवित हैं। भ्रमर भी उन्हें कैसे कहें, वे हरि के मुख-कमल से बिछुड़े हुए है; उड़कर उसके पास नहीं जाते। न वे खंजन ही हैं, क्योंकि खंजन तो कहीं उड़कर जा सकता है, किन्तु वे तो विरह समर के समीप ही बिके जाते हैं। मृग भी उनको कैसे कहें, क्योंकि ऊधो जैसे व्याध के सम्मुख होने पर भी वे कहीं भागते नहीं। बस कुछ मीनता ही उनमें दिखाई देती है, और वह भी इसलिये कि वे विरह-जल से भरे हुए हैं, और उस का साथ नहीं छोड़ते। इस पद में सूर ने नयन के सभी उपमानों का खंडन जिस स्वाभाविकता के साथ किया है, वह उनकी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय देती है। विरही के मुख पर आँखें ही आँखें चमकने लगती हैं। शरीर के अन्य अङ्ग दुर्बल पड़ जाते हैं। और आँखें भी अपनी एक विशेषता लिए हुए होती हैं। उनमें प्रियतम की स्मृति का जल भरा रहता है, जिसका साथ वे एक क्षण भी नहीं छोड़ना चाहतीं। विरह के इस जल में उन्हें वैसा ही सुख मिलता है जैसा कि मछली को जल पूर्ण सरोवर में तैरने में, किन्तु कवि ने 'मीनता कछु इक' कह कर यह भी व्यंग्य किया

है कि विरही गोपियों के नयनों की स्थिति थोड़ी बहुत मछली की स्थिति से ही समता खाती है। वह भी केवल जलमय होने के कारण, अन्यथा चंचलतादि मछली के अन्य गुण भी उनके नेत्रों में नहीं रह गये हैं। विरह के बाह्य प्रभाव का इससे बढ़ कर व्यंग्यपूर्ण सजीव चित्र और क्या हो सकता है? सूर सागर में इस प्रकार के सैंकड़ों ही पद हैं कि जिनमें हमें सूर की काव्य प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार देखने को मिलता है।

भ्रमर गीत—सूर के सागर का प्राण भ्रमर गीत ही है। इसमें इन्होंने कृष्ण के सखा उद्धव और गोपियों के वाद-विवाद में ब्रह्म के साकार और निराकार रूप का विश्लेषण किया है। उद्धव को कृष्ण जी ने विरह-विह्वला गोपियों तथा अन्य ब्रज-वासियों, माता यशोदा और नन्द को सान्त्वना देने के लिए भेजा था। वास्तव में वे कृष्ण की कुशलता का सन्देश लेकर गये थे, किन्तु सूर ने उन्हें प्रभु के निराकार रूप को मानने वाला और ज्ञानप्रधान साधना का समर्थक कह कर तथा प्रेमातुर गोपियों के मुख से ब्रह्म के साकार रूप की प्रेम-प्रधान भक्ति की प्रतिष्ठा करके अपने समय में प्रचलित साकार और निराकार के विवाद को कविता का विषय बनाकर अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है। गोपियाँ प्रेमपूर्ण सरल हृदय से अपने बचपन के साथी कृष्ण के साकार रूप को प्यार करती हैं, किन्तु ऊधो उन्हें निराकार ब्रह्म की साधना का उपदेश देकर योग ग्रहण करने को कहता है। इस प्रकरण में

ज्ञान और भक्ति की बहुत सुन्दर चर्चा हुई है। यहाँ सूर ने योग-मार्ग की अपेक्षा प्रेम-मार्ग का समर्थन किया है। उद्धव बार २ योग की कथा सुनाकर अपने निर्गुणब्रह्म-ज्ञान के द्वारा गोपियों को प्रेम के मार्ग से विरत करना चाहता है, किन्तु गोपियाँ अपनी विवशता प्रकट करती हैं तथा उसके नीरस ज्ञान को योगियों की वस्तु कह कर प्रेम-पूर्ण-भक्ति की सुन्दर अभि-व्यक्ति करती हैं। हृदय की अनुभूति के जिस आधार पर गोपियाँ अपने सगुण पक्ष का समर्थन करती हैं, वह सचमुच ही मर्मस्पर्शी और मार्मिक है। गोपियों की प्रत्येक उक्ति में सूर का प्रेमी और भक्त हृदय बोल रहा है। वे व्यर्थ के शुष्क तर्कों से नहीं अपितु प्रेम की स्वाभाविकता, स्वच्छता और अनन्यता से सगुणोपासना का निरूपण करते हैं।

ऊधो के ब्रह्म का न कोई रूप है और न रंग। वह सब जगह व्याप्त है और ज्ञान के द्वारा ही उसका साक्षात्कार संभव है, किन्तु गोपियों का ब्रह्म सुन्दर, अनेक लीलाओं का करने वाला और प्रेममय है। उसके माता-पिता, नारी और दासियाँ सब कुछ हैं। वह उनके मन में समा गया है और सोते जागते हर समय उनकी आँखों के सामने रहता है। बचपन में वह उनके साथ रहकर अनेक प्रकार की क्रीड़ायें कर चुका है। उनके हृदय और नयनों को उसने अपनी छवि से भर दिया है, किसी और के लिए अब वहाँ स्थान ही नहीं रह गया है। यदि किसी प्रकार से वे ऊधो के निर्गुण ज्ञान को सीख

भी लेतीं तो अब मन भी उनके पास नहीं रहा। उसे कृष्ण अपने साथ मथुरा ले गये। बेचारी विवश हैं, बार बार कहती हैं–ऊधो मन नाहीं हाथ हमारे रथ चढ़ाये हरि संग गये ले, मथुरा जबै सिधारे। किन्तु ऊधो उनके घायल हृदय को जाने बिना बार-बार योग की ही रट लगाये हुये हैं। आखिर गोपियाँ तंग आगईं और कहने लगीं:—

ऊधो जी हमें न योग सिखैये।
जेहि उपदेश मिलें हरि, हमको सो ब्रतनेम बतैये॥
मुक्ति रहो घर आपने निर्गुन सुनत दुख पैये।
जिहि सिर केस कुसुम भरि गूंदे तेहि कैसे भस्म चढ़ैये॥

ऊधो तुम निर्गुन की कथा सुनाकर हमारा मन क्यों दुखाते हो? अपने जिन केशों को हमने फूलों से भरकर गूंथा है उनमें भस्म कैसे लगायें। यदि यह बात तुम्हारी समझ में नहीं बैठती तो तुम हमारे मन को नन्द के लाड़ले उस कृष्ण से वापिस ला दो। उसने हम से जैसा व्यवहार किया है, उसके कारण हम तो स्वयं परेशान हैं। हम तुम्हारी सौगन्ध खाती हैं, अगर तुम हमारे मन को वापिस ला दो, तो हम तुम्हारा कहा अवश्य करेंगी। तुम बड़े चाव से अपने योग को यहाँ लेकर पहुँचे हो। अगर यह नहीं कर सकते तो हमें अपने निर्गुण का निवास-स्थान बता दो। हम तुम्हें सौगन्ध देकर पूछती हैं, हँसी नहीं करतीं, तुम उसके माता पिता को बता दो, उसकी स्त्री और दासियों का परिचय

दे दो, वह किस रस को चाहता है ? उसका कैसा रंग है ? यह सब कुछ भी समझा दो तो हम तुम्हारे बस निर्गुण को भजने लगेंगी, किन्तु उद्धव निरुत्तर होकर ठगा सा खड़ा रह जाता है। उसे कुछ उत्तर नहीं सूझता। इसपर गोपियाँ प्रेम की व्यापकता का वर्णन करती हैं—

सब जग तजे प्रेम के नाते।
चातक स्वाति बून्द नहीं छाँड़त, प्रगट पुकारत ताते॥
समुझत मीन नीर की बातें, तजत प्राण हठि हारत।
जानि कुरंग प्रेम नहीं त्यागत, जदपि व्याध सर मारत॥
निमिष चकोर नैन नहीं लावत, ससि जोवत जुग बीते।
ज्योति पतंग देखि वपु जारत, भये न प्रेम घट रीते॥
कहि अलि, क्यों बिसरति वै बातें, संग जो करी ब्रजराजैं।
कैसो 'सूरस्याम' हम छाँड़ैं, एक देह के काजैं॥

चातक, मीन, कुरङ्ग, चकोर, पतंग आदि प्रेम के प्राकृतिक उपमानों को लेकर गोपियों ने इस पद में अपनी असमर्थता प्रकट की है कि जब ये प्रेमी जीव अपने प्राणों की आहुति देकर भी प्रेम का निर्वाह करते हैं फिर हम मनुष्य होकर केवल एक शरीर के कारण कृष्ण का प्रेम कैसे छोड़ दें। इस प्रकार के कितने ही स्वाभाविक चित्रों के द्वारा ऊधो के ज्ञान की गठरी गोपियों के अपार प्रेमाश्रुओं में बह जाती है। यहाँ पर ऊधो को भ्रमर का रूप देकर गोपियों ने जो उपालंभ दिये हैं, उनमें भी प्रेम और भक्ति की अनुपम छटा के दर्शन होते हैं।

कहीं २ पर हास-परिहास में ही सूर बड़ी गहरी बात कह जाते हैं। उनके प्रेम का प्रतीक भ्रमर नहीं है, क्योंकि वह तो रस का लोभी है, जहाँ उसे रस मिलता है, वहीं उड़ जाता है। प्रेम का रहस्य तो उसने समझा ही नहीं। उसके पारखी चकोर पतंग, मीन और चातक हैं। इसलिए सूर ने भ्रमर के प्रेम रूप को लेकर भी बड़े अनूठे व्यंग्यों की बौछार ऊधो के ऊपर की है। क्योंकि ऊधो गोपियों को कृष्ण का प्रेम छोड़कर निराकार से आत्मा का सम्बन्ध जोड़ने को कह रहा था।

अन्त में नाना प्रकार की प्रेमोक्तियाँ सुनकर उद्धव को निराकार की योग साधना सारहीन प्रतीत होने लगती है। गोपियों के प्रेम का नशा उस पर भी चढ़ जाता है और वह प्रेमप्रधान-भक्ति की महत्ता को अनुभव करने लगता है। गोपियों की इस प्रेम-विजय में जो स्वाभाविकता और प्राकृतिकता है, उसके कारण सूर का यह प्रकरण इतना प्रचलित हुआ है कि आगे के कृष्णभक्त कवियों ने भी भ्रमर गीत के इस प्रसंग को लेकर प्रेम की अपूर्व व्यंजना की है, किन्तु हम सूर से बढ़कर किसी और को कृष्ण-प्रेम की गहराई में पहुँचा हुआ नहीं पाते। सूर ने कविता, संगीत और प्रेम की जो त्रिवेणी अपने भ्रमर गीत में प्रवाहित की है, वह हमें दूसरे कृष्ण भक्त कवियों में देखने को नहीं मिलती। इस विषय में सूर की जितनी भी प्रशंसा की जाये उतनी ही थोड़ी है।

भक्ति-भावना—सूर की भक्ति-भावना में हम तुलसी की तरह धर्म, कर्म और ज्ञान का सुन्दर समन्वय नहीं पाते। वे अकेले प्रेम तत्व को लेकर चले हैं, किन्तु उनका यह प्रेम-तत्व भक्ति के ही अन्तर्गत आता है। भक्त के हृदय में स्वभावतः दीनता; आत्म-ग्लानि, निराशा और सर्वस्व समर्पण की भावनायें विद्यमान रहती हैं। अपने आराध्य के प्रति अपनी लघुता के प्रदर्शन में ही उसे शान्ति का अनुभव होता है। अपने इष्टदेव के सन्मुख सूर ने भी इसी लघुता का प्रकाशन अपने विनय के पदों में अत्यन्त मार्मिक और हृदय-ग्राही ढङ्ग से किया है। उनकी भक्ति के पदों में दार्शनिकता की कमी और प्रेम की अनन्यता, आत्मसमर्पण की उत्सुकता तथा दीनता का बाहुल्य है। किसी प्रकार के खण्डन-मण्डन में न पड़कर वे अपने सगुण की प्रेम लीलाओं का अनन्य भाव से गान करते हैं किसी प्रकार की लोक व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था और समाजप्रतिष्ठा की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। वैसे उनके प्रेम की धारा सर्व साधारण के लिये समान रूप से बहती है। जाति-पाँति, छूत-अछूत और ऊँच-नीच का भेद-भाव उसमें नहीं है। उनकी दृष्टि में कृष्ण ही ब्रह्म हैं तथा उनके प्रेम में लीन रहना ही मुक्ति का साधन है। अपने उपास्य के प्रति जहां पर उनमें दास्य भाव है, वहाँ वे नम्र हैं, दीन हैं, हर प्रकार से असहाय हैं, किन्तु जहां वे सख्यभाव को लेकर पद-रचना करते हैं, वहाँ वे

अपने आराध्य से भुजदंड ठोक कर लड़ने को तैयार हैं। अपने उद्धार केलिए हठ करते हैं और आराध्य को विरद-विहीन करने को उतारू हो जाते हैं। कहना न होगा कि सूर की भक्ति-भावना में दास्यभाव की अपेक्षा सख्य-भाव की ही प्रधानता है। वे कृष्ण को अपना सखा समझकर उनसे अपने उद्धार की याचना करते हैं। तथा स्पष्ट रूप से अपने और आराध्य के गुण-दोषों का प्रकाशन करते हैं। अपना कोई भी दोष वे नहीं छिपाते। नीचे के पद में उन्होंने अपने आपको पापियों में विख्यात पापी कहा है—

कब तक मोसों पतित उधारो!

पतितनि में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारो॥
बड़े पतित पासंगहुँ नाहीं, अजामिल कौन बिचारो।
भाजै नरक नाम सुनि मेरो, जमनि दियौ हठी तारो॥
छुद्र पतित तुम तारि रमापति, जियजु करौ जनि गारो।
सूर पतित को ठौर कहूँ नहिं, है हरिनाम सहारो॥

सूर की भक्ति-भावना की यह विशेषता है कि न तो वे कबीर की तरह किसी रहस्योद्घाटन में लगते हैं, न जायसी की तरह प्रेम का कोई प्रबन्धात्मक रूपक खड़ा करते हैं और न तुलसी की तरह किसी ऊँचे आदर्श के फेर में पड़ते हैं, अपितु प्रेम की उस भावना को भक्ति का साधन बनाते हैं, जिस की व्याप्ति हमें सर्व साधारण में समान रूप से

मिलती है। उनकी इस प्रेमप्रधान भक्ति का विवेचन हम भ्रमरगीत तथा उससे पूर्व के विवेचन में कर चुके हैं।

काव्य-साधना—सूर ने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की। सूर-सागर में उन्होंने कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक की कथा को अवश्य लिया है, किन्तु उसमें प्रबन्ध काव्य की सी कथा का प्रवाह नहीं है, अपितु गीति-काव्य के रूप में उन्होंने विद्यापति की पदावली के से गीतों में कृष्ण के उतने जीवन को लिखा है, जितने में कि उनका बाल्य और यौवन रूप आ सका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका सूर-सागर गीति-काव्य का एक सुन्दर और विशाल संग्रह होने पर भी प्रबन्ध काव्य की सी रोचकता लिए हुये है। गीति-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसमें संगीत की ध्वनि के से माधुर्य का होना, मानी जाती है। जो हमें सूर के पदों में पूर्णतः प्राप्त होती है। सूर ने राधा, कृष्ण और गोपिकाओं के सौन्दर्य वर्णन में सुन्दर अलङ्कार योजना भी की है। अलंकारों का इतना स्वाभाविक प्रयोग उनके पदों में हुआ है कि वह पढ़ते ही बनता है। कल्पना, अनुभूति और वैदग्ध्य के बल पर उन्होंने भाव भावनाओं के ऐसे रंगीन चित्र उतारे हैं कि जो पूर्ण दृश्य को पाठकों के सामने खड़ा कर देते हैं। भाव-व्यंजना इतनी उत्कृष्ट है कि उसका प्रभाव सीधा पाठक के हृदय पर पड़ता है। यह बात अवश्य है कि उनका ध्यान जीवन के समष्टिरूप पर

नहीं गया। उन्होंने समाज और राजनीति आदि की ओर ध्यान नहीं दिया, बल्कि भक्त के सीधे-साधे रूप में मनोवेगों की काव्यमयी धारा प्रवाहित की है। भाव की उत्कृष्टता की दृष्टि से यह कवि सचमुच ही हिन्दी-गगन का सूर्य है। सूर की भाव-व्यंजना पाठक को प्रेम के जिस धरातल पर पहुँचाती है, उसका रूप इतना मंगलमय, सुखद और अनूठा है कि मनुष्य उनके पदों को बार-बार पढ़ने के लिए लालायित होता है। उनके भक्त हृदय ने प्रेम की तीव्र से तीव्र व्यंजना को भी भक्ति से पूर्ण कर दिया है। इनके दृष्टि-कूट पदों में इनके पाण्डित्य का पता लगाया जा सकता है जहां इन्होंने रस-प्रकरण के अनुसार भगवान् कृष्ण की परोक्ष लीलाओं का गान किया है। कहीं कहीं पर सूर ने ऐसी अलंकार योजना भी की है कि जहाँ हमें उन पर रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। राधा-कृष्ण के नखशिख की सुन्दरता का वर्णन करते हुए उन्होंने उपमा, रूपक, सन्देह उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों का खूब प्रयोग किया है।

चरित्रचित्रण—किसी चरित काव्य की रचना सूर ने नहीं की है। वास्तव में उन्होंने काव्य की मुक्तक शैली को अपनाया है, किन्तु वर्णनीय विषय का सम्बन्ध कृष्ण जैसे लोकनायक के साथ होने के कारण चरित्र-सम्बन्धी विशेषतायें भी हमें उनके पदों में पर्याप्त मिलती हैं। राधा, कृष्ण, यशोदा, और नन्द आदि पात्रों के चरित्र लोकोत्तर हैं। राधा एक

आदर्श प्रेमिका है। प्रेमिका के व्यक्तित्व की सत्ता भारतीय समाज में नहीं है। माता, पिता और भाई आदि के सभी सम्बन्धों को हमारा समाज स्थान देता है, किन्तु प्रेमिका की कोई गुंजाइश उसमें नहीं है। प्रेमिका को अपमान अथवा लुकाछिपी की आँख मिचौनियाँ ही हमारे समाज की देन हैं, किन्तु सूर ने राधा को प्रेमिका की दृष्टि से ही इतना ऊंचा स्थान दिया है कि वह तत्कालीन समाज के लिए ही नहीं, अपितु वर्तमान समाज के लिए भी एक आदर्श रमणी बन गई है। प्रेमिका का ऐसा ही सम्मान हम कालिदास के शकुन्तला नाटक में शकुन्तला का भी पाते हैं, किन्तु कालिदास की शकुन्तला सूर की राधा की समता नहीं कर सकती। राधा केवल नारी ही नहीं, आत्मा की दिव्य ज्योति भी है जो कृष्ण ब्रह्म से मिलने के लिए आतुर है। विरह में तड़फती हुई जब सारी गोपियाँ कृष्ण को दोष देने लगती हैं तब राधा को बड़ा कष्ट होता है। वह कृष्ण के लिए कोई भी अपशब्द सुनना नहीं चाहती—

सखि री हरि को दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु॥

इन पंक्तियों में कृष्ण के प्रति राधा की जो अनन्य प्रेम भावना प्रकट है, उसने उसे एक आदर्श भारतीय ललना का रूप दे दिया है। यहाँ वह प्रेमिका होते हुए भी गृहिणी से कहीं आगे बढ़ी हुई है। सच पूछा जाय तो प्रेम प्रेमिका ही के हृदय की वस्तु है। गृहिणी का प्रेम कर्तव्य का रूप ले लेता है, उसके प्रेमत्व

में कमी आ जाती है। राधा के जीवन में सूर ने यही चरितार्थ कर के दिखाया है।

नन्द और यशोदा दोनों पितृ और मातृ रूप की उज्ज्वल प्रतिमाएँ हैं। जो चरित्र में पूर्ण भारतीयता रखते हुए भी विश्व-व्यापी वात्सल्य भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। कृष्ण का चरित्र भी आदर्शपूर्ण है। वे मानव के रूप में विष्णु का अवतार लेकर अवतीर्ण हुए हैं। वैसे उनका लीलाकारी चरित्र ही सूर ने अधिक चित्रित किया है।

भाषा—सूर की भाषा ब्रज है, जिसमें हमें संगीत की पूर्ण सरसता मिलती है। कहीं २ पर ब्रजभाषा के ग्रामीण बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने किया है, किन्तु उनका प्रयोग किसी स्थल पर भी नहीं खटकता, अपितु विषय और वातावरण की अनुकूलता के कारण एक अद्भुत सजीवता शब्दों के ऐसे प्रयोग से उपस्थित हो जाती है। छंदों की दृष्टि से सूर ने विद्यापति के समय से प्रचलित पदों की शैली को ग्रहण किया है, जिनमें वर्ण और मात्रा की अपेक्षा ध्वनि पर अधिक ध्यान दिया जाता है। पद-रचना की यह शैली कबीर, नानक और तुलसी ने भी अपनाई थी, किन्तु इसका निखरा हुआ रूप हमें सूर की पद-रचना में ही मिलता है। सूर ने अपने पदों को संगीत और काव्य दोनों की मधुरता से भर दिया है।

सूर और तुलसी——ये दोनों कवि हिन्दी साहित्य-गगन के सूर और चन्द्र कहे गये हैं। 'सूर सूर तुलसी शशी' यह उक्ति हिन्दी साहित्य में बहुत प्रचलित है। इसकी दृष्टि से सूर को सूर्य और तुलसी को चन्द्र की उपाधि मिलती है। सूर्य और चन्द्र में बड़े-छोटे का कोई भेद उपस्थित करने का अभिप्राय इस उक्ति के रचयिता का कदाचित् ही रहा हो, किन्तु हमारे साहित्य में इसी आधार पर सूर को अधिक प्रतिभाशाली और तुलसी को कम प्रतिभाशाली समझने की एक धारणा सी बन गई है, पर बात वास्तव में यह नहीं है। दोनों कवियों का अपना-अपना विषय और पृथक २ क्षेत्र है, एकने कृष्ण-चरित को गाया है और दूसरे ने राम-चरित को। जहाँ तक चरित काव्य की रचना का प्रश्न है, वहाँ तक तो तुलसी का क्षेत्र ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यदि विषय की दृष्टि से विचार करें तो दोनों कवियों को अपने २ वर्णनीय विषय पर समान अधिकार है। सूर को कृष्ण-जीवन पर लिखने में जो सफलता मिली है, वह तुलसी को नहीं मिली। और तुलसी को राम जीवन के लिखने में जो सफलता प्राप्त हुई है, वह सूर को राम के ऊपर लिखने में प्राप्त नहीं हुई।

दोनों कवियों में अपनी २ प्रकृतिसुलभ विशेषताएँ अवश्य हैं, जिनका रहना स्वाभाविक है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति और अनुभूति पृथक्-पृथक् हुआ करती है। इस दृष्टि से सूर वात्सल्य और शृङ्गार का वर्णन करने में तुलसी से अवश्य

बढ़े हुए हैं, किन्तु इसके साथ ही शान्त रस के चित्रण में तुलसी सूर से बाजी मार लेते हैं। इसी प्रकार की और भी कितनी ही व्यक्तिगत विशेषताएँ विचार करने पर पाठकों को उपलब्ध हो सकती हैं। सूर और तुलसी के पृथक्-पृथक् विशद-विवेचन को ध्यानपूर्वक पढ़ जाने पर दोनों की समता और विषमता का सम्यक् ज्ञान भली भाँति हो सकता है। इस वाद-विवाद में पड़कर विषय को अधिक विस्तार हम देना नहीं चाहते। तुलनात्मक अध्ययन के लिये संकेत मात्र यहाँ पर कर दिया गया है।

अष्टछाप—स्वामी वल्लभाचार्य जी के पुत्र स्वामी बिट्ठलनाथ जी ने चार शिष्य अपने पिता के और चार अपने सम्मिलित करके आठ कृष्ण-भक्त कवियों को अष्ट-छाप का नाम दिया था। इन आठों कवियों में प्रथम स्थान सूरदास का है, जिनका विवेचन कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि के रूप में किया जा चुका है। अष्टछाप के शेष सात कवि नंददास, कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी हैं जिनका परिचय नीचे दिया जाता है—

नन्ददास—अष्टछाप के कवियों में दूसरी कोटि के कवि नन्ददास ही हैं। इनकी कविता का काल संवत १६२५ के आस पास अथवा इससे भी कुछ आगे तक माना जाता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में इन्हें तुलसीदास जी का

भाई बताया गया है। कहते हैं तुलसीदास जी को इनका कृष्णभक्त होना प्रिय नहीं था और उन्होंने एक बार इन्हें उलाहना लिखकर भेजा था, किन्तु इन वार्ता में वर्णित नन्ददास सम्बन्धी यह उक्ति असत्य सिद्ध हो चुकी है। वास्तव में इनका तुलसीदास जी से कोई सम्बन्ध नहीं था। सम्भवतः कृष्णभक्तों के गौरव को बढ़ाने के लिए तुलसीदास और नन्ददास का भाई होना किसी ने पीछे से लिखा हो।

अपने यौवनकाल में नन्ददास जी बड़े प्रेमी जीव थे। एक बार द्वारिका जाते समय सिंधुनद नामक ग्राम में ये एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए थे। जब ये उसके घर के चारों ओर चक्कर लगाने लगे तो उस रूपवती के सम्बन्धी इनसे तंग आकर गोकुल चले गये, किन्तु वहां भी ये जा पहुँचे। यहां पर इनकी भेंट गोसाईं विट्ठलनाथ जी से हुई, जिनके सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये उस स्त्री के प्रेम को छोड़ कर कृष्ण के प्रेम में लीन रहने लगे। इनके दीक्षा-गुरु गोस्वामी विट्ठल नाथ जी ही थे।

कृष्ण-भक्ति के अनन्यभाव में डूबकर नन्ददास ने भी बड़ी सरस रचनायें की हैं। इन के रासपंचाध्यायी, भागवत दशमस्कन्ध, रुक्मिणीमंगल, सिद्धान्त पंचाध्यायी, रूपमंजरी रसमंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थ नाम माला (कोष) ज्ञानमंजरी, दानलीला मानलीला, अनेकार्थमंजरी, श्यामसगाई, भ्रमरगीत और

सुदामा-चरित्र पद्यग्रंथ हैं तथा हितोपदेश और नासिकेत पुराण ये दो ग्रंथ इन्होंने गद्य में लिखे हैं। इसके अतिरिक्त इनके बहुत से फुटकल पद भी इधर-उधर मिले हैं। इनकी ये सब पुस्तकें अभी तक प्रकाशित नहीं हुईं। रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत ये दो पुस्तकें ही इनकी अधिक प्रसिद्ध हैं। रासपंचाध्यायी में इन्होंने कृष्ण की विभिन्न रासलीलाओं का वर्णन किया है, यह रोला छंद में लिखी गई है। इनकी इस पुस्तक में हमें इनकी काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है। इसमें अलंकार की छटा भी अनुपम है। इसी प्रकार भ्रमरगीत भी इनकी काव्यकला का पूर्ण परिचायक है। इसमें इन्होंने सूरदास की तरह ही उद्धव और गोपियों के संवाद रूप में साकार और निराकार के विषय को लेकर अपने दार्शनिक तथा प्रेमसम्बन्धी विचारों का निदर्शन किया है। सूर की तरह पदों में उद्धव और गोपियों के उत्तर-प्रतिउत्तर न लिखकर इन्होंने चारपंक्तियों की एक नवीन पदरचना में ज्ञान और प्रेम सम्बन्धी चर्चा की है। इनकी गोपियाँ सूर की गोपियों से कहीं अधिक वाचाल और तर्कनाशील प्रकृति की हैं। अपने पक्ष का समर्थन करती हुईं वे मान-मर्यादा और लोक-लाज का कुछ ध्यान नहीं रखतीं। कृष्ण-प्रेम का आवेग जब उन्हें होता है तो वे अनाप-शनाप कह जाती हैं। इनकी प्रेमोक्तियाँ कितने ही स्थलों पर अश्लीलता का रूप भी ले लेती हैं। इसके अतिरिक्त सूर की गोपियों में प्रेम की सरलता

स्वाभाविकता और तन्मयता अधिक है। वे प्रेम की व्यापकता और महानता के द्वारा अपनी प्रेमभक्ति का समर्थन करती हैं, किन्तु नन्ददास में तर्कशीलता अधिक है। उनकी गोपियाँ नाना तर्कों से उद्धव पर विजयी होती हैं। उनके तर्कों का उत्तर उद्धव से नहीं बनता, किन्तु सूर के भ्रमरगीत में यह बात नहीं है, वहाँ तो गोपियों की निश्छल प्रेमभावना और सरलता से प्रभावित होकर उद्धव निरुत्तर होजाता है। कुछ भी हो इस में सन्देह नहीं कि नन्ददास के लिए कही हुई 'और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' वाली उक्ति बिलकुल ठीक है। क्योंकि कविता के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का ध्यान रखकर इन्होंने कहीं २ पर बहुत अच्छी भाव-व्यंजना की है। प्रकृतिचित्रण की अपेक्षा मानव-हृदय के विश्लेषण में ये अधिक सफल हुए हैं। इनकी भाषा अनुप्रासमयी, मधुर और प्रसादगुण से पूर्ण है। भावों की उलझनें हमें इनकी दार्शनिक उक्तियों में तो अवश्य मिलती हैं, किन्तु जहाँ उनका संबन्ध मानव-हृदय अथवा प्रेम से है वहाँ वे स्पष्ट, सरस और हृदयस्पर्शिनी हैं। नीचे के उद्धरणों में यह बात देखी जा सकती है—

धन्य धन्य जे लोग भजत हरि को जो ऐसे।
अरु जो पारस प्रेम बिना पावत कोउ कैसे॥
मेरे या लघु ज्ञान को उर मद कह्यो उपाध।
अब जान्यो ब्रज-प्रेम को, लहत न आधो साध॥
वृथा स्रम करि थके॥

❀ ❀ ❀

जो उनके गुण होंय बेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आत्मा रचि ऊपर सुख सानै॥
बेद पुराननि खोजि कै पायो कितहुँ न एक।
गुनही के गुन होहिते, कहो अकासहि टेक॥
सुनो ब्रज नागरी॥

प्रथम पद में गोपियों के प्रेम-विवाद और निश्छल रुदन से उद्धव के हृदय पर उन के प्रेम की छाप पड़ जाती है और वे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को महत्ता देने लगते हैं। यहाँ भावों का सम्बन्ध हृदय अथवा प्रेम से है; जिनमें हमें पूर्ण स्पष्टता मिलती है। दूसरा पद उस स्थल का है जहाँ उद्धव संत कवियों के से निर्गुण ब्रह्म की चर्चा कर रहे हैं, यहाँ भावों की अपेक्षा दार्शनिक विचारों की प्रधानता है, जिससे भाव-व्यंजना भी बहुत उलझी हुई है।

कृष्णदास—इनका कविता-काल संवत् १६०० के आसपास माना जाता है। ये जाति के शूद्र थे, किन्तु स्वामी वल्लभाचार्य जी की इन पर विशेष कृपा थी, उन्होंने इन्हें मन्दिर के प्रधान मुखिया का पद दिया हुआ था। कहते हैं एक बार विट्ठलनाथ जी से अप्रसन्न होकर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बन्द कर दी थी। जब महाराज बीरबल को यह मालूम हुआ तो उन्होंने इन्हें कैद कर लिया। किन्तु विट्ठलनाथ जी अपने कृपापात्र बीरबल की इस बात से प्रसन्न नहीं हुए, उन्होंने कृष्णदास जी को कैद

से छुड़ाने के लिए अन्न-जल त्याग किया गया। उन्हें छुड़ा कर फिर मुखिया का वही पद दिया।

अन्य कृष्ण-भक्तों की तरह इन्होंने भी राधा और कृष्ण के प्रेम सम्बन्धी शृंगारिक पद लिखे हैं। काव्यत्व इनके पदों में भी पर्याप्त है, किन्तु सूर और नन्ददास जैसी विशेषताएँ इनमें नहीं हैं। इनके लिखे हुए जुगलमान-चरित्र, भ्रमरगीत और प्रेमतत्व-निरूपण, ये तीन ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें जुगलमान-चरित्र ही अभी तक उपलब्ध हुआ है। भाषा का प्रवाह इनमें भी सुन्दर है। नीचे के पद में इन्होंने अपने मन की उस दशा का वर्णन किया है, जो कि गिरधर की छवि पर अटक जाने के कारण उसकी हो गई है—

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम-घन बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर, यह तन जग-सिर पटक्यो॥

परमानन्द दास—ये संवत् १६०६ के आस-पास वर्तमान थे। इनकी जन्म भूमि कन्नौज थी। एक बार स्वामी वल्लभाचार्य जी अपने इस शिष्य के एक पद को सुनकर कई दिन तक सुध-बुध भूले रहे थे। राधा और कृष्ण के प्रेम को लेकर इन्होंने जो सरस और भावपूर्ण पद गाये हैं, उनमें इनकी तन्मयता और भक्ति की विह्वलता का पूर्ण परिचय मिलता है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लेकर इन्होंने

बड़े ही सरस पद लिखे हैं। 'परमानन्द सागर' में इनके आठ सौ पैंतीस पद हैं। ब्रजभाषा का माधुर्य इनके पदों की अ-विशेषता है। नीचे के पद में इन्होंने ब्रज के विरही लोगों की दशा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इनके इस पद से ही इनकी काव्य-प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है—

ब्रज के विरही लोग बिचारे।
बिनु गोपाल ठगे-से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे।
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ-सकारे॥
जो कोई कान्ह कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे॥
यह मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
'परमानन्द' स्वामी बिनु ऐसे, ज्यों चन्दा बिनु तारे॥

कुंभनदास—ये भी परमानन्द दास जी के समकालीन थे और पूर्णतः विरक्त थे। इनके गुरु भी वल्लभाचार्य जी ही थे। कृष्ण-भक्त के साथ-साथ ये अच्छे गायक भी थे। बादशाह अकबर के बुलाने पर ये एक बार फतहपुर सीकरी गये थे। वहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ था, किन्तु विरक्त-भाव के साधु होने के कारण इन्हें इससे कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई थी। फतहपुर जाने का इनके मन पर जो प्रभाव पड़ा था, उसका प्रकाशन इन्होंने अपने निम्न पद में किया है:-

संतन को कहा सीकरी सो काम ?
आवत-जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि-नाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबो परी सलाम॥
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।

इनकी कविता का विषय भी कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला ही है। इनका लिखा हुआ कोई संग्रह ग्रंथ अभी तक नहीं मिला है कुछ फुटकल पद ही इधर-उधर मिले हैं, जिनमें इनकी भक्ति-भावना का अच्छा परिचय मिलता है।

चतुर्भुजदास—ये कुंभनदास जी के पुत्र थे। इनके दीक्षा-गुरु गोसाईं विट्ठलनाथ जी थे। इनके पदों में कृष्णलीला सम्बन्धी गीतों की अधिकता है। इनका पदविन्यास व्यवस्थित, भाषा सरल और चलती हुई है। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ प्राप्त हुए हैं—(१) द्वादशयश (२) भक्तिप्रताप (३) हितजू को मंगल नीचे के पद में एक गोपी माता यशोदा से उसके पुत्र कृष्ण के करतबों का वर्णन कर रही है। चतुर्भुज दास जी ने सूरदास की तरह बालमनोवृत्ति का बड़ा ही सुन्दर चित्र इसमें खींचा है यहाँ कवि अपने आराध्य के बाल्य गुणों को कहता-कहता सकुचा जाता है:—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात !
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात।
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात॥
जौ बरिजौं तौ आंखि दिखावै, रंचहु नाहि सकात।
और अटपैंटी कहँ लौ बरनौं छुवत पनि सों गात॥
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात।

छीत स्वामी—ये मथुरा के पंडे थे इसलिए इन के स्वभाव में बड़ा अक्खड़पन और उद्दंडता थी, किन्तु स्वामी विट्ठलनाथ

जी से दीक्षा लेने के उपरान्त ये बड़े शान्त-स्वभाव के कृष्णभक्त बन गये थे। इनका रचना-काल संवत् १६१२ के लगभग माना जाता है। कृष्ण-प्रेम की अनूठी व्यंजना इनके पदों में भी अच्छी हुई है। इनके पदों में भावानुभूतियों की वह सरसता भी पर्याप्त है, जो हमें अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में मिलती है। ब्रजभूमि के प्रति भी इनका विशेष अनुराग था। इन्होंने विधाता से आँचल पसार कर ब्रज में ही बार २ जन्म देने की याचना की थी:—

हे विधना तोंसों अँचरा पसारि मांगौं,
जनम जनम दीजौं यही ब्रज बसिवो।

इनका लिखा हुआ कोई विशेष ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ। फुटकल पदों के संग्रह ही इधर-उधर देखने में आये हैं।

गोविन्द स्वामी—ये विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। अन्तरी इनकी निवास भूमि थी, गोवर्धन पर्वत पर इन्होंने कदम्ब वृक्षों का एक बड़ा सुन्दर उपवन लगाया था जो 'गोविन्द-स्वामी की कदम्ब खण्डी' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका रचना काल संवत् १६०६ के कुछ बाद का माना जाता है। ये प्रसिद्ध गायक भी थे कहते हैं गायनाचार्य तानसेन भी इनका गाना सुनने आया करते थे। कृष्ण की बाललीलाओं, प्रेमलीलाओं तथा ब्रजभूमि की सुन्दरता का वर्णन इन्होंने भी खूब किया है। अष्टछाप के अन्य कवियों की सी विशेषतायें हमें इनमें भी मिलती हैं, नीचे के पद में ब्रजभूमि की प्राकृतिक छटा और कृष्ण

की मधुर बन्सरी आदि का वर्णन करते हुए वैकुंठ निवास को गोपी चरनन की ब्रज रजपर न्यौछावर कर रहे हैं:—

कहा करैं वैकुंठहिं जाय।

जहं नहिं कुंजलता अलि कोकिल, मंद सुगन्ध न वायु बहाय।
नहिं सुनि परत श्रवननि बंसि धुनि, कृष्ण न मुरली अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहिं बोलत, तहँ को बसिबो कौन सुहाय॥
नहीं वहा वृन्दावन वीथिन, गोपी नन्द जसोदा माय।
'गोविन्द' प्रभु गोपी चरनन की ब्रजरज तजि वहाँ जाय बलाय॥

अन्य कवि—कृष्ण-भक्ति शाखा के अन्य कवियों में हित हरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास, श्री भट्ट, व्यास जी, रसखान और ध्रुवदास के नाम और आते हैं। काव्य की दृष्टि से मीरा बाई और रसखान कवि ही उच्च कोटि के हैं। अन्य कवियों में भक्ति-भावना, कवित्व और भाषा का प्रवाह आदि काव्यसम्बन्धी विशेषतायें वैसे पर्याप्त हैं, किन्तु मीरा और रसखान तो केवल इन कवियों में ही नहीं, अपितु इस शाखा के अन्य कवियों से भी अपनी कुछ पृथक् ही विशेषता रखते हैं, जिसका विवेचन हम इन कवियों का परिचय देते हुए करेंगे। ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से पहिले अन्य कवियों का उपयोगी और संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

हित हरिवंश—इनका जन्म सम्वत् १५५६ में बाँदा गांव में हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनके लिए प्रसिद्ध है कि पहिले

ये माधवानुगामी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। बाद में इन्हें एक दिन राधिका जी ने स्वप्न में मन्त्र दिया और इसीलिये इन्होंने अपना राधावल्लभी सम्प्रदाय चलाया। सम्वत् १५८२ में इन्होंने राधावल्लभ जी की एक मूर्ति वृन्दावन में स्थापित की और ये उनकी सेवा में वहीं रहने लगे। इन्होंने बहुत थोड़े पद लिखे हैं, जिनका संग्रह हित-चौरासी के नाम हुआ है। 'राधा-सुधा-निधि' नामक ग्रंथ भी इन्हीं के हाथ का लिखा हुआ है। इनकी रचनाओं से ब्रजभाषा की काव्य-वृद्धि में पर्याप्त सहायता पहुँची है। काव्य रचना की मधुरता इनमें इतनी अधिक है कि इन्हें श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार माना जाता है। इनका 'हितचौरासी' नाम का संग्रह अधिक प्रसिद्ध है। इसमें चौरासी पद हैं। प्रेमदास और लोकनाथ इन दोनों कवियों ने इनके 'हितचौरासी, पर टीकाएँ लिखी हैं। प्रेमदास की टीका ब्रजभाषा की गद्य में पांच सौ पृष्ठ की है। अन्य भक्तों ने भी इसकी वन्दना और स्तुति में बहुत कुछ लिखा है।

गदाधर भट्ट—ये दक्षिण निवासी ब्राह्मण थे। इनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। चैतन्य महाप्रभु को इनका भागवत सुनाना प्रसिद्ध है। भक्तमाल में भी इनका परिचय मिलता है। काव्य-कौशल में ये भी अन्य भक्त कवियों से कम नहीं हैं। इनका शब्द-भंडार बहुत विस्तृत है। इनके पदों में कहीं-कहीं पर तुलसी का सा पाण्डित्य मिलता है। भाषा पर

इनका बड़ा अच्छा अधिकार है। राधा और कृष्ण के प्रेम-सम्बन्ध को लेकर इन्होंने बहुत ही सुन्दर पद-योजना की है। संगीत की अपेक्षा इनमें छंद का प्रवाह अधिक है।

मीराबाई—इनका जन्म-संवत् १५७३ में चौकड़ी नाम के एक गांव में हुआ था। बचपन से ही इनका कृष्ण की मूर्ति की ओर विशेष आकर्षण था। इनका विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था। विवाह के कुछ काल बाद ही इनके पति का स्वर्गवास हो गया था। इससे इनका ध्यान कृष्ण की भक्ति में और भी अधिक लग गया। ये मंदिर में जाकर भक्तों और संतों के बीच आनन्दमग्न होकर कृष्ण की मूर्ति के सामने नाचा और गाया करती थीं लोक-लाज को इन्होंने तिलांजलि दे दी थी इनके इस आचरण से इनके कुटम्बी इनसे रुष्ट रहने लगे थे, किन्तु ये किसी की चिन्ता नहीं करती थीं। साधु-सन्त इनका सम्मान देवी के रूप में करते थे। कहते हैं कि इनके परिवार वालोंने इनको मरवाने के कितने ही प्रयत्न किये, किन्तु अपने इस घृणित उद्देश्य में वे सफल नहीं हुए। मीरा को मारने के लिए उनका भेजा हुआ विष का प्याला अमृत बन गया और पिटारी में भेजे हुए विषैले सर्प ने ठाकुर जी का रूप ले लिया। जिस से और भी अधिक मतवाली होकर कृष्ण के ध्यान में मग्न रहने लगी। इनकी मृत्यु संवत् १६०३ में द्वारिका में हुई थी।

कृष्ण को अपना पति मान कर उसके अनन्य प्रेम में मीरा झूमा करती थी और अपना सर्वस्व न्यौछावर करके वह अपने इष्टदेव को रिझाया करती थी। उसके लिए कृष्ण की अपेक्षा संसार में और कोई पुरुष रह ही नहीं गया था।

प्रेम की जिस मादकता में लीन होकर मीरा ने अपने पदों को गाया है, उनमें सचमुच ही नारी हृदय की छाप है। इनकी वर्णित प्रेमानुभूतियाँ इतनी स्वाभाविक, सरल प्रभावोत्पादक और मर्मस्पर्शिनी हैं कि जो भी इनके पदों को सुनता है, वही भक्ति रस में डूब जाता है। नारी होने के कारण इन्होंने अपने समस्त नारीत्व को मानो कविता और प्रेम का रूप दे दिया है। इनकी भावाभिव्यक्ति जहाँ तक नारी-हृदय और प्रेम का सम्बन्ध है, सूर से भी कहीं अधिक सुन्दर है। सूर में काव्यत्व, पाण्डित्य, और विचारशीलता भले ही मीरा से सुन्दर हों, किन्तु जहां तक नारी-हृदय का प्रश्न है, वह सूर की अपेक्षा मीरा के पास ही अपने स्वभाविक रूप में है। मीरा अपने आराध्य की चिरप्रेयसी है। राधा और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। सूर राधा और गोपियों के रूप में अपने आराध्य को सर्वस्व समर्पण करते हैं, किन्तु मीरा को इसकी आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं राधा है और गोपियों का सहारा न ले कर स्वयं ही अपने मन की बात अपने आराध्य देव से कहती है। यही कारण है कि माधुर्य-भाव की जितनी स्वाभाविक और निश्छल अभिव्यक्ति मीरा के पदों

में हुई है, उतनी सूर के पदों में नहीं। मीरा ने तो अपने प्रभु की दीवानी बनकर आत्म-समर्पण किया है। उसका यह आत्म-समर्पण एक प्रेयसी का आत्मसमर्पण है, जो यौवन-काल में ही सम्भव हो सकता है। इसलिए उसने अपने आराध्य के जितने भी चित्र खींचे हैं, उनमें उसका प्रेम-रूप ही अधिक झलकता है, वात्सल्य आदि नहीं।

भक्ति-भावना—मीरा की भक्ति-भावना दाम्पत्य भाव की है। इस भावना में रहस्य का समावेश आवश्यक होता है। वास्तव में सूफी कवि जिस प्रकार की भक्ति-भावना का प्रचार कर रहे थे, उसी ढंग की भक्ति-भावना मीरा की भी है। जिसका साम्य कबीर की दाम्पत्य-भाव की भक्ति-भावना से ठीक बैठता है। क्योंकि सूफी कवि आराध्य को प्रियतम न मान कर प्रेयसी मानते थे। किन्तु कबीर ने अपने आराध्य को प्रियतम मानकर उसकी लाली को चहुं ओर देखा था। मीरा भी अपने लाल की लाली में इसी तरह खो गई थी। किन्तु ध्यान रहे, कबीर का आराध्य निर्गुण था और मीरा का सगुण।

मीरा एक रहस्यवादी कवियित्री अवश्य है, किन्तु उसका रहस्यवाद भाव-जगत् की वस्तु है, जिसका उद्गम प्रेम की सच्ची पीर, हृदय की लगन और मन की पवित्रता से होता है। मीरा बिना किसी भेद-भाव के अपने आराध्य की हो जाना चाहती है। यह जानते हुए भी कि उसके प्रियतम की खोज

सूली के ऊपर है वह नहीं घबराती। उसे अपने प्रेम पर विश्वास है, उसने बिना किसी कपट के लोक-लाज का भय छोड़कर साँवलिये को अपना वर चुना है। और वह रात-दिन उसकी आराधना में लीन रही है। जब साधना करते २ साधक बिल्कुल साध्यमय हो गया, फिर बिछुड़ने का भय कैसा ? यही कारण है कि मीरा के आरंभिक पदों में जितनी निराशा और मिलन की उत्सुकता है, उतनी आगे चलकर नहीं रह जाती। आगे तो उसमें मिलन-सुख की ही झलक मिलती है।

अपने आराध्य के प्रेम रस की बूँद को जब वह अपने हृदय में गटक जाती है तो फिर उसे किसी का भय नहीं रह जाता। वह मदमस्त हाथी की तरह अपने प्रभु के प्रेम में ही हर समय झूमती रहती है तथा मार्ग में बाधा डालने वालों को सतर्क करती है कि जब मैंने गोविन्द से प्रेम किया था, मुझे तभी क्यों नहीं रोका था। अब तो मेरे प्रेम की चर्चा घर-घर में हो गई है और प्रेम की बेल भी बट-बीज की तरह गहरी पहुँच गई है। मीरा की निम्न पंक्तियाँ इसी प्रकार की भाव-व्यंजना करती हैं।

गोविन्द सूँ प्रीति करत, तबहिं क्यूं न हटको।
अब तो बात फैल परी, जैसे बीज बटको॥

× × × ×

मद की हस्ती समान, फिरत प्रेम लटको।
दास मीरा भक्ति बूँद, हृदय बीच गटकी॥

काव्य-साधना—मीरा ने जो कुछ लिखा है, वह कवियित्री बनने के लिए नहीं अपितु अपने आराध्य को रिझाने के लिए, उसने अपने हृदय के भाव व्यक्त किए हैं, उसमें हमें काव्य की अपेक्षा प्रेम की पीर के दर्शन अधिक होते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मीरा में कवित्व है ही नहीं। बल्कि उसके पदों में कविता के भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही तत्त्व हैं, किन्तु काव्य की दृष्टि से सूर, रसखान और नन्ददास आदि कृष्णभक्त कवियों की सी विशेषताएं उनमें नहीं हैं। हां, प्रगीति काव्य की सरसता जिसकी दृष्टि से हमें उन के पदों को परखना चाहिये, सचमुच ही उनमें विशेष रूप से है। उनके पद संगीत का सा माधुर्य, भक्ति-भावना की सी पावनता और कविता की सी सरसता लिए हुए हैं। इनके लिखे हुये—नरसी जी का मायरा, गीत गोविन्द-टीका, रागगोविन्द और रागसोरठा नाम के चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

मीरा के पदों की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रज भाषा है राजस्थानी भाषा के मिश्रण से इनके पदों में लोक-गीतों की सी ध्वनि का अच्छा समावेश हो गया है। इनके पदों का महत्त्व जितना प्रगीति-काव्य की दृष्टिसे है उतनाही लोक गीतों की दृष्टि से भी। राजस्थानी स्त्री सुलभ बोल-चाल की साधारण भाषा में कहीं २ पर मीरा ने भक्ति और प्रेम के बड़े ही सुन्दर लोक-गीत लिखे हैं, इनके पदों में नारी-हृदय की स्वाभाविक टीस होने के कारण इनके गीत प्राय: समस्त भारत में स्त्रियों के

द्वारा बड़े चाव से गाये जाते हैं। इस दृष्टि से लोक-गीतों के रूप में हमें मीरा के कितने ही पद अन्य भाषा-भाषी स्त्री-समाज में भी सुनने को मिलते हैं। जब कोई स्त्री मीरा का पद गाती है तो वह उसकी गहराई में इतनी तल्लीन हो जाती है कि उस पदविशेष की सारी अनुभूतियाँ मीरा की न रह कर उसकी अपनी बन जाती हैं तथा वह आनन्द के उसी रस में झूमने लगती है, जिसमें कि कभी मीरा झूमी थी। गीतों की ऐसी विशेषता हमें मीरा के अतिरिक्त सचमुच ही हिन्दी के किसी कवि में नहीं मिलती।

स्वामी हरिदास—इनका कविता—काल सं० १६०० से १६१७ के मध्य का ठहरता है, इन्होंने 'टट्टीसम्प्रदाय' की स्थापना की थी। गायन विद्या में ये इतने निपुण थे कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन भी इनका गुरु के रूप में सम्मान करते थे। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इनके पदों में राग-रागनियों की विशेषता अधिक है, काव्यत्व की उनमें कमी है। इनकी भावव्यंजना तो निस्संदेह उत्कृष्ट है, किन्तु कविता का सा माधुर्य और कोमल पद-विन्यास का उस में अभाव है। इनके लिखे हुये 'हरिदास जी की वाणी' 'हरिदास जी के पद' और 'हरिदास जी के ग्रन्थ' नामक कई संग्रह प्राप्त हुये हैं।

सूरदास मदनमोहन—अकबर के समय में ये संडीले में अमीन के पद पर नियुक्त थे। ये जाति के ब्राह्मण और

विरक्तभाव के व्यक्ति थे। इन के पास जो धन आता था, उसे ये साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। एक बार इन के पास मालगुजारी का कई लाख रुपया आया, जिसे इन्हों ने साधुओं को खिला दिया तथा शाही खज़ाने में कंकर-पत्थरों से भरे हुए सन्दूक भिजवा दिए, जिन में एक चिट इस प्रकार लिख कर रख दी—

तेरह लाख संडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास-मदनमोहन आधी रात ही सटके॥

कहते हैं कि अकबर ने इनके इस अपराध को क्षमा करके इन्हें फिर बुलाया था, किन्तु ये लौट कर नहीं गए थे। इनके पद सूरदास जी से बहुत मिलते-जुलते हैं। सूरसागर में इनके बनाए हुए कितने ही पद मिल गए हैं, जिनका यह पता नहीं लगता कि वे पद सूर के हैं या इनके। इनका रचनाकाल सं० १५६० और १६०० के मध्य में माना जाता है। इनका लिखा हुआ कोई संग्रह-ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। कुछ फुटकल पद ही इधर उधर मिलते हैं।

रसखान—दिल्ली के पठान सरदार रसिक शिरोमणि का रसखान जन्म सं० १५८४ में हुआ था। दोसौ बावन वैष्णवों की वार्ता में इनका भी वर्णन मिलता है। स्वामी विट्ठल नाथ जी को ये अपना गुरु मानते थे। राधा और कृष्ण के प्रेम को लेकर इन्होंने भी बड़े सरस सवैये और कवित्त लिखे हैं। इनके लिखे हुये प्रेमवाटिका और सुजान-रसखान नाम के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध

हैं। । प्रेमवाटिका दोहे और सोरठों में तथा सुजानरसखान कवित्त और सवैयों में लिखी गई है । कृष्ण-विषयक गीतिकाव्य की परम्परा का सहारा न लेकर इन्होंने अपने प्रेम की भावनाओं को छंदों में लिखा है।

कृष्ण के बाल-चरित्र और यौवन-चरित्र का वर्णन इन्होंने जिस भावुकता से किया है, उससे इनके सच्चे प्रेमी हृदय का पता लगता है। जाति-पाँति के बन्धनों से दूर रह कर इन्होंने कृष्ण की भक्ति में भावों की जो मन्दाकिनी प्रवाहित की है, उसमें भक्ति की अपेक्षा प्रेम की तरंगें प्रधान हैं, किन्तु इनका प्रेम साधारण कोटि का नहीं है । वास्तविक लगन और हृदयस्पर्शिनी पीर के दर्शन उसमें होते हैं। मुसलमान होने पर भी कृष्ण और ब्रज-भूमि के प्रति इनका जो आकर्षण है, वह हिन्दू-भक्त कवियों से कम नहीं कहा जा सकता । निम्न लिखित सवैये में इनका ब्रज-भूमि के प्रति अटूट अनुराग लक्षित होता है—

मानुष हों तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हों तो कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन ॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरिछत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हों तो बसेरो करों मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ॥

कृष्ण की बाल-छवि और यौवन-छवि का चित्रण इन्होंने भी सूरदास की तरह अत्यन्त मार्मिक किया है। सूर के पदों में संगीत की सरसता, भक्ति की तल्लीनता और विषय की

गहराई तो निस्संदेह रसखान से कहीं अधिक बढ़कर है, किन्तु काव्य-छटा और प्रेम की अनूठी व्यंजना जितनी रसखान में है, उतनी सूर में नहीं। सूर का प्रेम-वर्णन भारतीयतासुलभ, गंभीरता लिये हुये है और रसखान के प्रेम-वर्णन में उर्दू शायरी के से प्रेम-वर्णन की पुट है। प्रेम की वह लुनाई जो तरुणावस्था में सर्व साधरण के हृदय में टीस बनकर उठा करती है, रसखान के सवैयों और कवित्तों में अधिक मिलती हैं। सूर के पदों में प्रेम की इस लुनाई ने शरद्काल की चाँदनी की स्निग्धता का सा रूप ले लिया हैं। रसखान प्रेम का ऐसा चित्र उतारते हैं, कि जो पाठक अथवा श्रोता के हृदय पर अत्यन्त तीव्र प्रभाव डालता है। कृष्ण की बंसरी के प्रभाव के बड़े ही मादक चित्र इन्होंने खींचे हैं। देखिए नीचे के सवैये में उनकी बंसरी क्या कर रही है ?

कौन ठगोरी भरी हरि आज,
बजाई है बांसुरिया रस भीनी।
तान सुनी जिन हीं तिन हीं,
तितहीं तिन लाज बिदा करि दीनी।

रसखान ने विरह की अपेक्षा मिलन के चित्र अधिक खींचे हैं कृष्ण की सुन्दरता और बन्सरी की मादकता से गोपियों का उन पर मोहित हो जाना, पानी भरते २ रुक जाना, काम करने की सुध-बुध न रहना, नयनों से प्रेम के आँसू बह निकलना, लोकलाज का विदा हो जाना अथवा मूर्छित होकर गिर जाना

आदि क्रियाओं का बड़ा ही सुन्दर भावमय चित्रण इन्होंने किया है। नीचे की पंक्तियों में कृष्ण के ऊपर सारे ब्रज-मंडल के मोहित हो जाने का कैसा सजीव चित्र है—

ग्रूमैं घरी घरी नन्द के द्वार, नवीनी कहा कहूँ बाल प्रवीनी।
या ब्रजमंडल में 'रसखानि', सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥

नवयुवतियों, बालिकाओं प्रवीण स्त्रियों और बधुओं सब को ही कृष्ण ने अपनी बन्सरी पर लट्टू कर लिया है। "सु कौन भटू जो नहिं लटू कीनी" इस पंक्ति में रसखान ने बड़ा ही तीखा व्यंग्य किया है। नव वधु को कृष्ण का अपने ऊपर मुग्ध कर लेना, उनके विशेष प्रेम-चातुर्य और सौन्दर्य का परिचायक है, क्योंकि नववधू के मन को आकर्षित करना कोई सरल कार्य नहीं है। नवबधु अपने हृदय की सब उमंगों को पति के लिए संजोकर आती है, अगर उसकी प्रेमनिधि को पति की अपेक्षा कोई अन्य पा लेने में समर्थ हो जाये तो उसकी यह प्रेम-विजय सचमुच ही असाधारण होती है, रसिक शिरोमणि कृष्ण की इसी प्रेम-चातुरी का संकेत कवि ने यहां किया है।

इस प्रकार के काव्य-कौशल रसखान ने अनेक स्थानों पर दिखाये हैं। गोपियाँ कृष्ण की बन्सरी से तंग आकर ब्रज के सब बाँसों को ही कटवा देने की सोचती हैं, कभी अपने कानों पर उँगली रख लेने की योजना बनाती हैं, किन्तु फिर भी कृष्ण के जादू से वे नहीं बच पातीं, क्योंकि कान बन्द

करती हैं तो कृष्ण के मुख की मुस्कान उनसे सम्भाली नहीं जाती, बेचारी हर तरह से विवश हैं। उधर राधा भी कृष्ण की बन्सरी से सौतियाडाह करती है। वह कृष्ण का मोर-मुकट, गुंजाओं की माला, पीताम्बर और लकुटी सब कुछ धारण करने को तैयार है। गऊओं के साथ बन २ में फिरना भी उसे प्रिय है, किन्तु कृष्ण के अधरों से विचुम्बित बंसरी को अपने अधरों का स्पर्श उसे अखरता है:—

मोरपंखा सिर ऊपर राखि हौं, गुंज की माल गले पहिरौंगी।
ओढ़ि पितांबर लै लकुटि, बन गोधन संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो रसखानि सों, तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
पै मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

रसखान में केवल काव्य चमत्कार ही नहीं है, अपितु दार्शनिकता भी है। दार्शनिकता से हमारा अभिप्राय यह नहीं कि रसखान ने जीव, सृष्टि और ब्रह्म आदि की व्याख्या करते हुये कोई दार्शनिक रहस्य उद्घाटित किया है, अपितु प्रेम की महत्ता को प्रदर्शित करते हुये, उन्होंने कहीं २ पर यह दिखाया है कि जिस ब्रह्म को वेद पुराण भी नहीं खोज सके जिसे सब अनादि, अखण्ड बता कर ही रह गये, उसी को अपने प्रेम के प्रताप से अहीर की छोकरियां कृष्ण के रूप में कटोरी भर छाछ पर नाना प्रकार के नाच नचाती हैं और राधा अपने प्रेमके बलपर उससे चरण दबवाती है, जिसे नारद सुक और व्यास जैसे ऋषि नहीं पा सके उसी को रसखान

ने ब्रज के कुंजों में छिपे हुये राधा के साथ अठखेलियाँ करते हुए देखा। ऐसे अनेक स्थलों पर रसखान एक प्रेमतत्त्वदर्शी की भांति अपनी भावुकता का परिचय देते हैं। नीचे के सवैयों में उनकी यह विशेषता देखी जा सकती है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद रिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूं कबहूं, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज कुटीर में, बैठो पलोटत राधिका पायन॥

❀ ❀ ❀

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद सैं सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

इन की भाषा ब्रज है। भाषा का प्रवाह, शब्दचयन का कौशल और कोमलता इनमें इतनी अधिक है कि हमें इनकी सी मधुरता ब्रजभाषा के अन्य किसी कवि में नहीं मिलती। सरलता, शब्दाडम्बर-हीनता, व्यंजकता और अनुप्रास की छटा ने इनकी भाषा को इतना चुस्त और मनोहर बना दिया है कि जो कुछ भी इन्होंने लिखा है, उसका सजीव चित्र पाठक के सामने खिंच जाता है। कृष्ण के प्रति इनकी भक्ति-भावना सख्य भाव की थी। इसलिए इनके भक्ति-सम्बन्धी विचारों में हमें इनके हृदय का खुलापन मिलता है। अपने सखा कृष्ण

की यौवन-छवि और मन-हरण कर लेने की अपूर्व शक्ति का वर्णन निस्सन्देह इन्होंने हिन्दू कवियों मे भी कहीं अधिक बढ़कर किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने इनके लिये यह ठीक ही कहा है—"इन मुसलमान जनन पैं कोटि हिन्दू वारिये" अन्त में एक दृश्य गोपियों से कृष्ण के दान माँगने का देकर हम इन रसिक शिरोमणि का विवेचन समाप्त करते हैं:—

दानी भये नए माँगत दान;
सुनै जुपै कंस तो बंधिकै जै हौं।
रोकत हौ बन में 'रसखानि'
पसारत हाथ घनो दुःख पैहौं।
टूटै छरा बछरा अरु गोधन,
जो धन है सु सबै धरि दैहौ।
जैहै अभूषन काहू सखी को;
तो मोल छला के लला न बिकै हौ॥

रसखान की इन पंक्तियों में मैत्रिक-भावना पूर्ण कितना खरा उपालंभ है? कितना काव्यकौशल है? कैसा अपूर्व व्यंग्य है? और कृष्ण के ऊपर गोपियों की कितनी अनूठी चोट है? इसे भावुक हृदय का व्यक्ति ही जान सकता है।

श्रीभट्ट—इनका जन्म संवत् १५६५ में माना जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान केशव काश्मीरी इनके गुरु थे। इन्होंने सीधी-सादी और चलती भाषा में छोटे-छोटे

पदों की बड़ी सुन्दर रचनायें की हैं। 'युगल शतक' और 'आदि बानी' इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इनके पदों में संगीत की विशेषता और भावों की सरसता है। कहते हैं, जब ये तन्मय होकर अपने पद गाया करते थे तो इन्हें कृष्ण भगवान् की प्रतिमा के प्रत्यक्ष दर्शन होने लगते थे। एक बार इन्होंने निम्न मलार राग गाना आरंभ किया—

भीजत कब देखौं इन नैना।
श्याम जू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना॥

इनके इतना पद गाते ही राधा और कृष्ण इन्हें इसी रूप में दिखाई दिये, तब इन्होंने इस पद को निम्न रूप में पूरा किया—

स्यामा स्याम कुंज तट ठाढ़े, जतन कियो कछु मैंना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसी से घिरि आई जल-सेना॥

इसके अतिरिक्त इनके युगल शतक में भी राधा कृष्ण के प्रेम और भक्ति सम्बन्धी पद अन्य कृष्णभक्त कवियों के समान ही मिलते हैं।

व्यास जी—ये ओरछा निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका वर्तमान होना सम्वत १६२० के आसपास माना जाता है। इन्हें शास्त्रार्थ का बड़ा चाव था। कहते हैं—एक बार इन्होंने गोस्वामी हित हरिवंश जी को शास्त्रार्थ के लिए जाकर ललकारा था, तब गोसाईं जी ने इन्हें बड़े शान्त भाव से उपदेश दिया, जिससे ये उनके अनन्य भक्त हो गए और बृन्दावन में ही

रहने लगे। ओरछा-नरेश महाराज मधुकर साह इनके अनन्य भक्त थे। इन्होंने इनको वापिस ले जाना चाहा, किन्तु ये वृन्दावन छोड़ कर नहीं गये।

इनकी रचना का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। विषय की दृष्टि से भी कृष्णभक्त कवियों की अपेक्षा इनका दृष्टिकोण व्यापक रहा है। कृष्ण की बाल-लीलाओं और प्रेम-लीलाओं में ही ये नहीं खोये रहे, बल्कि संसार की ओर भी इन्होंने दृष्टि डाली है। प्रेम का रूप इन्होंने आध्यात्मिक लिया है। शरीर-व्यवहार के लिए ये प्रेम को नहीं मानते थे। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर इन्होंने कितने ही पद और साखियाँ लिखी हैं। केवल रस और गान में ही डूबे न रह कर, तत्त्वनिरूपण की ओर भी इनका ध्यान गया है। इन्होंने रास-पंचाध्यायी नाम की एक पुस्तक लिखी है जो भूल से सूर सागर में मिला ली गई है। कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी इनके पद, अन्य भक्तों जैसे ही हैं। कुछ पांडित्य की छाप इनके पदों में अवश्य आ गई है। कबीर की सी साखी लिखने वाले ये अकेले ही कृष्ण-भक्त कवि हैं। नीचे इनकी दो साखिया दी जाती हैं—

व्यास न कथनी काम की, करनी है इक सार।
भक्ति बिना पंडित वृथा, ज्यों खर चन्दन भार॥

❀ ❀ ❀ ❀

प्रेम अतन या जगत् में, जानै बिरला कोय।
व्यास सतन क्यों परसि है, पचि हार्‌यो जग रोय॥

ध्रुवदास—इनके विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। कहते हैं श्री हितहरिवंश जी के शिष्य ये स्वप्न में बने थे। इन्होंने दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैये और पद आदि में भक्ति और प्रेम की सरस धारा प्रवाहित की है। इनके लिखे हुए लगभग चालीस ग्रन्थ हैं। कृष्णभक्त कवियों में ग्रन्थों की सब से अधिक संख्या इन्हीं की है। किन्तु किसी प्रकार का उच्च काव्य-कौशल हमें इनमें नहीं मिलता। वैसे कविता की सरसता इनमें पर्याप्त है इनकी रचनाओं के अध्ययन से यह पता अवश्य लगता है कि राधाकृष्ण के प्रेम पर रीतिकालीन प्रेम-वर्णन का प्रभाव किस प्रकार पड़ने लगा था। इनकी कविता का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

रूप जल उठत तरंग है कटाछन के,
अंग २ भौंरन की अति गहराई है।
नैनन को प्रतिबिंब पर्‌यो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ, ऐसो उर आई है।

भक्तिकाल की फुटकल काव्यधारा

अकबर के सुख-शान्तिपूर्ण राजत्वकाल में एक ओर तो सूर और तुलसी जैसे भक्त कवियों ने भक्ति काव्य की धारा प्रवाहित की, जिसका उदय समय के प्रभाव से जनसाधारण में से स्वतः हुआ था। इसमें राजनीति की अपेक्षा सामाजिक और धार्मिक स्थितियों ने अधिक योग दिया था। वास्तव में भक्ति की यह धारा जनता की प्रवृत्ति का एक स्वाभाविक प्रवाह था। पीड़ित जनता कहीं सहारा न पाकर सच्चे सुख अथवा ईश्वरा-राधना की ओर दौड़ पड़ी थी। अकबर की उदार नीति ने केवल इतना ही योग इसमें दिया कि राज्य की ओर से इस प्रकार की भक्तिसम्बन्धी रचनाओं पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया, जिससे यह धारा अपने स्वाभाविक रूप में प्रवाहित होती रही।

अकबर के शासन-काल की राज्यश्री के फलस्वरूप जो साहित्य लिखा गया, वह दूसरे ही ढंग का है। इसमें हम अकबर की उदार नीति का भारत की परम्परागत संस्कृति के साथ पूर्ण योग पाते हैं। शाही दरबार में भारतीय कला और साहित्य के मर्मज्ञों का सम्मान होने के कारण काव्य के इस नवीन ढंग में शृंगार और नीति सम्बन्धी साहित्य की

काव्य परम्परा को हम फिर उभरा हुआ पाते हैं। इस काव्य-धारा में सहयोग देने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कवि हुये हैं, यहाँ तक कि स्वयं शहनशाह अकबर ने भी ब्रज-भाषा में कविता लिख कर अपनी भावुकता का पूर्ण परिचय दिया है।

इस काल के कवियों को भक्ति-काल की फुटकल काव्य-धारा में इसलिए लिया गया है, कि हमें इनमें केवल दरबारी पन ही नहीं मिलता, अपितु किसी सीमा तक भक्ति के प्रवाह में ही हम इन्हें डूबा हुआ पाते हैं। इस काव्यधारा में प्रमुख स्थान कविवर केशवदास जी का है जिनका विवेचन निम्न प्रकार है—

केशवदास—इनका जन्म सं० १६१२ और मृत्यु सं० १६७४ के आस-पास मानी जाती है। ओरछा-नरेश महाराज इन्द्रजीतसिंह जी की सभा में इनका विशेष मान होता था। इनका परिवार परम्परा से संस्कृत के विशेष पंडितों के रूप में प्रसिद्ध था, जिसके कारण इन्होंने भी संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। इनके समय में हिन्दी-काव्यरचना को अलंकृत करने की परिपाटी हो चली थी। कुछ कवियों ने रस और अलंकार आदि काव्यांगों के विवेचन पर भी ध्यान दिया था। केशवदास पर भी समय की इस प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा। ये संस्कृत के अच्छे पंडित थे, इसलिए इन्होंने शास्त्रीय पद्धति से पूर्ण साहित्य चर्चा करनी प्रारंभ

की। इनसे पहले कृपाराम, मोहनलाल मिश्र और करनेस आदि कुछ कवि रस और अलंकारनिरूपण-सम्बन्धी काव्यचर्चा अपने ग्रंथों में कर चुके थे, किन्तु उनका विवेचन संस्कृत साहित्य-शास्त्र के ढंग पर पूर्णत: नहीं था। इसके अतिरिक्त काव्यांगों की पूर्णता भी उनमें नहीं थी, इसकी पूर्ति केशव ने ही की। ये काव्य में अलंकार को प्रधान मान कर चले और इसके लिए इन्होंने भामह उद्भट और दंडी आदि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया। अलंकार शब्द का अर्थ व्यापक रूप में लेकर इन्होंने वर्णन की प्रणाली और विषय इन दोनों को उसी के अन्तर्गत लिया है, किन्तु इनकी यह शैली हिन्दी में चल नहीं पाई। आगे चलकर पचास साठ वर्ष बाद जब हिन्दी में लक्षण ग्रंथ लिखने की परम्परा आरम्भ हुई तो उसमें रस को काव्य का स्वरूप माना गया, जिसके लिये उन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध काव्यशास्त्र काव्य प्रकाश और साहित्यदर्पण का पक्ष लिया। तथा अलंकार-निरूपण के लिए चंद्रालोक और कुवलयानन्द का अनुसरण किया।

केशव ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी कविप्रिया और रसिकप्रिया दो ग्रंथ लिखे हैं। कविप्रिया में अलंकारों का विवेचन हुआ है और रसिकप्रिया में रस का। इन ग्रंथों में केशव का अपना विवेचन कुछ भी नहीं है। सारी सामग्री इन्होंने संस्कृत ग्रन्थों से ही ली है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-ग्रन्थ लिखने

की परिपाटी का मार्ग-दर्शन हिन्दी में सर्वप्रथम इन्होंने ही किया है। इनमें आचार्य के गुण अवश्य थे, किन्तु मौलिकता के अभाव के कारण इन्होंने रस, रीति और अलंकार इन सब को अलंकार ही कहा है। इनमें मौलिकता केवल इतनी ही है कि इन्होंने अलंकार को सामान्य रूप के अंतर्गत ले लिया है और वास्तविक अलंकारों को विशेष के अंतर्गत स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त इनका कोई विशेष आचार्यत्व हमें इनके लक्षण-ग्रंथों में नहीं मिलता।

काव्यसाधना—इनके लिखे हुए कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित, विज्ञान गीता, रत्नबावनी और जहाँगीर जसचन्द्रिका नाम के सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें से पहले दो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शेष ग्रंथों में केवल रामचन्द्रिका ही अधिक प्रसिद्ध है और इसमें ही इनका कुछ काव्य-कौशल देखने को मिलता है। यह ग्रंथ इन्होंने राम की कथा को लेकर प्रबन्ध काव्य के रूपमें लिखा है, किन्तु पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकारप्रियता के कारण इनका यह ग्रंथ उक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शनमात्र रहगया है। जीवन के मार्मिक अंगों की विवेचना इसमें नहीं हो सकी। न तो इसमें कथा का सम्बन्ध-निर्वाह ही उनसे बन पड़ा है और न उसके मर्मस्थलों को ही वे पहचान सके हैं। दृश्यों की सजीवता भी इसमें कहीं देखने को नहीं मिलती। इनके कथा-वर्णन में कोई प्रवाह नहीं है। कहीं वे बड़ी तेजी से दौड़ते हैं और कहीं

शृंखला बिलकुल टूटसी जाती है, कहीं २ पर संस्कृत की उक्तियों का ज्यों का त्यों अनुवाद उन्होंने कर डाला है। मौलिक भावनायें कहीं दिखाई ही नहीं देतीं। रामकथा के मार्मिक स्थलों पर तो वे कहीं प्रकाश डाल ही न सके।

इन्हें कवि-हृदय प्राप्त न होने का जो दोष दिया जाता है, वह इसी लिए कि प्राकृतिक दृश्यों में भाव भरने की बात तो अलग रही, अपितु इन्होंने राम-जीवन की कथा के उन प्रसंगोंको भी, जिनको लेकर तुलसीदास जी ने भावों की प्रवाहिनी बहा दी है, यूहीं छोड़ दिया है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप राम की कथा का एक ऐसा मार्मिक स्थल है कि जिस पर एक साधारण कहानी लेखक भी बहुत कुछ लिख सकता है, किन्तु केशवने कवि होनेपर भी इस दृश्यको इस ढँग से चित्रित किया है कि जिसको पढ़ कर भाव उमड़ते ही नहीं। दो चार पंक्तियों में यदि भावोद्रेक होता भी है तो कथन की तीव्रता और छन्द का प्रवाह उसे वहीं रोक देता है। नीचे की पंक्तियों में पर्याप्त भावोद्रेक है—

बारक लक्ष्मण मोहि विलोको, मोकहँ प्राण चले तजि रोको।
हौं सुमरो गुण कौतुक तेरे, सहोदर, पुत्र, सहायक मेरे॥
लोचन बान तुहि धनु मेरो, तू बल विक्रम बालक हेरो।
तू बिनु हौं पल प्रान न राखौ, सत्य कहौं कछु झूठ न भाखौ॥
मोहि रही इतनी मन शंका, देन न पाई विभीषण लंका।
बोलि उठो प्रभु को पन पारो, नातरु होत है मो मुख कारो॥

यहाँ राम लक्ष्मण को सहोदर, पुत्र, सहायक, मित्र, धनुष और बाण आदि के रूप में सम्बोधित करते हुए एक बार अपनी ओर निहारने को कहते हैं तथा अपने प्राणों को त्यागने में विभीषण को लंका न देने की शंका प्रकट करते हैं और अपने प्रण को पूरा करने में लक्ष्मण के सहयोग के बिना मुख काला हो जाने के भय से आतुर होते हैं। इन पंक्तियों में भाई के प्रति स्वाभाविक स्नेह, ममता और कर्तव्य-भावना का चित्र यद्यपि केशव ने बड़ा ही सुन्दर खींचा है, तथापि वे कथा को एकदम इतनी तेजी से दौड़ाते हैं, कि तुरन्त ही विभीषण कह उठते हैं—

मैं विनवऊँ रघुनाथ कहौ अब, देव तजो पर देवन को सब।
औषधि लै निसि में फिर आवहिं, केसव को सब जियावहिं॥
सोदर सूर को देखत ही मुख, रावण के सिगरे पुरवै सुख।
बोल सुने हनुमंत कह्यो प्रभु, कूदि गयो जहँ औषधि को धनु॥

इन चार पंक्तियों में कवि विभीषण जी के द्वारा राम को कहलवाता है, कि वे कोई ऐसा व्यक्ति बतावें जो रात में ही औषधि (संजीवनबूटी) लेकर फिर आये, जिससे लक्ष्मण सूर्य उदय होने तक जीवित होकर रावण के सारे सुख पूरे करदे। इससे व्यंग्य 'रावण का विनाश' लक्षित है। निस्संदेह यह व्यंग्योक्ति सुन्दर है, किन्तु स्थल की मार्मिकता इससे नहीं टपकती। करुणा के स्थल पर यह हास्योक्ति फीकी पड़ जाती है और साथ ही स्थान की गम्भीरता को भी नष्ट कर देती है। इतना ही नहीं अन्तिम पंक्ति में राम का आज्ञासूचक बोल

सुनते ही हनुमान जी औषधि (संजीवन बूटी) के बन में कूद पड़ते हैं। संजीवनी बूटी के लिये हनुमान जी का शीघ्रता करना निस्सन्देह आवश्यक था, किन्तु इतनी शीघ्रता से उन्हें संजीवनी बूटी के बन में कुदवा देना जादू का सा चमत्कार लगता है। इस प्रकार के अन्य स्थलों पर भी केशवदास जी कथन की ऐसी ही शीघ्रता से काम लेते हैं कि बंधा-बंधाया समा नष्ट हो जाता है। एक उदाहरण और देखिए—

कल हंस, कलानिधि, खंजन, कंज,
कछू दिन 'केसव' देखि जिये।
गति, आनन, लोचन, पायन के,
अनुरूपक-से मन मानि हिये।
यहि काल कराल ते सोधि सबै,
हठ के बरषा मिस दूरि किये।
अब धों बिन मान प्रिया रहि हैं,
कहि कौन हितू अवलंबहि ये?

राम की विरह दशा का चित्र खींचते हुये, जहाँ तुलसी ने वर्षा ऋतु के आने पर 'घन घमंड नभ गर्जत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा,' लिखकर राम के हृदय की सुकोमलता, विह्वलता और वियोग की भाव-प्रवाहिनी प्रवाहित करती है, वहाँ हम केशव की उसी ऋतु और प्रसंग की उपयुक्त पंक्तियों में कथन-चातुर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते। सीता की अनुपस्थिति में राम, हंसों की चाल में उनकी गति, चन्द्रमा के

रूप में उनका मुख, खंजन के रूप में उनके नेत्र और विकसित कमल के रूप में उनके चरणों को देखकर अपना हृदय शान्त कर लेते थे, किन्तु वर्षा ऋतु ने इन सब पदार्थों के दर्शन भी दुर्लभ कर दिये हैं। अब सीता के अंगों की अनुरूपता करने वाले इन पदार्थों में से कोई भी देखने को नहीं मिलता, जिससे राम के हृदय की आतुरता बढ़ जाती है और वे इस चिन्ता में डूब जाते हैं कि अब प्राणों की रक्षा किसका सहारा लेकर हो सकेगी? विचार करने पर इस सारे वर्णन में केशव की अनोखी सूझ का प्रभाव ही हृदय पर पड़ता है। भावों के जगाने में उनका यह वर्णन सफल नहीं होता। ऐसी ही दशा उनके अन्य प्रकरणों की भी है। वास्तव में दरबारी कवि होने के कारण केशव में कथन की चमक-दमक तो है, किन्तु सच्चे कवि-हृदय का उनमें अभाव है। उनका जितना ध्यान उन प्रसंगों की ओर गया है, जिनमें कि उनकी दरबारी प्रकृति प्रकट हो सकती थी, उतना सात्विक भावों को उदय करने वाले प्रसंगों की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। प्रकृति के नाना रूपों के साथ तो वे अपने हृदय का सामंजस्य दिखा ही नहीं सके। पंचवटी और प्रवर्षण गिरि (किष्किंधा) जैसे रमणीय स्थानों तक की छटा का चित्रण करने में वे सफल नहीं हुये। वहाँ भी अलंकारों की खिलवाड़ मात्र ही उनमें मिलती है। हाँ, युद्ध, सेना की तैयारी और राज दरबार के ठाठ-बाट आदि का वर्णन करते हुये शृङ्गार और वीर रस की धारा बहाने में वे अवश्य सफल

हुये हैं, किन्तु ऐसे वर्णनों में भी कहीं २ पर प्रसंगों की अनुकूलता उनमें नहीं है, कहीं पर तो वे अलंकारों की अनावश्यक भरमार कर देते हैं, कहीं व्यर्थ की तड़क-भड़क में लग जाते हैं तथा कहीं दानमहिमा लोभ-निन्दा आदि के उपदेश देने लगते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक अंगों पर न पड़ कर, राजसी ठाट-बाट, नगरों की सजावट और चहल-पहल आदि पर अधिक पड़ी है। हाँ, रामचन्द्रिका के सम्वादों में उन्होंने पात्रों के अनुकूल क्रोध और उत्साह आदि भावों की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। रावण और अंगद का सम्वाद उनका तुलसी से भी सुन्दर बन पड़ा है। इस प्रकार वाक्पटुता और राजनीति के दाँव-पेंच जो दरबारी कवियों की विशेषतायें मानी जाती हैं वे केशव में पर्याप्त हैं।

इनके विषय में यह निस्सन्देह कहा जा सकता है, कि इन्होंने काव्यांगों का विस्तृत परिचय करा कर भविष्य के कवियों के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य किया। इनकी रसिकप्रिया का पदविन्यास, कल्पना और वाग्वैदग्ध्य, इनकी कवि प्रतिभा का अच्छा परिचय देता है, इसमें सरसता भी पर्याप्त है। वैसे ये बड़े भावुक थे और इनकी इस भावुकता का परिचय इनके मुक्तक पदों में पर्याप्त मिलता है, किन्तु अलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, और छन्दों की विभिन्नता के मोह ने इनकी भावव्यंजना को उठने नहीं दिया।

इनकी काव्यगत असफलता का दूसरा प्रमुख कारण भाषा की असमर्थता भी है भाषा इनके भावों का साथ नहीं देती। वह अपरिमार्जित और ऊबड़-खाबड़ है। इनकी कविता के दुरूह हो जाने का मुख्य कारण भी भाषा की यही त्रुटि है, जिसके कारण मार्मिक से मार्मिक भाव भी व्यर्थ हो जाता है और विषय में स्पष्टता नहीं आ पाती।

उपर्युक्त विवेचन की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि केशव में आचार्य के ही गुण थे, कवि के नहीं और यदि उन्होंने केवल आचार्य का ही कार्य किया होता तो निस्सन्देह वे अपने समय के कवियों का अधिकार पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकते थे। कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि जिन साहित्यिक परिस्थितियों में केशव ने काव्यांगों की विवेचना का कार्य किया था वे सर्वथा उसके अनुकूल थीं और रीति-ग्रन्थों का शास्त्रीय उदय एक प्रकार से इनके द्वारा ही हिन्दी में हुआ है।

केशव के अतिरिक्त इस धारा के कवियों में कृपाराम, गंग, रहीम, सेनपति नरोत्तमदास, महाराज टोडरमल और महाराज बीरबल आदि के नाम और उल्लेखनीय हैं:—

कृपाराम—इनके जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इन्होंने संवत् १५९८ में हित-तरंगिणी नाम का एक ग्रन्थ दोहों में बनाया था। इसमें रसों का वर्णन हुआ है। इनका यह ग्रंथ हिन्दी का सब से पुराना रीतिग्रंथ है। इनके बहुत से

दोहे बिहारी से मिलते जुलते हैं। इनकी भाषा बड़ी परिमार्जित भाव-पूर्ण और सरस है। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

पति आयो परदेश तें, ऋतु बसंत को मानि।
झमकि-झमकि निज महल में, टहलैं करै सुरानि॥

गंग—इनके जीवन के विषय में भली भाँति ज्ञात नहीं हैं। अकबर के दरबारी कवियों में इनका विशेष मान था। रहीम खानखाना इनका विशेष आदर करते थे। कहते हैं एक बार रहीम ने इनके एक छप्पय से प्रसन्न होकर इन्हें छत्तीस लाख रुपया दिया था। किसी नवाब ने इन्हें हाथी से चिरवा डाला था, ऐसा भी प्रसिद्ध है। देव कवि ने इस बात का और केशव कवि के प्रेत हो जाने का संकेत करते हुए लिखा है—

"एक भये प्रेत, एक मीजि मारे हाथी।" इनका कोई संग्रह ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। कुछ कवित्त पुराने संग्रह ग्रंथों में अवश्य मिलते हैं। वीर और शृंगार रस के बड़े ही रमणीक कवित्त इन्होंने लिखे हैं। वाग्वैदग्ध्य, सरसता, मार्मिक उक्तिवैचित्र्य, हास्यरस की पुट और अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु-व्यंग्य-पद्धति पर विरह-ताप का वर्णन इनकी कविता की विशेषतायें हैं। इनका कविता काल विक्रम की सतरहवीं शताब्दी का अन्त माना जाता है। इनकी आलोचना करते हुए दास कवि की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

'तुलसी गङ्ग दुवो भये सुकविन के सरदार' इस से पता चलता है कि ये अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में से थे।

इनकी कविता को पढ़ने से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि उस समय की रुचि को रंजित करने वाले सभी गुण उस में हैं। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

"बैठी थी सखिन संग, पिय को आवन सुन्यौ,
सुख के समूह में वियोग आगि भरकी।
'गंग' कहै त्रिविध सुगन्ध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जरकी॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
लागत ही औरै गति भई मान सरकी।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयौ,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥

रहीम जी—इनका जन्म संवत् १६१० में लाहौर में हुआ था। ये संस्कृत, अरबी और फारसी के पूर्ण विद्वान् थे। अकबर के दरबारी कवियों में सबसे प्रवीण कवि इन्हीं को माना जाता था। ये बड़े सहृदय और दानी थे। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपये दिए थे। केवल दरबारी कवि ही नहीं अपितु अकबर-राज्य के प्रधान सेनानायक और मन्त्री का पद भी इन्हें प्राप्त था। कितने ही युद्धों में इन्होंने विजय भी प्राप्त की थी।

कहते हैं एक बार जहाँगीर ने लड़ाई में धोखा देने के अपराध में इन्हें बन्दी बना लिया था और इनकी सारी जागीर ज़ब्त करली थी। बाद में जेल से छूट जाने पर इनकी पहिले

की सी आर्थिक स्थिति नहीं रही। ये दिन पर दिन दरिद्र होते गए। इस प्रकार अमीरी और गरीबी, दोनों प्रकार के जीवन का अनुभव इन्हें प्राप्त हुआ, जो काव्य का रूप लेकर बहुत ही सुन्दर ढंग से इनके दोहों में व्यक्त हुआ है। इन्होंने रहीम दोहावली अथवा रहीम सतसई, बरवै नायिकाभेद, शृङ्गार सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी आदि पुस्तकें लिखी हैं। रहीमरत्नावली के नाम से इनका एक संग्रह और भी प्रसिद्ध है।

काव्य-साधना—इन्होंने जितना भी काव्य लिखा है, वह सब इनके ऊँचे हृदय, संसार की वास्तविक अनुभूति, संवेदना और जीवन की गहराई का परिचय देता है। इनकी कविता-कला जीवन की उपयोगिता से पूर्ण है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों का जितना मार्मिक अनुभव इन्हें था, उतना हम इनकी कोटि के अन्य कवियों में नहीं पाते। इनकी कविता में कल्पना की उड़ान की अपेक्षा जीवन के प्रत्यक्ष व्यवहारों के चित्र अधिक अङ्कित हुए हैं। संसार की सच्ची अनुभूतियों में इनका हृदय इतना द्रवीभूत हुआ है कि इनके वर्णनों में हमें नीरसता में सर-सता, कटुता में मिठास और असत्य में सत्य के दर्शन होने लगते हैं। इनके लिखे हुए दोहे तो मानों लोक-व्यवहार के सजीव चित्र हैं! उनके पढ़ने से पाठक के हृदय में कर्त्तव्य, प्रेम और सहानुभूति की स्वाभाविक प्रेरणा उत्पन्न होती है। इनकी सतसई के आधार पर हम इन्हें सूक्ति-सुधा का

प्रणेता और नीति का कुशल चितेरा कह सकते हैं। जीवन सम्बन्धी विशेषताएँ जितनी इनके दोहों में मिलती हैं, उतनी अन्यत्र दुर्लभ हैं। मित्रता का उदाहरण उपस्थित करते हुये इन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

जलहिं मिलाय 'रहीम' ज्यों, कियो आपसम छीर।
अंगवहि आपुहि आपु लखि, सकल आंचकै भीर॥

इनके 'बरवै-नायिका-भेद' में भारतीय-प्रेम-जीवन की सच्ची झलक देखने को मिलती है। इसमें वर्णित इनके मनोहर और छलकते हुए दृश्य कोरी कल्पनायें नहीं हैं, बल्कि उनमें प्रेम की गहरी व्यंजना निहित है। इनकी कथन-शैली और उक्तियाँ बड़ी ही लुभावनी हैं। केवल दोहों में ही नहीं अपितु कवित्त, सोरठा, बरवै और सवैया आदि छंदों तथा पदों में भी इन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। मुसलमान होते हुए भी, हिन्दी की जो अमर सेवा रहीम ने की है, वह सचमुच ही प्रशंसनीय है। अवधी और ब्रज इन दोनों भाषाओं पर इनका तुलसी का सा अधिकार है।

नीचे के कुछ उदाहरणों में इनके काव्य-कौशल का चमत्कार देखिये—

अच्युत चरण तरंगिनी, सिवसिर मालति माल।
हरि न बनायो सुरसरी! कीजो इन्दव भाल॥

कवि ने यहाँ गंगा की स्तुति की है। ऐसा प्रसिद्ध है कि गंगा में स्नान करने से फलस्वरूप मनुष्य शिवरूप अथवा

विष्णु रूप हो जाता है। कवि को शिव रूप वांछित है। क्योंकि यदि वह विष्णु रूप हो गया तो गंगा उसके पैरों मे रहेगी। गंगा का भक्त होने के कारण यह उसे अभीष्ट नहीं है। इसलिए वह शिवरूप चाहता है। क्योंकि ऐसा होने पर गंगा उसके सिर पर विराजमान रहेगी। यहाँ पर रहीम की भक्ति-भावना का तो पता चलता है, साथ ही काव्य छटा भी देखते ही बनती है।

जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यह जानत सब कोय।
मड़ये-तर कै गाँठि में, गाँठि-गाँठि रस होय॥

गाँठ में रस नहीं होता, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, किन्तु कोई गाँठ ऐसी भी है कि जिसके प्रत्येक कोण में रस ही रस रहता है। उस गांठ पर लोकव्यवहार के कुशल निरीक्षक इस कवि का ध्यान जाता है—यह गांठ वर और वधू के आंचल की है, जो विवाह के अवसर पर मंडप के नीचे लगाई जाती है। इसी प्रकार के और भी कितने ही उदाहरण इनके दिए जा सकते हैं, जिनमें इन्होंने काव्य का पूरा चमत्कार दिखाया है।

सेनापति—इनका जन्म संवत् १६४६ के लगभग माना जाता है। ये अनूपशहर के रहने वाले थे। ये बड़े सहृदय व्यक्ति थे। इन्होंने केवल शृंगारिक रचनाएं ही नहीं कीं, अपितु प्रकृति चित्रण भी अत्यन्त सुन्दर किया है। जितना सुन्दर ऋतु वर्णन इन्होंने किया है, उतना हम किसी अन्य शृंगारी कवि का नहीं पाते। इनकी कविताओं में प्रकृति

निरीक्षण की अद्भुत छटा भी देखने को मिलती है। पद-विन्यास, अनुप्रास की छटा, भाषा का लालित्य और यमक का चमत्कार इनकी काव्य-रचनाओं की विशेषता है।

इनके कवित्तों का संग्रह 'कवित्त-रत्नाकर' के नाम से हुआ है। इनका यह ग्रन्थ भक्ति-भावना से पूर्ण है। इनका दूसरा ग्रंथ 'काव्य-कल्पद्रुम' भी बहुत प्रसिद्ध है। भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार है। इनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रज-भाषा है। इन्होंने राम और कृष्ण दोनों की भक्ति के पद लिखे हैं। ऋतु-वर्णन में इन्होंने प्रकृति का मानवीय भावों के साथ बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य दिखाया है। इनकी कविता मर्मस्पर्शिनी, प्रौढ़ और प्राञ्जल है। शृङ्गारी कवि-हृदय सुलभ भावुकता और चमत्कार दोनों विशेषतायें हमें इनमें साथ-साथ ही मिलती हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसाइ घुमरत भरे तोयकै।
सोभा सरसाने न बखाने जातकैहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोय कै।
घन सौं गगन छप्यौ, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कैं।
चारि मास भरि स्याम, निसा को भरम मानि,
मेरे जान याहीं तें रहत सोय कैं॥

इस कविता में कवि ने सावन के महीने की घटाओं का वर्णन किया है। चारों दिशाओं से उमड़-घुमड़ कर छाये हुए काले २ बादलों में कवि ने काजल के पर्वतों की सम्भावना की है तथा बादल छा जाने के कारण सूर्य दिखाई न देने में उसके खो जाने की सम्भावना करके काव्य का चमत्कार दिखाया है।

नरोत्तमदास— इनका निवासस्थान बाड़ी जिला सीतापुर था। ये सम्वत् १६०२ में वर्तमान थे। इनके जीवन के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इन्होंने सुदामाचरित्र नामक एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें सुदामा के घर की दरिद्रता का चित्र दिखाकर कृष्ण के द्वारा उन्हें अपने समान बना देने की घटना का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ आकार में तो छोटा ही है, किन्तु उसकी रचना इतनी सरस और हृदयग्राहिणी है कि पाठक पढ़कर करुणार्द्र हो उठता है। इनके इस ग्रंथ को हम खंडकाव्य कह सकते हैं। सुदामा जी अपनी पत्नी के आग्रह से कृष्ण से मिलने के लिए द्वारिका जाते हैं। मार्ग में चलते चलते उनके पैरों में बिवाइयाँ फट जाती हैं; और वे बहुत ही दीन-हीन दशा में कृष्ण के द्वार पर पहुँचते हैं। जब कृष्ण को उनके आने की सूचना मिलती है तो वे उनकी इस दशा को सुनकर बड़े दुःखी होते हैं, जिसका चित्र कवि ने इस प्रकार खींचा है—

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु जाने को आहि, बसै केहि ग्राम ।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पांय उपानह को नहीं सामा ।।
द्वार खड़ा द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकिसो बसुधा अभिरामा ।
पूछत दीन दयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ।।

कवि का यह वर्णन एक दीन-हीन, निर्धन और परिस्थितियों से पीड़ित व्यक्ति का कितना मार्मिक और सजीव चित्र उपस्थित करता है, यह सवैये को पढ़कर जाना जा सकता है। राजकीय ठाट बाट से दूर कोई ग्रामीण नगर में पहुँचकर वहां के सुन्दर सुन्दर महलों की शोभा को देखकर निस्सन्देह ही चकित होता है। आज भी यदि हम किसी ग्रामीण को दिल्ली में वायसराय-भवन के पास खड़ा हुआ देखें तो हम कवि के इस स्वाभाविक चित्रण का अनुमान लगा सकते हैं। दीन दयाल का धाम पूछने से सुदामा की उत्सुकता, कृष्ण की दयालुता और द्वारपाल की श्रद्धा का सुन्दर परिचय मिलता है और 'बतावत अपना नाम सुदामा' इस पंक्तिसे सुदामा की दयनीय दशा व्यंजित होती है। जितना मार्मिक यह चित्र है, उतना ही इसका प्रभाव भी कवि ने आगे की पंक्तियों में दिखाया है। करुणानिधि कृष्ण, सुदामा की इस दीन-दशा को देखकर रोने लगते हैं। करुणा का उद्रेक उनमें इतना होता है कि वे पैर धोने के लिए रखे हुए परात के जल को हाथ नहीं लगाते, बल्कि आँखों के जल से अपने सखा के पैर धोते हैं। यहाँ कृष्ण की मित्र-वत्सलता, करुणा और निर्दम्भता

का पूर्ण परिचय मिलता है। देखिये कितनी सुन्दर पंक्तियाँ हैं—

देखि सुदामा की दीन दशा करुना करिके करुना निधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नाहिं, नैनन के जल सौं पग धोए॥

इसके पश्चात् कृष्ण ने सुदामा का पूर्ण सत्कार किया। उन्हें राजा महाराजाओं से भी बढ़कर सम्मान दिया। इतना ही नहीं, उनके तंदुल मात्र चाब कर दो लोक की संपदा उन्हें दे दी। किन्तु सुदामा भगवान् के इस रहस्य को न जान सके। सात दिन के बाद जब कृष्ण ने उनको खाली हाथ बिदा किया तो वे बड़े दुःखी हुए। उनके मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न हुए, किन्तु सहृदय ब्राह्मण ने बालापन का साथी जान कर कृष्ण को कोई श्राप नहीं दिया। जब बहुत अधिक खिन्नता कृष्ण के इस व्यवहार पर उन्हें हुई, तो बस इतना ही उनके मुख से निकला—

"जैसो हरि हमको दियो, तैसो पैहैं आप।"

जब सुदामा अपने घर पहुंचे तो अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी के स्थान पर एक सुन्दर महल बना देख कर बड़े आश्चर्य-चकित हुये, जिसका चित्र कवि ने बड़ी ही हृदयग्राही पंक्तियों में इस प्रकार खींचा है—

भौतरा उतारि कौऊ चामीकर धाम कियो,
छानि तो उपारि डारी छाई चित्र सारी जू।

जो हौं हो तो घर तो पै काहे को उठन देतो,
होन हार ऐसी खोटी दसाई हमारी जू ॥

कवि ने सुदामा को यह प्रकट हो जाने का अवसर कथा के अन्त तक नहीं दिया कि भगवान् कृष्ण ने उनके लिए झोंपड़ी के स्थान पर महल खड़ा कर दिया है और उसकी ब्राह्मणी महलों की रानी बन गई है। ऐसा करने से दीन और दुःखी हृदय के चित्राङ्कन का अवसर उसे बहुत सुन्दर प्राप्त हुआ है, जिसके चित्रण में वह पूर्ण सफल है। काव्य के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर तो कवि ने ऐसे चित्र खींचे ही हैं कि जिनसे हमें उनकी सच्ची अनुभूतियों का पता चलता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त इन चार पंक्तियों में ही हम देखते हैं कि सुदामा जी अपने झोंपड़ी को न देख कर सहसा कह उठते हैं कि यदि मैं घर पर होता तो काहे को अपनी झोंपड़ी उठने देता। हर मनुष्य को अपना घर प्यारा है, चाहे वह गरीब हो अथवा अमीर। किन्तु गरीबों का अल्ला बेली है, वे भाग्य के भरोसे जीते हैं। भारी से भारी आपत्ति में भी वे अपनी दशा खोटी कह कर मन शान्त कर लेते हैं। सुदामा जी ने भी यही किया, वे तो--'होनहार ऐसी खोटी दशा ही हमारी जू' कहकर चुप हो गये। बाद में द्वारपाल से सूचना मिलने पर उन की पत्नी उन्हें लिवाने के लिये आती है। तब उनको भगवान् कृष्ण की सारी लीला का पता चलता है।

नरोत्तम दास के सुदामा चरित्र की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्हों ने इस में अमीरी और गरीबी के उस प्रश्न को बड़े ही सुन्दर ढंग से हल किया है जो कि आज साम्य-वाद का प्रमुख विषय बना हुआ है। इस के साथ ही जैसी परिमार्जित व्यवस्थित और चलती हुई भाषा में उन्होंने अपना यह खण्ड काव्य लिखा है, वह भी विषय के पूर्ण अनुकूल है, तथा पाठक पर इस का पूर्ण प्रभाव पड़ता है। हम यह बिना किसी पक्षपात के कह सकते हैं कि सर्व साधारण के हृदय को छूने वाला, निर्धन-गृहस्थ, आदर्श दम्पति और अपूर्व मित्रता का जितना सजीव, क्रियात्मक, स्वाभाविक और जीवनोपयोगी चित्र नरोत्तम कवि ने खींचा है उतना हम हिन्दी के किसी भी कवि की लेखनी के द्वारा चित्रित हुआ नहीं पाते।

महाराज टोडरमल—इनका जन्म संवत् १५८४ और मृत्यु संवत् १६८६ है। ये जाति के खत्री थे। अकबर के दरबार में ये भूमिकर-विभाग में मन्त्री के पद पर नियुक्त थे। हिन्दी के स्थान पर फारसी को शाही दफ्तरों की भाषा बनाने का कार्य इन्हीं की प्रेरणा से हुआ था। नीति सम्बन्धी पद-रचना करने वाले कवियों में इनका भी अच्छा स्थान है।

महाराज बीरबल—ये भी अकबर के मन्त्रियों में से थे। इनकी जन्मभूमि नारनौल (रियासत पटियाला) कही जाती है। किन्तु भूषण कवि के वर्णनानुसार इनका जन्म-स्थान तिकवांपुर माना जाता है। अकबर और बीरबल के बीच बड़ी विनोद की बातें हुआ करती थीं। इनके कितने ही चुटकले

उत्तर भारत में अब भी प्रसिद्ध हैं। ये अपने समय के अच्छे कवि थे। केशव कवि को इन्होंने एक बार छः लाख रुपया दिया था। इनके देहावसान पर अकबर को बड़ी संवेदना हुई थी, जिसका प्रकाशन इन्होंने निम्न सोरठे में किया था—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिं राख्यौ बीरबल॥

इसमें बीरबल की उदारता और दानशीलता का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही यह भी प्रकट होता है कि बीरबल की मृत्यु का अकबर को कितना भारी दुख हुआ था। इन पंक्तियों में अकबर के हृदय की सच्ची अनुभूति है, बनावटीपन नहीं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त कुछ और कवि भी भक्ति-काल की इस फुटकल काव्यधारा में आचार्य शुक्ल जी ने दिये हैं, जो बहुत ही साधारण हैं, उनका उल्लेख हम नहीं कर रहे हैं।

भक्ति-काव्य की धारा का यह प्रवाह एक प्रकार से इसके बाद शिथिल सा पड़ जाता है। उपर्युक्त फुटकल काव्यधारा में जिन कवियों का उल्लेख हमने किया है, उनकी कविताओं पर दरबारी प्रभाव किस प्रकार पड़ने लगा था, उसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु आगे चल कर तो बिल्कुल शृंगारिक काव्य-धारा का ही युग आ गया, जिसका विवेचन रीतिकाल

के नाम से किया गया है। आगे चलकर आधुनिक काल में राम-भक्ति और कृष्ण भक्ति काव्यधाराओं का उदय स्व० अयोध्या-सिंह उपाध्याय और मैथिली शरण गुप्त आदि कवियों की रचनाओं में फिर हुआ। उधर कबीर का रहस्यवाद और सूफी कवियों का प्रेमतत्त्व भी रहस्यवाद और छायावाद के रूप में अपना एक नवीन और पश्चिमी प्रभाव-पूर्णरूप लेकर हिन्दी काव्य में उदय हुए। इन सब काव्य-धाराओं का विवेचन आगे आधुनिक काल में किया गया है।

रीति-काल

संवत् १७०० से १९०० तक

सामान्य परिचय

हिन्दीकाव्य के स्वर्णयुग (भक्तिकाल) के पश्चात् रीतिकालीन कविताओं का युग आरम्भ होता है। इस काल में पहुँचते २ हिन्दी कविता-कामिनी अपनी यौवनावस्था में पहुँच चुकी थी। वीरगाथा काल हिन्दी कविता का शैशवकाल था, उसमें काव्यके सौन्दर्य निर्माण आदि की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया। उसके पोषण का कार्य करने में ही हमारे ये कवि तत्पर रहे। बाद में भक्तिकाल आया; जो हिन्दी कविता की किशोरावस्था का युग कहा जा सकता है। इस समय के भक्त कवियों ने भक्ति और प्रेम की नाना तरंगों से इस किशोरी के हृदय को प्लावित किया, उनका ध्येय इसमें जीवन की उत्कृष्टता, सरलता, गम्भीरता और सात्विकता आदि गुणों का समावेश करना ही रहा।

वीरगाथा-काल के कवियों ने यद्यपि बाल्यावस्था में ही इस नव यौवना को वीररस की पावन धाराओं में निमज्जित करके इसे निर्भीकता, स्वछन्दता और सबलता का अनुभव करा दिया

था, तथापि किशोरावस्था में जिस प्रकार की अनुभूतियों का संचय इस कामिनी ने किया, वह भौतिक क्षेत्र में पदार्पण करने पर यौवनकाल की स्वाभाविक प्रेमानुभूतियों के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ। कारण, किशोरावस्था में सीखे हुए अध्यात्म ज्ञान के पाठ यौवनावस्था में पहुँचते ही प्राय: विस्मरण हो जाते हैं। संस्कार रूप में उनकी छाया का आभास भले ही कुछ बना रहे, किन्तु सत्यता तो यही है कि यौवनावस्था का प्रत्येक क्षण भौतिक सुखों की लालसा में ही व्यतीत होता है। इस अवस्था में पहुँच कर सौन्दर्याकर्षण की एक स्वाभाविक भावना हृदय की प्रेरणा के रूप में जागती है, जिससे प्राणीमात्र प्रेरणा की इन स्वाभाविक उमंगों में संसार की ओर ही बहता हुआ दिखाई देता है। इस संसार से परे आत्मा का लोक उसे प्रिय लगता ही नहीं। वह जीवन के सुखों के लिये लालायित हो उठता है और उनकी प्राप्ति में ही उसके सारे प्रयत्नों की इतिश्री होती है। इसके साथ ही भौतिक सौंदर्य का बाह्य रूप उसके आकर्षण का जितना विषय रहता है, उतना आन्तरिक सौंदर्य नहीं। शरीर की सुन्दरता और मन की तृप्ति ही इस काल में प्राणीमात्र का ध्येय बन जाती है।

कविता प्राणी मात्र के भौतिक और अभौतिक विकास से सम्बन्धित है, उसका उदय और विकास आदि का क्रम भी प्राणियों की तरह ही चलता है। विश्व के किसी भी साहित्य को हम देखें उसके विकास-क्रम में यही प्रक्रिया हमें देखने को

मिलेगी। जब भी किसी भाषा के साहित्य का यौवन काल आया है, तभी उस ने लौकिक प्रेम और भौतिक सुखों के चित्रण में अपने आकार की वृद्धि की है। हिन्दी-साहित्य को भी हम उसके यौवन-काल में प्रेम अथवा शृंगार की इन्हीं लौकिक तरंगों में क्रीड़ा करते हुए पाते हैं।

काव्य के इस विकास-विज्ञान के अतिरिक्त कविता-कामिनी को किसी क्षेत्र विशेष की ओर ले आने वाली परिस्थितियां राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक हुआ करती हैं। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी कविता के इस काल पर विचार करते हैं, तो हमें ये परिस्थितियां भी शृंगारिक भावना को पोषित करने वाली ही मिलती हैं, जिन पर क्रमशः नीचे प्रकाश डाला जाता है:—

राजनैतिक स्थिति—राजनैतिक दृष्टि से यह काल भौतिक सुख-शान्ति का युग था। मुगल शासकों की नीति-कुशलता अथवा उदारता के कारण हिन्दू और मुसलमान शासकों के पारस्परिक झगड़े बहुत कुछ शान्त हो गये थे। हिन्दुओं ने यह सोच लिया था कि अब इस विदेशी सत्ता का यहां से जाना असम्भव है। उधर जहांगीर और शाहजहां जैसे सहृदय और भावुक शासकों की समान-व्यवहार की नीति के कारण भी हिन्दुओं का कुछ जोश ठंडा पड़ गया। झगड़ों के बजाये साथ २ मिलकर रहने में उन्हें सुख का अधिक अनुभव हुआ, जिसके परिणामस्वरूप दोनों जातियां एक

दूसरे के निकट सम्पर्क में आयी तथा एक दूसरे की संस्कृति साहित्य और कला ने दोनों को समान रूप से प्रभावित किया। मुस्लिम शासकों की भी विलासप्रियता ने हिन्दू शासकों को भी घेर लिया और 'यथा राजा तथा प्रजा' वाले सिद्धान्त के अनुसार इस समय के जनसाधारण भी विलासिता की इस बाढ़ से न बच सके। राजा अथवा प्रजा दोनों ही कामुकता-प्रिय हो गये और प्रेम की लौकिक क्रीड़ाओं में ही जीवन की समाप्ति को उन्हों ने अपना ध्येय बना लिया। बाहर से किसी शत्रु के आक्रमण का भय नहीं था, इसलिये तत्कालीन शासकों और सामाजिकों की यह विलासप्रियता निरन्तर बढ़ती गई और उसने धीरे २ उनके जीवन साहित्य और कला आदि को भी अपनी चमक-दमक से ग्रसित कर लिया।

इस विलासी मनोवृत्ति ने धीरे-धीरे मुगल शासन के रंगीन आवरण में कुचक्रों की घटायें उत्पन्न कर दीं। राज्य को सुख भोग की वस्तु समझ कर शाही अन्तःपुर में अनेक प्रकार के कुचक्र आरम्भ हो गए। शाहजहां के बेटों में राज्य-प्राप्ति के लिए भारी विद्रोह छिड़ गया। एक तरफ भारतीय संस्कृति का समादर करने वाले दारा में हिन्दुओं को अपने हिन्दुत्व के संरक्षण की आशा बँध गई और दूसरी ओर मुसलमानों को औरङ्गजेब इस्लाम का सजीव पुतला दिखाई देने लगा। इस प्रकार दारा और औरंगजेब के युद्धों में हिन्दू और मुसलमानों में जातीय भावना का उदय एक-बार फिर हुआ। दारा की

पराजित कर जब औरंगजेब सत्तारूढ़ हो गया, तो शिवाजी और महाराज छत्रसाल जैसे वीरों ने हिन्दूधर्म की रक्षा के लिए तलवारें संभालीं तथा उनका गुणगान करने वाले भूषण, सूदन और लाल जैसे वीर रस के कवि भी उत्पन्न हुए और इस तरह विलासिता के साथ-साथ वीरता की धारा भी तत्कालीन राजनैतिक क्षेत्र में बह चली, जिसने साहित्य में भी अपना स्थान बनाया।

सामाजिक स्थिति—सामाजिकों में विलासिता ने अपना स्थान किस प्रकार लिया था, इसका उल्लेख ऊपर दिया जा चुका है। यहां हमें यह बताना है कि इसी विलासिनी वृत्ति के कारण समाज की दशा कैसी होगई थी ? उस समय का सामाजिक क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, बल्कि नर और नारी सभी ने अपने जीवन में वासना को प्रमुख स्थान दिया हुआ था। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा ही निकृष्ट हो गयाथा। भोग-विलास के साधन जुटाना और उसी प्रकार की विचार-धारा में डूबे रहना उनके जीवन की कर्मशीलता बन गई थी। उनकी दृष्टि में स्त्री केवल उपभोग की वस्तु थी और स्त्रियां भी अपने आपको पुरुष की कामुकता का साधन-मात्र समझती थीं। स्वाभाविक लोक-लाज को तत्कालीन रमणी ने विलासिता के इस भंवर में पड़कर तिलांजलि दे दी थी। उस समय के सामाजिकों का विषय केवल वासनात्मक

प्रेम रह गया था और वह भी नर और नारी के प्राकृतिक रूप में ही नहीं, अपितु अनेक अप्राकृतिक रूपों में भी प्रेम का व्यापार चलता था। इस समय के समाज में सचमुच ही मनुष्य की उस कामान्धता का रूप हमें मिलता है कि जिसे जंगलीपन कहकर इस शब्द का भी अपमान करना है, क्योंकि जंगलीपन में भी हमें इस प्रकार की कामान्धता कहीं देखने को नहीं मिलती, विशेष भारतीय जंगलीपन में।

धार्मिक स्थिति—जहाँ पर राजनैतिक और सामाजिक स्थिति इस प्रकार की हो गई हो कि सिवाय भोग-विलास के मनुष्य को कुछ और सूझता ही न हो, वहाँ सच्ची धर्म-भावना का उदय होना ही असंभव है। इस प्रकार के जीवन में पले हुए व्यक्ति सचमुच ही धर्म को भी अपनी विलासी-वृत्ति से दूषित कर देते हैं। जिनकी आंखों पर वासना का पर्दा पड़ गया हो उनके हृदय में धर्म की सच्ची अनुभूति का होना उतना ही कठिन है, जितना कि ऊसर भूमि में किसी बीज का उत्पन्न होना। जिन आँखों में प्रेयसी का वासना-चित्र ही हर समय खिंचा रहता हो वे आँखें कभी प्रभु की पावन छवि देखना चाहेंगी? वह चिरकाल में भी सम्भव नहीं हो सकता। धर्म की सच्ची अनुभूति और प्रभु की पावन छवि तो उसी हृदय और आंख में समाती है, जहां से लौकिक वासना का संस्कार ही मिट चुका हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वासना से कलुषित नेत्र प्रभु को भी नायक और

नायिकाओं के कलुषित रूप में देखने के इच्छुक हो उठते हैं तथा धर्म का कलुषित और विकृत रूप ही ऐसे लोगों को आकर्षित करता है।

इस काल में हमें धर्म का ऐसा ही विकृत रूप मिलता है। नाथपंथियों की सिद्धियां, कबीर की ज्ञान-चर्चा, तुलसी की राम-भक्ति, सूफी कवियों का प्रेम-भाव और कृष्ण-भक्त कवियों की माधुर्य-भक्ति आदि की भावनाओं में से किसी भावना कोभी हम इस काल में उसके वास्तविक रूप में नहीं पाते। हां, राधा और कृष्ण के प्रेम-चित्र नायक और नायिकाओं के रूप में इस काल के कवियों ने अवश्य खींचे हैं, जिनमें कामुकता का नग्न चित्र ही हमें देखने को मिलता है। सचमुच ही इस कालमें धर्म ने प्रेम का यही निकृष्ट रूप धारण कर लिया था। राधा और कृष्ण का नाम लेकर अपनी कामुक मनोंवृत्तियों के प्रकाशन को ही इस समय के कवि धार्मिक चर्चा समझने लगे थे।

धर्म की ऐसी दशा हो जाने का कारण तत्कालीन विला-सिता तो थी ही, किन्तु इसके साथ ही कृष्ण-भक्त कवियों की वह प्रेम-भावना, जिसका प्रकाशन उन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम को लेकर आध्यात्मिक रूप में किया था, का विकृत हो जाना भी इसका एक परम सहायक तत्व था। राम-भक्ति शाखा का विवेचन करते हुए हम लिखा चुके हैं कि कोरी भक्ति-भावना की प्रतिक्रिया लौकिक प्रेम में हुआ करती है। कृष्णभक्त कवियों ने राधा

कृष्ण और गोपियों के प्रेम के जो चित्र खींचे थे, वे सब नायक-नायिकाओं के प्रेम के रूप में परिवर्तित हो गये। इस काल के कवियों ने रासरमण के पर्दे में विषय-वासना की अनेक नालियाँ प्रवाहित कर दीं। ब्रज-भूमि के सुन्दर कुंज, यमुना का कूल, वंशीवट और पल्लवित कानन जो कृष्ण-भक्त कवियों के लिये राधा और कृष्ण की रासलीलाओं के सुन्दर और पावन स्थल थे, उन सब को वासना के वातावरण में पले हुए इस काल के कवियों ने साधारण नायक-नायिकाओं के कलुषित अभिसारों के स्थल बना दिये। आत्मा के उस प्रासाद को ये परख ही नहीं सके, जिसकी झांकी कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने पदों में अंकित की थी। इन कवियों के उपादान वही हैं जो कि कृष्ण-भक्त कवियों के थे, किन्तु यहाँ उन में आत्मा की दिव्य ज्योति की अपेक्षा विषय-वासनाओं की धूम्ररेखा लहरा रही है, जिस में हमें भक्ति अथवा प्रेम और धर्म किसी का भी शुद्ध रूप देखने को नहीं मिलता।

साहित्यिक-स्थिति—हमने ऊपर लिखा है कि हिन्दी-कविताकामिनी का यह यौवन-काल था और यौवनावस्था में स्वभावतः प्राणीमात्र का आकर्षण शारीरिक सौंदर्य की ओर हो जाता है। अतएव इस काल की नवयौवना कविताकामिनी को भी हम शारीरिक सौंदर्य की उसी भावना से अभिभूत पाते हैं। हमारी हिन्दी-कविता की जननी संस्कृत कविता है, जिसके पास शारीरिक सौंदर्य को बढ़ाने वाले साधनों का

अपार भण्डार है। इस के साथ ही उसके अंग-प्रत्यंगों की विवेचना करने वाले अनेक ग्रंथ भी उस के पास हैं, फिर यह कैसे सम्भव हो सकता था कि दुहिता अपनी जननी के गुणों से वंचित रह जाती। हिन्दी-कविता के पिछले दो काल इस प्रकार की भावनाओं के युग थे कि उन में किसी प्रकार की तड़क-भड़क की आवश्यकता नहीं थी। वीर-गाथा काल में तुमुल-नाद के कारण कवियों का ध्यान कविता के आंगिक सौन्दर्य की ओर नहीं गया और भक्त कवियों ने भक्ति की विशुद्धता के कारण इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया, रीति-काल में हमारी कविता कामिनी को दरबारी आश्रय प्राप्त होता है, वह भी उन राजाओं का जो शराब की प्याली और पग-पायलों की झनकार में झूमा करते थे। चमक-दमक के लौकिक वातावरण में पले हुए इन महाराजाओं की दृष्टि में कवियों की सीधी-सादी वाणी का मूल्य हो भी क्या सकता था? राजदरबार में तो ऊपरी चटक-मटक चाहिये। अन्तर चाहे कैसा ही हो! एक तो इस काल के कवि ही कविता के सौन्दर्य-पक्ष को लेकर चले थे। दूसरे कविता के स्वाभाविक यौवन-विकास की दृष्टि से भी ऐसा होना आवश्यक था, इसके साथ ही स्वयं आश्रयदाता भी कविता-कामिनी के ऐसे ही रूप पर मुग्ध थे कि जो अपने अंग प्रत्यंगों की ओट से उनके हृदय को गुदगुदाये और उन्हें प्रेम के उस लोक में पहुँचा दे, जहाँ दैहिकता ही दैहिकता के

दर्शन होते हैं। निस्सन्देह ऐसा ही हुआ! कवियों ने हिन्दी कविता के लिए उन उपादानों को इकट्ठा किया जो कि उसकी जननी संस्कृत-कविताके पास थे। उन्होंने रस अलंकार छन्द और कविता के अंगों का विवेचन करने के लिये अनेक रीति-ग्रन्थों (नियम-ग्रन्थों) की रचना की और रस को काव्य की आत्मा मान कर वे कविता-सृजन करने के इस कार्य में लग गए।

उन्होंने शृङ्गार को रसराज कहा और शृंगारपूर्ण कवितायें लिखने में ही अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया। उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप और रूपक आदि अनेक अलंकारों से विभूषित कवित्त सवैये और दोहा आदि मुक्तक छन्दों की साड़ी से सुसज्जित और शृङ्गार के उद्रेक से आप्लावित सरस्वती के इन साधकों की हिन्दी कविता-कामिनी जब दरबारों में पहुँची तो राजा लोग उसके इस सुसज्जित रूप पर खूब मुग्ध हुये। उन्होंने उसके ऊपर दोनों हाथों से धन लुटाया और वासना-वृत्ति को गुदगुदाने वाले साहित्य का यह सृजन बड़ी धूमधाम के साथ होता रहा। आश्रयदाताओं से पैसा ऐंठने वाले इन कवियों ने अपने कर्त्तव्य की ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया ये लोग अलंकारों की कलाबाजी में ही भूले रहे। इन्होंने अपना वर्णनीय विषय केवल नायक और नायिकाओं को चुना, जिनके प्रेम की खिलवाड़ और अंगों की चित्रकारी के कोढ़ उभारने में ही इन्होंने अपनी सारी करामात खत्म कर दी।

नारी के एक २ अंग की छवि उतारने में इन्होंने प्रकृति के नाना उपमानों की झड़ी लगा दी है। नारी का जो सुन्दर चित्र इन्होंने अंकित किया है, वह केवल शारीरिक है। हृदय-सौन्दर्य की ओर इनका ध्यान नहीं गया। आँख, नाक, अधर हाथ, उरोज, कटि और जंघा आदि नारी का कोई भी अंग इन्होंने नख-सिख का चित्रण करते हुये नहीं छोड़ा। कोई आँख को कमल कह रहा है, तो कोई खंजन, मृग और मीन आदि की उपमा देकर अपनी कला का चमत्कार दिखा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी ये उपमायें कवि परिपाटी के अनुकूल एक भावपूर्ण रहस्य भी अपने में लिये हुये हैं। कवि परम्परा के अनुसार खंजन नयन, कौतूहलपूर्ण विलास का भाव प्रकट करते हैं। मृगनयन सरल माधुर्य को दर्शाते हैं और कमल-नयन धैर्य तथा शांति की व्यंजना करते हैं और मीन, नेत्रों की चंचलता का आभास कराते हैं, किन्तु सभी उपमाओं में ऐसा रहस्य हो यह बात नहीं है कुछ उपमायें तो व्यर्थकी और बेढंगी हैं। नाक की उपमा तोते की चोंच से देने में पता नहीं क्या सौन्दर्य इन कवियों को लगता था। यौवनावस्था में मुख की स्वाभाविक सुर्खी के कारण नाक भी कुछ सुर्ख हो जाती है यदि रंग से तोते की चोंच का अभिप्राय हो तब तो कुछ समझ में आता है, किन्तु उसके आकार की दृष्टि से तो किसी सुन्दरी को मजाक उड़ाने के सिवाय और कुछ समझ में नहीं आता। इसी प्रकार और भी कितनी ही ऐसी उपमायें हैं कि जिनमें

कथन का बेढंगापन लगता है। हम यह तो अवश्य कह सकते हैं कि नख-शिख वर्णन में इन कवियों ने बहुत अच्छी सफलता प्राप्त की है, किन्तु इनकी दृष्टि अधिकतर यौवनकाल में प्रविष्ट हुई नारी के ऊपर ही पड़ी है, जिसके सौन्दर्य-वर्णन का प्रभाव काम जागृति के अतिरिक्त मन पर कोई और पड़ता ही नहीं। इनका यह वर्णन स्त्री जाति के लिए सौन्दर्य वृद्धि में किसी प्रकार सहायक सिद्ध हो सकेगा, ऐसी कल्पना करना व्यर्थ ही है। नारी का नख-शिख, प्रेम, विरह, भावभंगी-चित्रण, लीला-विलास और नायक-नायिका भेद विस्तार आदि करने में इन कवियों ने जितनी भी कारीगरी दिखलायी है, वह केवल इस लिए कि नारी की उपभोग्यता में अधिक से अधिक आकर्षण उत्पन्न किया जा सके। नारी के प्रत्येक अंग पर इनकी कामुकता-भरी दृष्टि ही पड़ी है। नारी का कोई सामाजिक अस्तित्व इन की दृष्टि में जैसे था ही नहीं। उस के गृहिणी, सहचरी, माता, बहिन और पुत्री आदि पावन रूपों की ओर भी इन्हों ने ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी है।

शृंगारिकता—शृंगार रस का अधिक वर्णन होने के कारण इस काल को शृंगार-काल भी कहा जाता है। इस काल का यह नाम निःसन्देह उपयुक्त है। क्यों कि इस काल के सभी कवि घोर शृंगारिकता में डूबे हुये हैं। शृङ्गार अथवा प्रेम-मानव का अंतरंग साधक तत्व है। किन्तु यदि वह अपने पावन रूप में न रह कर निर्बाध वासना-तुष्टि का रूप

को ले तो समाज में दूषित विचार-धारा के अतिरिक्त प्रेम का कोई और मांगलिक भाव उत्पन्न नहीं होता। ऐसे समाज में विलास ही प्रेम का रूप ले लेता है और अतृप्त-हृदय शतधा हो कर रसिकता की दूषित नालियों में बहने लगता है। ऐसे वातावरणों में पले हुये व्यक्तियों की कविता-कामिनी भी ऐन्द्रिय आनन्द में ही उत्सव मनाने लगती है। जब हम रीतिकाल के इन कवियों की कविता-कामिनी पर विचार करते हैं तो निश्चय ही वह हमें ऐन्द्रियता के इसी आनन्द में उत्सव मनाती हुई दृष्टिगोचर होती है। शृंगारिकता के नाते इस काल के कवियों ने कविता-कामिनी के जितने भी चित्र उतारे हैं उन में हमें रसिकता, ऐन्द्रीयता और विषय-वासना ही अधिक मिलती है। इन में से कुछ कवियों की दृष्टि गार्हस्थिक प्रेम सौंदर्य के ऊपर भी पड़ी अवश्य है। किन्तु स्त्रैणताऽपूर्ण दृष्टिकोण होने के कारण ऐसे स्थलों पर भी इन कवियों ने प्रेम का वासनात्मक रूप ही चित्रित किया है। ये कवि परकीया प्रेम को लेकर चले हैं। इस लिये दाम्पत्य प्रेम का कोई निखरा हुआ रूप हमें इनके गार्हस्थ्य-प्रेम-चित्रण में भी नहीं मिलता। इनके गृहस्थियों को भी काम-केलि को छोड़ कर जैसे कुछ और काम नहीं रह गया था। वे प्रतिक्षण वासना की प्यास बुझाने का अवसर ही जैसे खोजते रहते थे। रसिकता अथवा विला-सिता ही उनका एक मात्र ध्येय बन गयी थी।

इन कवियों ने प्रेम का रूप गार्हस्थिक रखने का प्रयत्न

वैसे पर्याप्त किया है। बाजारू प्रेम का समर्थन इन्होंने नहीं किया। इनके वासनात्मक प्रेम के अधिकतर अंश परकीयाओं की ओर बहे हैं, वेश्याओं की ओर नहीं। इनकी परकीयायें प्रायः घरेलू स्त्रियाँ ही होती थीं, तथा उनके प्रति प्रेम-व्यापार भी दूती अथवा दासी आदि की सहायता से होता था। इस दृष्टि से इनका परकीया प्रेम एक प्रकार के घरेलू प्रेम की श्रेणी में ही आता है। हाँ, है यह प्रेम का निकृष्ट रूप ही।

रीति काव्य की शृंगारिकता के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए डा० नगेन्द्र जी ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

(१) उसका (शृंगारिकता का) मूलाधार रसिकता है, प्रेम नहीं। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय है, अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमें पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौंदर्य के रहस्य संकेत नहीं।

(२) इसीलिए वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुये, उसी की तुष्टि को निश्चल रीति से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है। उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृंगारउपभोग प्रधान एवं गार्हस्थिक है, जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है। दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमें नहीं मिलती।

(४) इसीलिये इसमें तरलता और छटा अधिक है। आत्मा की पुकार एवं तीव्रता कम।

रीति-परम्परा—रीति काव्य का सब से प्रथम ग्रन्थ हाल कवि की सतसई है। इसका समय चिन्तामणि के समय से लगभग पंद्रह-सोलह शताब्दी पूर्व का है। इसकी रचना प्राकृत भाषा में हुई है। इस में कवि ने प्रेमिका की रसमयी क्रीड़ाओं, अहीर और अहीरनियों की प्रेम-गाथाओं, ग्राम वधूटियों की काम-चेष्टाओं और सुन्दरियों के मर्मस्पर्शी और भावों का सरस वर्णन किया है। इसके पश्चात् अमरुक कवि का 'अमरुशतक' गोवर्धन की 'आर्या-सप्तशती' नामक के दो ग्रंथ शृंगार मुक्तकों के रूप में इसी विषय के मिलते हैं। वात्स्यायन के काम-सूत्र में भी इसी विषय का विश्लेषण मिलता है। जो दूसरी शताब्दी की रचना है। वीर-गाथा-काल के प्रतिनिधि कवि चंदवरदाई ने भी अपने पृथ्वीराज रासो में शृंगार के कुछ ऐसे चित्र अंकित किए हैं, जो रीति-विषयक कहे जा सकते हैं किन्तु हिन्दी का सर्वप्रथम कवि जिसमें हमें रीति काव्य की सी ऐन्द्रिय शृंगारिकता मिलती है, विद्यापति है। उनके शृंगार-चित्र अलंकृत तो हैं ही, साथ ही उनमें नायिका-भेद की झलक भी स्पष्ट है। रीति-कालीन शृंगार-चित्रों में हमें जो मूर्तता मिलती है, वह विद्यापति की पदावली में न होने के कारण वे रीति-काव्य की परम्परा से बचे हुए अवश्य हैं, किन्तु वैसे उन में रीति-सम्बन्धी तत्त्वों की कमी नहीं है।

ललना के अङ्ग-विकास आदि का वर्णन हम इनकी पदावली में भी वैसा ही पाते हैं, जैसा कि इन रीतिकालीन कवियों ने किया है।

इधर कृपाराम की हित-तरंगिणी हिन्दी काव्य के आरम्भिक काल संवत् १५६८ की रचना है, जो शुद्ध रीति-ग्रंथ है। कृपाराम ने अपने से पूर्व रचे हुए कुछ रीति-ग्रंथों की ओर धुँधला सा संकेत भी किया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हिन्दी के आदि काल में ही रीति-ग्रन्थ लिखने की शैली प्रचलित हो गई थी। कृपाराम की हिततरंगिणी पूर्णतः लक्षण-ग्रन्थ है। इसमें नायिका-भेद आदि विषयों का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। इसकी शैली विवेचनात्मक है और रीति-सम्बन्धी विषयों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन इसमें हुआ है।

सूर की साहित्य-लहरी और सागर में भी रीति-बद्ध शृंगार-चित्र खींचे गये हैं। उधर तुलसी की बरवै रामायण पर भी रीति-काव्य की छाप पड़ी हुई है तथा रहीम की बरवै नायिका-भेद और नन्ददास के रसमञ्जरी, मानमञ्जरी आदि ग्रन्थों में भी रीति-विषयक विषयों का अच्छा विवेचन हुआ है। रहीम और नन्ददास के ग्रन्थों को रीति-परम्परा के अन्तर्गत बड़ी सरलता से मिलाया जा सकता है। नायिका-भेद का निरूपण रहीम ने सरस उदाहरण लिखकर और नन्ददास ने लक्षण लिखकर अच्छे ढंग का किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की रीति-परंपरा किसी न किसी रूप में आदिकाल से ही हिन्दी साहित्य में चली आरही

थी। किन्तु जब आचार्यत्व की दृष्टि से हम इस पर विचार करते हैं, तो हिन्दी साहित्य में सब से पहिले आचार्य केशवदास ही मिलते हैं। इन्होंने रसिक-प्रिया में रस और नायिका-भेद का तथा कवि-प्रिया में अलंकार और काव्य के अङ्गों का प्रौढ़ विवेचन किया है। इन्होंने रस को काव्य की आत्मा न मान कर, अलंकार को काव्य की आत्मा कहा है, किन्तु उनकी यह शैली हिन्दी साहित्य में प्रचलित नहीं हुई। इनसे आगे पचास वर्ष बाद रीति ग्रंथों का जो प्रवाह अक्षुण्ण-गति से प्रवाहित हुआ, वह रस को काव्य की आत्मा मान कर चला। और इसके सर्वप्रथम आचार्य कविवर चिन्तामणि हुए। इन्होंने संवत् १७०० के लगभग 'काव्य-विवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' नाम के तीन ग्रन्थों में काव्यांगों का पूर्ण विवेचन किया और एक पुस्तक छन्द:शास्त्र सम्बन्धी भी लिखी। इनके बाद हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थ लिखने की एक परिपाटी सी बन गई। सभी कवियों ने अलंकार अथवा रस का लक्षण दोहे में लिखकर फिर सवैये अथवा कवित्त में उसका उदाहरण लिखना आरंभ कर दिया। इस तरह आचार्य और कवि का पृथक्-पृथक् कर्म एक ही व्यक्ति के द्वारा इस काल में होने लगा। संस्कृत में आचार्य और कवि पृथक्-पृथक् व्यक्ति होते थे। क्योंकि आचार्यत्व के लिये जैसी सूक्ष्म-विवेचनात्मक और पर्यालोचनात्मक शक्ति की आवश्यकता है, वह आचार्य में ही अधिक होती है। कवि

का कार्य तो काव्य-रचना करना है, लक्षण-ग्रंथ लिखना नहीं। यदि इस चक्र में कवि पड़ जाये तो उसकी प्रतिभा का स्वाभाविक विकास रुक जाता है और न आचार्य-कर्म की पूर्ति ही वह कर पाता है।

रीतिकाल के इन कवियों अथवा आचार्यों की ऐसी ही दशा हम पाते हैं। केवल छः सात कवि ही हमें इनमें ऐसे मिलते हैं कि जिन्होंने आचार्य-कर्म की पूर्ति कुछ संतोषजनक की है, अन्यथा अधिकतर कवियों के ग्रंथों में रीति-निरूपण का समस्त विषय प्रायः अस्पष्ट सा ही रह गया है।

इन कवियों ने रस और अलंकार आदि के उदाहरण रचने का कार्य जितना सुन्दर किया है, उतना लक्षण अथवा विवेचन का नहीं। साहित्य-शास्त्र पर गम्भीर अथवा विस्तृत विवेचना इनके द्वारा नहीं हो पाई। इसका बहुत कुछ कारण गद्य का अभाव भी है। क्योंकि काव्य-विवेचन का कार्य पद्य में भली भांति नहीं हो सकता, उसके लिये परिमार्जित गद्य ही अपेक्षित है।

श्रव्य और दृश्य, काव्य के इन दोनों भेदों में से केवल श्रव्य काव्य का निरूपण ही इन रीति-ग्रंथकारों ने किया है और उसमें भी केवल अलंकार, रस और नायिका-भेद के निरूपण की ओर ही इनका ध्यान अधिक गया है। शृंगार रस को प्रधान मानने के कारण, इसी रस को लेकर कितने ही स्वतंत्र ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं। नायिका के नख-शिख-वर्णन,

षट् ऋतु-वर्णन और वियोगात्मक बारहमासे आदि लिखने की ओर ही इनका झुकाव अधिक रहा है। जीवन के नाना अंगों, प्रकृति की रसमयी क्रीड़ाओं और जगत् के अपार रहस्यों की ओर इनका ध्यान नहीं गया। सभी कवि शृंगार नायिका-भेद और रस-निरूपण के सीमित दायरे में घूमते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्य के स्वतंत्र विकास की गति उनमें प्रायः मंद सी हो गई है। नायक तथा नायिकाओं के रूप-चित्रण और हाव-भाव निरूपण आदि में ही उनके काव्य-कौशल के सारे प्रयत्न दिखाई देते हैं।

इस काल में भाषा यद्यपि प्रौढ़ हो चुकी थी, किन्तु उसका कोई व्याकरण प्रस्तुत न होने के कारण शब्दों की मनमानी तोड़-मोड़, मनचाहे प्रयोग आदि की रुचि भी इन कवियों में देखने को मिलती है। वाक्य-रचना सम्बन्धी कितने ही दोष भी इनकी रचना में आगए हैं। इसके साथ ही फ़ारसी और संस्कृत आदि के शब्दों को तोड़-मरोड़ कर भी इन्होंने खूब प्रयुक्त किया है। इनकी इस स्वेच्छाचारिता के कारण कहीं-कहीं पर भाषा की दुरूहता भी इनमें पर्याप्त आगई है। कोई-कोई शब्द तो इतना विकृत कर दिया गया है कि उसके सांकेतिक अर्थ का बोध ही नहीं हो पाता।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन कवियों के द्वारा गीति अथवा काव्य किसी भी विषय का सुसम्पादन नहीं हो पाया। सबसे बड़ा कार्य जो इन्होंने किया वह यही कि हिन्दी साहित्य में रीति-ग्रंथों के अभाव को जैसे-तैसे रूप में पूरा किया तथा शृंगार और वीर जैसे लोक-जीवन के साधक रसों पर मुक्तक काव्य लिखकर तत्कालीन समाज में सरसता, उल्लास और साहस का संचार किया।

रीति-काल के कवि

यह काल शृंगारिक कवियों का युग रहा है। इस दृष्टि से इस काल के प्रतिनिधि कवि बिहारी कहे जा सकते हैं। इनका विवेचन निम्न प्रकार है—

बिहारीलाल—इनका जन्म सम्वत् १६६० के लगभग ग्वालियर के पास बसुआ गोविन्द पुर नाम के गाँव में हुआ था। जयपुर के महाराज जयसिंह के दरबार में इनका विशेष सम्मान था, महाराज जयसिंह अपनी नवोढ़ा पत्नी के प्रेम में इतने फंस गये थे कि उन्हें राज-काज की कोई चिंता ही नहीं रह गई थी। इससे मन्त्री लोग बड़े परेशान थे। जब कविवर बिहारी जयपुर पहुंचे तो मन्त्रियों ने इन से कोई युक्ति विचारने के लिए कहा। तब इन्होंने अपना निम्न दोहा महाराज के पास लिख कर भिजवाया—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिकाल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे को पढ़ते ही कामान्ध महाराज की आंखें खुल गईं। कच्ची कलिका से भ्रमर के बन्ध जाने की इस उक्ति ने उनके हृदय पर मार्मिक चोट की तथा वे राजकाज में लग गये।

बिहारी से प्रसन्न होकर उन्होंने इनको ऐसे ही सरस दोहे बनाने को कहा। और बिहारी अपने सरस दोहे बना बनाकर उनको सुनाने लगे। इस प्रकार सात सौ दोहों का यह सरस संग्रह 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कहते हैं बिहारी को प्रत्येक दोहे पर एक-एक अशर्फी पुरस्कारस्वरूप मिली थी।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, बिहारी सतसई सात सौ दोहों का संग्रह है। किन्तु ये सात सौ दोहे केवल शृंगार-रस सम्बन्धी ही नहीं हैं, अपितु नीति, भक्ति और लोकव्यवहार सम्बन्धी भी हैं। इनके इस ग्रंथ को देशी और विदेशी सभी साहित्यप्रेमियों ने बड़ा महत्व दिया है। इस पर पचासों टीकायें लिखी गई हैं। तथा संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी आदि भाषाओंमें इसके अनुवाद भी हुये हैं। कितने ही अंग्रेजी विद्वानों ने भी इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। भारतीय विद्वान् भी बिहारी की वाक्चातुरी, अनुपम सूझ और हृदय की मार्मिक चोट पर बहुत मुग्ध हुये हैं, किन्तु इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल के शब्दों में अधिकतर स्थान उन्हीं लोगों का है जो रचना की बारीकी और सूक्ष्म-विन्यास की निपुणता की ओर दृष्टि रखते हैं अथवा यह समर्थन उस पक्ष के लोगों का है जो किसी हाथी दांत के टुकड़े पर महीन बेल बूटे देख कर घण्टों वाह-वाह किया करते हैं। जो लोग हृदय के अन्तस्तल पर काव्य का मार्मिक प्रभाव चाहते हैं या किसी भाव की

स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी के दोहों से नहीं होता। बिहारी के दोहों में काव्य संगीत की वह स्वरलहरी है ही नहीं जो पाठक के हृदय में कुछ काल तक गूँजा करती है। वास्तव में बिहारी में भावों की उत्कृष्टता, उदात्तता और स्निग्धता की कमी है। इनका शृंगार-वर्णन प्रेम की उस उच्च भूमि पर नहीं पहुँचता, जहाँ पहुँचकर मनुष्य किसी आत्म-जगत् में खो जाता है। जो भी हो इसमें संदेह नहीं कि बिहारी को वह कवि हृदय प्राप्त था जो कि सहृदय पाठकों को घण्टों तक किसी मादक रस में विभोर सा कर देता है।

काव्य-साधना—बिहारी की काव्य-साधना को परखने के लिए हमें उनके विषय, परिस्थितियों और दृष्टिकोण पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विषय की दृष्टि से यदि हम बिहारी को देखते हैं तो वे शृंगार को रस-राज मान कर चले हैं तथा उन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है और नायक-नायिका के समस्त हाव-भाव, मान, परिहास, नख-शिख तथा शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन किया है। इनका संयोग पक्ष काव्य की दृष्टि से पर्याप्त सजीव है। नर-नारी सुलभ प्रेम व्यंजनायें भी उसमें सुन्दर हुई हैं। नायिका के अंग-प्रत्यंगों की छवि खींचने में तो बिहारी ने सचमुच ही कमाल दिखाया है।

वियोग-पक्ष में उनपर उर्दू शायरी का पूरा प्रभाव झलकता है। विरहिणी नायिका के कुछ चित्र इन्होंने बड़े अत्युक्तिपूर्ण चित्रित किये हैं। नायक के विरह में बेचैन नायिका इतनी दुर्बल हो जाती है कि जब वह साँस लेती है तो छः सात हाथ पीछे हो जाती है और जब साँस निकालती है तो छः सात हाथ आगे आ जाती है और इस तरह हर समय हिंडोरे पर चढ़ी रहती है—

> इत आवति चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
> चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥

इतना ही नहीं, विरह में नायिका इतनी तप जाती है कि जाड़े की रात में भी गीले वस्त्रों की आड़ लेकर सखियाँ बड़े साहस के साथ उसके पास पहुँच पाती हैं—

> आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
> साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥

प्रेम की ऐसी खिलवाड़ ही सर्वत्र चित्रित नहीं की गई अपितु कहीं-कहीं पर बिहारी ने लौकिक-प्रेम के ऐसे मार्मिक चित्र खींचे हैं कि जिनकी हृदय पर गहरी चोट होती है। ऐसे दोहों में उनका प्रेम वर्णन सचमुच ही काव्य की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। देखिये नीचे के दोहों में इन्होंने प्रेम की ऐसी ही अभूतपूर्व व्यंजना की है—

> कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजाति।
> कहि है सब तेरो हियौ, मेरे हिय की बाति॥

❀ ❀ ❀

प्रेम अडोल डुलै नहिं मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी, चितवन माँहि लखाय॥

पहिले दोहे में नायिका अपने प्रेम को कागज पर लिखने में असमर्थ है, क्योंकि प्रेम लिखने की वस्तु है ही नहीं। संदेश-वाहक को प्रेम का संदेश देते हुए भी वह लज्जित हो रही है, क्योंकि प्रेम गोपनीय वस्तु है। प्रेमास्पद के अतिरिक्त किसी अन्य से अपने हृदय की बेचैनी को कहना प्रेम का उपहास करना है। तब तो नायिका प्रियतम को यही कहलाकर भेजती है कि मेरे हृदय की बात तुम्हारा हृदय ही बतावेगा। यहाँ बिहारी ने दो सच्चे प्रेमी हृदयों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र खींचा है। निस्संदेह प्रेम को प्रेमी का हृदय ही अनुभव कर सकता है, किसी अन्य में उसके वर्णन अथवा अनुभव करने की शक्ति है ही नहीं।

दूसरे दोहे में भी बिहारी ने गजब का काव्य-कौशल दिखाया है। नायिका के हृदय में उसके प्रियतम की मूर्ति अंकित हो गई है, जिस का ध्यान लगाए वह मग्न बैठी हुई है और मूर्ति कोही प्रियतम मानकर उससे मन ही मन बातें करने का अपार रस ले रही है, वह किसी से बोलती तक नहीं यदि कोई बोलकर उसके ध्यान में बाधा उपस्थित करता है तो उस पर उसे क्रोध आता है। क्यों कि बोलने से हृदय में बसी हुई प्रियतम की जिस मूर्तिको आँखोंमें देखने का अपार आनन्द वह ले रही है वह आँखों से ओझल हुई जाती है बिहारी का

यह भाव-चित्र कितना स्वाभाविक है, इसका अनुभव वही कर सकता है जो कभी किसी के ध्यान में इस प्रकार लीन होकर बैठा हो।

प्रेमिका को अपने प्रेमी के साथ चुहलबाजी में कितना रस मिलता है। उसे बार-बार तंग करने में वह कैसे आनन्द का अनुभव करती है ? इसका चित्र बिहारी ने कृष्ण की बंसरी को राधा के द्वारा छुपवा कर इस प्रकार खींचा है—

> बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
> सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

इसी प्रकार के और भी कितने ही भाव-चित्र बिहारी सतसई में देखे जा सकते हैं।

परिस्थितियां—बिहारी की काव्य-साधना साहित्य की जिन परिस्थितियोंमें आरम्भ हुई थी, वे शृंगार, नायक-नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, अलंकार और रसनिरूपण, षट् ऋतु-वर्णन और कौशलता सम्बन्धी विषयों के अनुकूल थीं। उस समय के सभी कवि अपनी कलाबाजी से अपने आश्रयदाताओं की वासना-वृत्ति को गुदगुदाने में लगे हुए थे। नर और नारी की काम-क्रीड़ाओं के अतिरिक्त जीवन के किसी अन्य रूप पर उनका ध्यान जाता ही नहीं था। उस समय के कुछ विद्वान् तो रीति-ग्रन्थ लिखकर अपनी शास्त्र-बुद्धि का परिचय दे रहे थे और कुछ कवि-कर्म में लगे हुए थे। इनमें अधिकतर संख्या ऐसे विद्वानों की थी जो आचार्य और कवि दोनों के

कर्म की पूर्ति करना चाहते थे। किन्तु बिहारी को हम आचार्य के मोह से विरक्त हुआ पाते हैं। उन्होंने कोई रीति-ग्रन्थ लिखने की योजना न बनाकर कवि-कर्म में ही अपने आपको लगाया था। हाँ, समय के प्रभाव से किसी भी व्यक्ति का बचना कठिन होता है। इसलिए बिहारी ने काव्य-साधना का दृष्टि-कोण रखने पर भी आचार्यों के से कर्म की पूर्ति की है। निःसंदेह उन्होंने कोई रीति-ग्रन्थ नहीं लिखा है, किन्तु रीति-ग्रन्थ संबन्धी समस्त बातें हमें उनकी सतसई में मिलती हैं। केवल लक्षणों की कमी है। अलंकारों की दृष्टि से तो शायद ही कोई अलंकार हो कि जिसे हम इनकी सतसई में कविता-कामिनी का शृंगार करते हुए न पाते हों। इनकी सतसई में से अलंकारों के जितने सुन्दर उदाहरण मिल सकते हैं, उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसके अतिरिक्त नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, षट् ऋतु-वर्णन आदि रीति-कालीन विषयों की भी इनकी सतसई में कमी नहीं है। इन विषयों पर ग्रन्थपूर्ति के दृष्टि-कोण से बिहारी ने लिखा हो ऐसी बात नहीं है, बल्कि बिहारी की तूलिका ने जो भी चित्र खींचा है, उसी को उन्होंने उसके स्वाभाविक रंगों से परिपूर्ण कर दिया है। उपर्युक्त सभी विषयों पर बिहारी का पूर्ण अधिकार है।

दृष्टिकोण—बिहारी का दृष्टिकोण किसी प्रबन्ध-काव्य की रचना करना नहीं रहा है।

उन्होंने मुक्तक काव्य लिखा है, जिसमें पूर्ण जीवन अथवा उसके किसी अंग विशेष का उत्तरोत्तर प्रदर्शन नहीं किया जाता, बल्कि जीवन के अपार रमणीय दृश्यों में से कुछ एक को इस तरह से काव्य-कला का रूप दिया जाता है कि जिसे पढ़कर अथवा सुनकर मनुष्य कुछ क्षणों के लिये ठगा सा हो जाता है। ऐसा करने के लिये कवि का विश्व की नाना मनोरम वस्तुओं और जीवन के व्यापारों का एक ऐसा स्तवक सा प्रस्तुत करना पड़ता है कि जिसका प्रत्येक पुष्प अपनी पृथक् पृथक् सुगंधि, छटा और चित्रकारिता से दर्शकों का मन हरता है। ऐसे कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। गागर में सागर भरने का कार्य कवि तभी कर सकता है, जबकि उसमें कल्पना की समाहार शक्ति के साथ-साथ भाषा की समास-शक्ति भी पूर्णत: हो। मुक्तक-काव्य-कार की इस क्षमता को हम बिहारी में पूर्ण रूप से पाते हैं। यही कारण है कि सतसई के दोहे नावक के ऐसे तीर बन गये हैं कि जो देखने में तो छोटे लगते हैं, किंतु वैसे मर्म के ऊपर गहरा घाव करके सारे शरीर को बीध देते हैं।

बिहारी की वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। भाव-व्यंजना की दृष्टि से हम उन्हें मानव की प्रेम प्रवृत्ति का भावुक चितेरा कह सकते हैं। स्त्री और पुरुष के हाव-भाव, इच्छाओं और विलासों

का जैसा सूक्ष्म-निरीक्षण हमें बिहारी में मिलता है, वैसा किसी अन्य शृंगारिक कवि में नहीं। मानव-काव्य लिखने में बिहारी ने सचमुच ही कमाल कर दिया है। डा० सूर्यकान्त के शब्दों में तारुण्य की लुनाई को, ललनाओं की ललित केलिभंगियों को जैसा बिहारी ने परखा है वैसा और किसी ने नहीं। उसने प्रेम की ओस से एक-एक बूंद लेकर अपनी मतमई को भरा है। उसकी एक एक बूंद में शृंगार की कूक है, अनंग का राग है और प्रेम की वारुणी है। इस दृष्टि से बिहारी को अवश्य श्रेष्ठ कवि कहा जा सकता है। किंतु जब हम उनपर प्रेम के सच्चे चितेरे कबीर जायसी, तुलसी और सूर आदि कवियों के से प्रेम-वर्णन की दृष्टि से विचार करते हैं तो बिहारी का प्रेम-वर्णन उनके सम्मुख एक विडम्बना मात्र ठहरता है।

बहुदर्शिता—बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी बहुदर्शिता है। उन्होंने मानव-प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन तो किया ही है, इसके साथ ही नीति, भक्ति, लोकव्यवहार और दार्शनिकता सम्बन्धी विषयों पर भी सुन्दर दोहों की रचना की है। कहीं २ पर तो वे वेदान्तियों की सी चर्चा करते हुए मिलते हैं। नीचे का सोरठा उनके वेदान्त-ज्ञान का पूर्ण परिचय देता है—

मैं समझौ निरधार, यह जग कांचो कांच सौ।
एकै रूप अपार, प्रति बिम्बित लखियतु जहां॥

और निम्न दोहे हमें उनकी भक्ति, नीति और व्यवहार-सम्बन्धी प्रतिभा का पूर्ण परिचय देते हैं—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ॥
कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार;
मो सम्पति जदुपति सदा, बिपति बिदारन हार॥

× × × ×

दुसह दुराज प्रजानु कौं, क्यों न बढ़े दुख दन्दु।
अधिक अन्धेरो जग करत, मिलि मावस रविचन्दु॥

× × × ×

न ए बिसंसिए अति नए, दुरजन दुसह सुभाय।
आंटे पर प्रानन हरत, काँटे लौं लगि पाँय॥

भाषा—बिहारी की भाषा ब्रज है, जिसके विषय में आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—"बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है, वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत किया है, यह बात बहुतों में पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्दों का भी व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है।"

चिन्तामणि त्रिपाठी—ये तिकवांपुर जिला कानपुर के निवासी थे। भूषण, मतिराम और जटाशंकर इनके भाई थे। इनका जन्म-संवत् १६६६ के लगभग माना जाता है। इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर ग्रंथ लिखे हैं। 'कवि-कुल-कल्पतरु' 'छन्द-विचार' 'काव्य-विवेक' और 'काव्य-प्रकाश' नाम के ग्रंथ इनके बहुत प्रसिद्ध हैं। आचार्यत्व की दृष्टि से इनका स्थान अधिक ऊँचा है। इनकी भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है। कवित्व भी इनका उच्च कोटि का है। केशव की तरह कोरा पांडित्य हमें इनमें नहीं मिलता। रीति-ग्रन्थों की अविरल धारा का प्रवाह इनके समय से ही अपने प्रशस्त रूप में प्रवाहित हुआ है। इसीलिए रीति-ग्रंथों का प्रवर्तक इनको ही माना जाता है।

महाराज जसवन्तसिंह—इनका जन्म-सम्वत् १६८३ और मृत्यु-सम्वत् १७३५ है। ये मारवाड़ के प्रसिद्ध और प्रतापी हिन्दू नरेश थे। वीर और साहसी तो ये थे ही; साथ ही साहित्य का भी इन्हें विशेष ज्ञान था। इनके शासन-काल में औरंगजेब को इनसे सदा भय लगा रहता था। एक बार औरंग-जेब ने इन्हें शाइस्ताखां के साथ छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध लड़ने भेजा था, वहां पर इनके संकेत से ही शाइस्ताखां को मुंह की खानी पड़ी थी।

इनका भाषा-भूषण नाम का ग्रंथ अलंकारों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। इसमें इन्होंने एक सफल आचार्य के रूप में विषय

का बड़ा ही सुन्दर प्रतिपादन किया है। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोनों एक ही दोहे में देने से इनके इस ग्रंथ की विशेषता बहुत अधिक हो गई है। इनका यह ग्रंथ हिन्दी में उतना ही प्रिय है, जितना कि संस्कृत में 'चन्द्रालोक'। इसके अतिरिक्त 'अपरोक्ष-सिद्धान्त', 'अनुभव प्रकाश', 'आनन्द-विलास' 'सिद्धान्त-सार' आदि ग्रंथ इन्होंने तत्वज्ञान-सम्बन्धी भी लिखे हैं। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाम का एक नाटक भी इन्होंने पद्य में लिखा है। किन्तु इनका महत्त्व आचार्य अथवा काव्य-शिक्षक की दृष्टि से ही अधिक है, तत्त्व-ज्ञानी अथवा कवि की दृष्टि से नहीं।

देव—ये इटावा के रहने वाले थे। इनका पूरा नाम देवदत्त था। इनका जन्म-सम्वत् १७३० माना जाता है। इनके जीवन में इन्हें कोई अच्छा आश्रयदाता प्राप्त नहीं हुआ था। इसलिए कितने ही रईसों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ये घूमते फिरे थे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—या तो ये स्थिर प्रकृति के मनुष्य नहीं थे अथवा इन्हें कविता-कामिनी का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष की प्रशंसा से जोड़ना प्रिय नहीं था। जिन-जिन के यहाँ इन्होंने आश्रय प्राप्त किया, उनमें औरंगजेब के बड़े पुत्र आज़मशाह, भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह उद्योगसिंह वैश्य और राजा भोगीलाल के नाम प्रसिद्ध हैं। स्थान-स्थान पर घूमने-फिरने के कारण इन्हें विभिन्न जातियों के सम्पर्क का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था। ये शृंगारी

प्रवृत्ति के कवि थे, इसलिये भिन्न-भिन्न देश की स्त्रियों पर इनकी दृष्टि बहुत अधिक पड़ी, जिसका परिचय इनके जाति-विलास ग्रंथ में मिलता है। इसमें इन्होंने विभिन्न देशों की और भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों का वर्णन किया है।

जिस आश्रयदाता की इन्होंने अधिक प्रशंसा की है, वे राजा भोगीलाल हैं। इससे पता चलता है कि इन्हें जीवन भर में राजा भोगीलाल ही कदाचित् अच्छे आश्रयदाता मिले थे।

रीतिकालीन कवियों में जितनी ग्रंथ-रचनायें इन्होंने की हैं, उतनी किसी अन्य कवि ने नहीं की। इनके ग्रंथों की संख्या ५२ से ७२ तक बताई जाती है, किन्तु अभी तक निम्न ग्रंथों का ही पता चला है—

(१) भाव विलास—देव का यह सबसे पहिला ग्रंथ है। इसकी रचना इन्होंने १६ वर्ष की आयु में की थी। वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

'कवि देवदत्त शृंगार-रस, सकल भाव संयुत सँच्यो।
सब नायकादि-नायक-सहित, अलंकार वर्णन रच्यो॥"

(२) अष्टयाम—इसमें इन्होंने नायक नायिकाओं के आठ पहर अथवा चौंसठ घड़ी के विविध विलासों का वर्णन किया है। भक्त कवि जैसे भगवान् के चौंसठ घड़ी के कार्यों का

वर्णन करते थे, उसी शैली का यह एक विलास पूर्ण रूप है, जिसमें धन पतियों के विलासी जीवन का चित्र देखने को मिलता है। संयोग शृंगार की दृष्टि से यह इनका अच्छा ग्रंथ है। (३) **भवानी विलास**—यह भी इनका एक प्रकार का रीति-ग्रंथ है, जो इन्होंने भवानीदत्त के लिये लिखा था। इसमें रस और नायिका-भेद-निरूपण किया गया है।

(४) **शिवाष्टक**—यह ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।

(५) **प्रेम तरंग**—यह भी रीति-ग्रंथ है। इसमें बहुत से छंद तो 'भवानी विलास' ग्रंथ के ही हैं।

(६) **कुशल-विलास**—यह प्रेम-तरंग का ही संशोधित रूप है।

(७) **जाति-विलास**—इसमें इन्होंने जाति, देश और निवास की दृष्टि से नायिका-भेद का वर्णन किया है।

(८) **रस-विलास**—इसकी रचना के समय देव ५३ वर्ष के हो चुके थे। इसमें इनकी वर्णन-शैली काफी प्रौढ़ मिलती है। यह भी रस का ही ग्रंथ है। इसमें कामिनी के सैकड़ों भेदों का वर्णन किया गया है। काव्य की प्रौढ़ता तो इसमें अवश्य मिलती है, किंतु वैसे नारी के विभिन्न हाव-भावों का वर्णन मात्र ही इसमें हुआ है।

(९) **प्रेमचन्द्रिका**—यह इनका प्रौढ़ ग्रंथ है। इसमें इनकी विचार-गम्भीरता का अच्छा परिचय मिलता है। इसमें

ये स्थूल शरीर से सूक्ष्म आत्मा की ओर बढ़ते हुए से दिखाई देते हैं। प्रेम के महत्व को भी कवि ने इसकी रचना तक पहुँचते २ जैसे अनुभव कर लिया था। इसमें इनका काव्यत्व भी देखने को मिलता है। प्रेम की बड़ी गम्भीर और विशद व्याख्या देवने इसमें की है। इसमें देवका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेम को वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में द्रवित हो उठा है।

(१०) **सुजान-विनोद या रसानन्द लहरी**—इसमें प्रेम का साधारण वर्णन हुआ है। इसका बहुतकुछ अंश भवानी-विलास और रस-विलास से उद्धृत किया हुआ है। इसमें ऋतुओं के क्रमानुसार नायिका-भेद का वर्णन हुआ है। काव्य की दृष्टि से इनकी यह रचना सर्वोच्च मानी जाती है।

(११) **राग-रत्नाकर**—इसका वर्ण्य विषय संगीत है। इसमें राग और उनकी भार्याओं का वर्णन, रीति-निरूपण और काव्य-सृजन बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। यह ग्रंथ इनकी बहुज्ञता का परिचायक है। इसमें देव हमें एक संगीताचार्य के रूप में मिलते हैं।

(१२) **शब्द-रसायन**—यह इनकी सबसे प्रौढ़ रचना है। यहां देव एक आचार्य के रूप में देखने को मिलते हैं। काव्य-तत्वों का विवेचन इसमें अच्छा हुआ है। इसे रीति का सर्वांगपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। (१३) **देव-चरित्र**—यह इनका एक खंड काव्य है। इसमें इन्होंने १५० छन्दों में कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्रको लिपिबद्ध कर दिया है, वात्सल्य, शृंगार और

वीर रसों का इसमें सुन्दर परिपाक हुआ है। वैसे इसको सफल खण्ड काव्य नहीं कहा जा सकता। (१४) देव माया-प्रपंच (नाटक)—इसमें जीवन के सूक्ष्मतम तत्वों का अच्छा विवेचन हुआ है। इसकी वर्णन-शैली में पर्याप्त सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता है। यह अपने ढंग का पद्य-बद्ध नाट्य रूपक है, जिसमें प्रकृति और पुरुष की कथा कही गई है। (१५) देव-शतक—इसमें भी देव एक दार्शनिक के रूप में आते हैं। संसार की असारता, जीव का सम्मोहन और ईश्वर के स्वरूप का विशद वर्णन इसमें अच्छा हुआ है। यहाँ रागमय 'देव' विराग की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस ग्रंथ की रचना तक देव वृद्ध हो चुके थे। इसके बाद देव ने जो कुछ भी लिखा उसमें वे एक दार्शनिक की भाँति जीव, ब्रह्म और प्रकृति आदि विषयक तत्व का निरूपण करते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ पहुँच कर हमें उनमें भक्त कवियों की सी तन्मयता के दर्शन होते हैं। (१६) सुखसागर-तरंग—इनकी रचनाओं का यह एक संग्रह और मिलता है। यह सारा ग्रंथ अन्य ग्रंथों से ज्यों की त्यों सामग्री लेकर तैयार किया गया है। अपने समष्टि रूप में इनका यह ग्रंथ नायिका-भेद का विश्व-कोष कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसकी कोई अन्य विशेषता नहीं है। अभी तक देव के बीस-पच्चीस ग्रंथ ही प्राप्त हुये हैं। जिसमें से कुछ के वर्ण्य विषय का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है।

उपर्युक्त ग्रंथों में ही हम देखते हैं कि देव ने अपने ग्रंथों की संख्या मौलिक रूप में नहीं बढ़ाई, बल्कि पहिले ग्रंथों में से ही कुछ छंदों को इकट्ठा करके नया नाम दे दिया है। इसलिए जो ग्रंथ इनके अभी तक प्राप्त नहीं हैं, उनके विषय में भी यही अनुमान किया जा सकता है कि उनकी रचना भी इधर-उधर की काँट-छाँट से ही हुई होगी। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि देव कवि, आचार्य और भक्त तीनों ही रूपों में हमें देखने को मिलते हैं।

काव्य-साधना—देव की समस्त काव्य सामग्री को शृंगार, दर्शन और रीति इन तीनों रूपों में विभाजित किया जा सकता है, जिनकी दृष्टि से ये हमें शृंगारिक कवि, तत्वदर्शी दार्शनिक और काव्य-मर्मज्ञ आचार्य के रूप में देखने को मिलते हैं। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में ये पूरे रसिक हैं। और 'देव-माया-प्रपंच' 'आत्म-दर्शन-पच्चीसी' आदि में पूरे दार्शनिक तथा भावविलास, शब्द-रसायन और भवानी-विलास में इनका आचार्यत्व प्रस्फुटित हुआ है।

शृंगारिकता—अन्य रीति-कालीन कवियों की तरह देव का मुख्य वर्ण्य-विषय शृंगार ही रहा है। इस रस को इन्होंने कवि और आचार्य के रूपमें ग्रहण करके नायक और नायिका विषयक रति-भाव का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। नख-शिख-वर्णन, रूप-चित्रण, नायिका-भेद और षट्ऋतु-वर्णन आदि शृंगारिक कवियों के भी मुख्य काव्य-विषय रहे हैं तथा संयोग

और वियोग—शृङ्गार के दो पक्ष, जिसमें इन रसिकों ने अपनी कविता-कामिनी को कलात्मक दृष्टि से निमज्जित किया है, और स्त्रैणता, जिसमें इन्होंने अपने मन को लिप्त कर दिया था, देव की काव्य-साधना का भी विषय बनी हुई है। नायक और नायिकाओं की वासनात्मक आँख-मिचौनी में, रूप और रूप-भोग की लालसा का चित्रण करने में, देव भी अपने समकालीन कवियों से कम नहीं हैं। इनकी यह विशेषता है कि इन्होंने एक रससिद्ध कवि की भाँति स्थूल शरीर और मानसिक चेष्टाओं में प्रेम-क्रीड़ा का स्वाभाविक रंग भर दिया है। उनके मिलनपक्ष में हम नर और नारी के उन समस्त भावों, रूपों और चेष्टाओं आदि का वर्णन पाते हैं जो कि इस स्थिति में प्राय: हुआ करती हैं। नायिका के प्रथम-मिलन की लज्जा, परिहास, रति-क्रीड़ा आदि किसी भी भाव अथवा क्रिया को देव ने अछूता नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि सम्भोग स्थिति का चित्र भी इन महाशय ने खींचा है। सुरति व्यापार के इन चित्रों को औचित्य की कसौटी पर कसने पर वैसे देव का यह कर्म श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवन की नग्नता काव्य का विषय नहीं है, किन्तु इनकी घोर शृङ्गारिक प्रवृत्ति का पता इससे लगता है।

वास्तव में इनका काव्य-कौशल प्रेम-मिलन के अन्य चित्रों में यथा—षट् ऋतु-विहार आदि में और नायक और नायिका के आन्तरिक हर्षोल्लास चित्रित करने में मिलता है। इनके

प्रेम का परिपाक राजसी-विलास की सामग्रियों से नहीं होता बल्कि उसकी स्वाभाविक तरंग ऋतुओं के परिवर्तन के साथ-साथ विशेष पर्वों और उत्सवों पर हृदय में उठती है। ऐसे चित्रों में देवने उल्लास का जो वर्णन किया है, वह कोरा ऐन्द्रिय नहीं है। बल्कि उसमें प्रेम की अपूर्व मधुरता भरी हुई है। नीचे की पंक्तियों में देव ने भूला भूलती हुई कामिनियों का जो चित्र खींचा है, वह वातावरण की सजीवता और विषय की स्वाभाविकता से पूर्ण है। अनुप्रास की छटा से कवि ने झीनी-झीनी झड़ी में छहरती हुई नन्हीं-नन्हीं बूंदों और उल्लास से थरथराती हुई राधा के कोमल तन तथा सिहरती हुई हवा में लहराते हुये कृष्ण के पीतपट और राधा की चूनरी का जो चित्र खींचा है वह पढ़ते ही बनता है—

> सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोले,
> घहर-घहर घन घेरिकै घहरिया।
> झहर झहर झुकि झीनी झरि लायौ 'देव',
> छहर छहर छोटी बूंदन छहरिया।
> हहर हहर हँसि हँसि कै हिंडोरे चढ़ी,
> थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
> फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
> लहर लहर होत प्यारी को लहरिया।

विरहवर्णन—देव का विरह-वर्णन अन्य रीति-कालीन कवियों की तरह कोरा ऊहात्मक नहीं है। बल्कि विरही की मनोदशा और गहरी अनुभूति का चित्रांकन देव ने इसमें किया है।

बिहारी की सी अतिशयोक्ति इनके विरह-वर्णन में नहीं आने पाई। इनके विरह-वर्णन में स्वाभाविक तीव्रता, सरसता और टीस का अच्छा मेल हुआ है। विरहिणी की जिन चेष्टाओं, शारीरिक कृशता और वियोग दशा का चित्रण देव ने किया है, वह अनुभूति पर आश्रित हैं, अलंकार के चमत्कार अथवा कल्पना पर नहीं। नायिका की विरह-स्थिति के निम्न सवैये में इनका भाव-सौन्दर्य और विरह-वर्णन-कौशल देखा जा सकता है—

सांसन ही सों समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई की आस, कि आस हु पास अकाश रह्यो भरि
जादिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि, हियो जु लियो हरि, जू हरि

जिस दिन से नायक कृष्ण ने नायिका राधा की ओर हँसी-पूर्वक देख कर और उसके मन को हर कर मुख फेर लिया है, उसी दिन से सांसे लेते-लेते नायिका राधा के शरीर का वायु-तत्व धीरे-धीरे समाप्त हो गया है। आंसू बहाते-बहाते जल तत्व भी नहीं रहा, वेदना के कारण तेज भी अपने गुण को ले गया अर्थात् नायिका पीली पड़ गई और शरीर की कृशता के कारण भूमि तत्व भी जैसे समाप्त सा हो गया। बस केवल आकाश ही आकाश रह गया है।

शरीर के पाँच तत्वों के आधार पर वर्णित देव का यह विरह-चित्रण कितना स्वाभाविक, वैज्ञानिक काव्यमय और कौशलपूर्ण है इसे विचारक पाठक ही जान सकते हैं।

दार्शनिकता—दार्शनिकता से अभिप्राय देव के उस तत्वचिंतन से है, जो उन्होंने अतिशय राग की प्रति-क्रिया स्वरूप अपने जीवन के अन्तिम दिनों में परमात्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त होने पर किया था। शृंगार की कविताओं को लिखते-लिखते अथवा-ऐन्द्रिय उपभोग की भावना में बहते-बहते जब देव का हृदय क्लांत हो उठा तो उन्होंने अपने मन में कहा—

ऐसो जो हौं जानतो कि जै है तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ, पांव तेरे तोरतो।
आजुलौं हौं कत, नरनाहन की नाहीं,
सुनि, नेह सौं निहारि हरि बदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनि, मारी मुख मोरतो।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै, गरे ते बांधि,
राधा-वर-बिरह के वारिधि में बोरतो।

इस प्रकार राधा वर के विरह-वारिधि में डूबकर देव के मन ने प्रकृति, पुरुष, माया जीव और जीवन की विडंबनाओं का जो वास्तविक निरूपण किया उसमें उनकी तत्वचिंतनमयी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। संसार की असारता, जीवन की क्षण-भंगुरता और ब्रह्म की व्याप्ति के विषय में देव ने अपने जिन विचारों का प्रकाशन किया है, वे बड़ी सरलता से उन्हें दार्शनिक कोटि का कवि बना देते हैं। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने कोरा तत्वज्ञान-सम्बन्धी विवेचन न करके, उसे

काव्य का रूप दिया है। नीचे की पंक्तियों में संसार और जीवन की वास्तविकता का जो स्वाभाविक चित्र उन्होंने खींचा है तथा उस विराट् ब्रह्म (राम) को आकाश-मंदिर में पृथ्वी के आसन पर बिठाकर, समस्त जल, फल, फूल, दल, सुगन्ध आदि अर्पितकर, अनन्त ज्योति-खण्डों के दीप जलाकर और वायु के रूप में चँवर ढोलकर, आठों याम की अर्चना का जो वर्णन किया है, वह दर्शन और काव्य दोनों की छटा से पूर्ण है।

बागो बन्यो जरपोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चले चढ़ि, कागद की छतरी सिर दीने।
काँख में बाँधिकै पाँख पतंग के देव सुसंग पतंग को लीने।
मोम को मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने।

× × × × ×

देव नभ-मंदिर में बैठार्‌यो पुहुमि पीठि,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
सहित सुगन्ध चढ़ावन चहत हौं।
आगनि अनन्त, धूप-अनन्त ज्योति,
जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौं जाम राम तुम्हैं पूजत रहत हौं।

आचार्यत्व—देव का महत्त्व कवि के नाते से जितना अधिक है, उतना आचार्य के नाते से नहीं। इसमें संदेह नहीं

कि अलंकार, शब्द-शक्ति, रस-निरूपण और छंद-विवेचन आदि रीति विषयक विषयों पर देव ने बड़े विस्तार के साथ लिखा है, किन्तु इस क्षेत्र में उनकी कोई मौलिकता दिखाई नहीं देती। साहित्य के सूक्ष्म सिद्धान्तों का विवेचन उनसे नहीं हो सका। लक्षण और उदाहरण भी उनके अस्पष्ट हैं। कवि होने के कारण रस-विवेचन में तो वे कुछ सफल भी हुये हैं, किन्तु अलंकार, रीति-गुण और शब्द-शक्ति आदि का विवेचन तो उनका इतना उलझा हुआ है कि विषय का सही-सही स्पष्टीकरण होता ही नहीं। वास्तव में आचार्य का कर्म विचार-शक्ति से सम्बन्ध रखता है, जिसकी कवि में कमी होती है। इसके साथ ही काव्यांग-विवेचन का कार्य गद्य में जितना सुलभ है, उतना पद्य में नहीं। बस इन्हीं दोनों कारणों से देव भी आचार्य की दृष्टि से सफल नहीं हो पाये। कवि होने के कारण एक तो उनका विवेक-पक्ष दुर्बल था, दूसरे काव्य-विवेचन का यह कार्य उन्होंने छन्दोबद्ध शैली में किया है। इसलिए उनका यह विषय सन्तोषजनक रूप में पूरा नहीं हो सका। हाँ, आचार्यत्व की दृष्टि से उनकी सबसे बड़ी विशेषता रस-प्रतिपादन की क्षमता कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में उनकी कोई विशेष देन हिन्दी जगत् को नहीं है।

देव और बिहारी—रीति-काल के कवियों में ये दोन कवि एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी हैं। इन दोनों कवियों को लेकर द्विवेदी-युग में बड़ी चर्चा चली थी। कुछ आलोचक देव को

ऊँचा कवि मानते थे और कुछ बिहारी को। यदि हम लोक प्रसिद्धि की दृष्टि से देखें तब तो बिहारी को ही अधिक पसंद किया गया है, किन्तु तथ्य यह है कि बिहारी में बांकापन, चमत्कार और कथन-चातुर्य ही अधिक है। रसार्द्रता उनमें अधिक नहीं है। प्रेम की गहरी अनुभूति, तन्मयता और द्रवणशीलता देव में बिहारी से कहीं अधिक है। यदि हम रस को काव्य की आत्मा मानें तो आत्मा की यह सबलता वस्तुतः हमें देव में ही अपने शुद्ध रूप में मिलती है। हाँ, बिहारी में सौन्दर्य-चित्रण की अनोखी सूझ देव से कहीं अधिक है। भाषा की प्रौढ़ता लाक्षणिकता और व्यंजकता भी इन में ही अधिक मिलती है। इसके साथ ही मानव-मन की गहरी से गहरी अनुभूति को, नायिका की चारु चितवन को और प्रेमी हृदय की प्यास को दोहे की दो पंक्तियों में व्यक्त करने की जो शक्ति बिहारी में है, वह भी देव में नहीं है। बस, कथन की इसी लाघवता और मार्मिक व्यंजकता के कारण बिहारी को रीति-काल का श्रेष्ठ कवि माना गया है। दूसरे यह युग मुक्तक काव्य का युग रहा है और मुक्तक सम्बन्धी विशेषतायें भी बिहारी में ही अधिक हैं। इसीलिये बिहारी को रीति-काल के कवियों में प्रमुख स्थान भी दिया गया है, अन्यथा काव्यगत विशेषतायें देव में भी कम नहीं में। बिहारी ने तो केवल शृंगार-वर्णन में ही अपना चमत्कार दिखाया है, किन्तु देव में हमें रीति-विवेचन, वैराग्य-प्रवृत्ति और

शृङ्गारिकता तीनों विशेषतायें मिलती हैं। जिनमें से दो की दृष्टि से जहाँ वे रीतिकालीन कवियों में अपना स्थान बनाते हैं, वहाँ वैराग्य-प्रवृत्ति की दृष्टि से उनकी गणना भक्ति-कालीन कवियों की कोटि में बड़ी आसानी से की जा सकती है। किन्तु उनके वैराग्य में अनुराग का स्वर ऊँचा होने के कारण वे भक्तों के सच्चे पद से वंचित रह जाते हैं। रीतिकालीन दृष्टि से इस क्षेत्र में उनकी कोई मौलिक देन नहीं है, इसके साथ ही उनका आचार्य-कर्म भी अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह ही दोषपूर्ण है। शृंगारिकता (रीति-कालीन) की दृष्टि से बिहारी में जो विशेषतायें हैं वे देव में नहीं मिलतीं। इसलिये देव का कोई ऊँचा स्थान हिन्दी साहित्य में नहीं बन सका।

भूषण—इनका जन्म-सम्वत् १६७० माना जाता है। ये चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें कवि 'भूषण' की उपाधि दी थी। तभी से इनका भूषण नाम प्रसिद्ध हुआ। इनके असली नाम का कुछ पता नहीं है। इनके जीवन के विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार इन्हें इनकी भाभी ने नमक का ताना दे दिया था, जिसके कारण ये घर छोड़कर चले गये थे। कुछ दिन ये औरंगजेब के दरबार में भी रहे थे। कहते हैं औरंगजेब से प्रथम भेंट करते समय कविता सुनाने से पूर्व इन्होंने कहा था कि शृंगार की कविता सुनकर तुम्हारा हाथ कुठौर पर गया होगा। मैं वीर

रस की कविता सुनाऊँगा, जिसे सुनकर आप अपनी मूँछें ऐंठेंगे। इसलिये पहिले हाथ धो लें। कहते हैं औरंगजेब हाथ धोकर ही इनकी कविता सुनने बैठा था और कविता सुनते २ अपनी मूँछें ऐंठने लगा था। भूषण की ऐसी ही निर्भीकता का परिचय देने वाली एक घटना और प्रसिद्ध है—औरंगजेब ने अपने आश्रित कवियों से एक बार कहा कि सब हमारी प्रशंसा ही करते हैं, क्या हम में कोई भी बुराई नहीं है। तब भूषण ने निम्न कवित्त लिखकर सुनाया था, जिसमें औरंगजेब की, पिता को कैद में डालने और भाइयों को धोखा देकर मरवाने आदि बुराइयों का वर्णन किया गया है।

किबले के ठौर बाप बादशाह शाहिजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरिके कैद कियो।
मेहेरहु नाहि वाको जायो सगो भाई है॥
बंधु तौ मुरादबकस बादि चूक करिबे को।
बीच लै कुरान खुदा की कसम खाई है।
भूषन सुकवि कहै सुनो नवरंगजेब।
एते काम कीन्हों फेरि बादसाही पाई है॥

भूषण के इस कवित्त को सुनकर औरंगजेब तलवार उठा कर उन्हें मारने को दौड़ा था, किन्तु बाद में कवित्त सुनकर न मारने की प्रतिज्ञा याद कराने पर उस ने भूषण को क्षमा कर दिया था।

इसके बाद भूषण अधिक समय तक औरंगजेब के पास नहीं ठहरे। वे किसी अच्छे आश्रयदाता की खोजमें थे, जो उन्हें शिवाजी के रूप में प्राप्त हुए। महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा सम्मान था। शिवाजी और छत्रसाल ये दोनों ही वीर औरंगजेब के परम शत्रु थे। तथा इन दोनों ने देश में से मुगलराज्य को समाप्त करने के लिए पूरा प्रयत्न किया था और अनेक युद्धों में तत्कालीन मुगल-शासक औरंगजेब को करारी हार भी दी थी। अपने आश्रयदाताओं के इन्हीं युद्धों, गौरव और वीरता का वर्णन भूषण ने किया है।

काव्य-साधना—इन्होंने शिवराज-भूषण, शिवा-बावनी छत्रशाल-दशक, भूषण-उल्लास, दूषण-उल्लास और भूषण-हजारा नाम के छः ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें इन्होंने अपने आश्रय-दाताओं की झूठी प्रशंसा नहीं की बल्कि जो कुछ भी इन्होंने लिखा है उसका इतिहास साक्षी है, भूषण के जीवन की उपर्युक्त घटनाओं में हमें उनकी जो निडरता, स्पष्टता, साहस और गुण-ग्राहकता मिलती है, वही उनके इन ग्रंथों में भी निहित है। घोर शृंगारिकता के युग में इस कवि ने वीर रस का जो तुमुल नाद सुनाया था, उसमें देश-प्रेम, जातीय-गौरव, आत्माभिमान और हिन्दुत्व के संरक्षण का स्वर प्रधान है। इन्होंने अपने जिन दो नायकों की कीर्ति का गान किया है, उन्होंने अन्याय-दमन, धर्म-संरक्षण और देश की स्वाधीनता के लिये तलवारें उठाई थीं। इतिहास-प्रसिद्ध इन दोनों वीरों के प्रति

भारतीय हिन्दू जनता की जो भक्ति-भावना रही है, उसी का चित्रण हम भूषण की कविता में भी पाते हैं। कुछ लोग भूषण को जातीयता का दोष देते हैं। उनका कथन है कि भूषण ने हिन्दू होने के कारण मुसलमान औरंगजेब की निन्दा की है, किन्तु उनका यह कथन नितांत असंगत है। भूषण की कविता का अध्ययन करने पर हमें ऐसे कितने ही कवित्त उनके मिलते हैं कि जिनमें उन्होंने जहाँगीर, शाहजहाँ और दारा आदि की प्रशंसा की है। औरंगजेब के दोषों का वर्णन भी इन्होंने जितना किया है वे दोष जाति-गत नहीं हैं। इसके अतिरिक्त औरंगजेब के अत्याचारों और कुचक्रों, जातीय कट्टरपन की जो निन्दा इन्होंने की है, उसके आधार पर समस्त मुस्लिम जाति की निंदा करने की बात कहना भी भूषण के साथ अन्याय करना है। यह बात अवश्य है कि वर्णन के प्रवाह में वे अपने आश्रयदाताओं की वीरता, नीति, शक्ति और ऐश्वर्य का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ा भी कहीं २ पर कर गये हैं, किन्तु उसमें उनका कोई जातीय भाव रहा हो, ऐसा कहना असत्य है। भूषण हिन्दू जाति के प्रतिनिधि कवि अवश्य हैं, किन्तु इसलिये नहीं कि वे हिन्दू जाति के ठेकेदार थे, बल्कि इसलिये कि वे वीररस के एक सिद्धहस्त हिन्दू कवि हुए हैं।

भूषण ने शृंगार के भी कुछ कवित्त लिखे हैं, किन्तु वहाँ पर भी वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' ही उनके शृंगार का पोषक बना हुआ है। नायिकाओं की कोमल छवि

भृकुटि-विलास, तीखी चितवन और बांकेपन की ओर ध्यान न देकर उन्होंने नायक-नायिकाओं की शृंगार-क्रीड़ाओं में भी साहस और ओज का पूर्ण परिचय दिया है। उनकी नायिकायें, नायकों की बाँकी चितवन से घायल होकर ही, उन्हें प्रेम-रस नहीं चखा देतीं, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिये उन्हें बड़े साहस और वीरता की आवश्यकता पड़ती है। निम्न कवित्त में उन्होंने प्रौढ़ नायिका का एक ऐसा ही चित्र खींचा है, जिसमें वह नायक को रति-संगर का अभूतपूर्व स्वाद चखातीहै —

नैन जुग नैनंन सों प्रथमैं लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरे नाहिं टेरे हैं।
अड़ि-अड़ि, पिलि-पिलि, लड़े हैं उरोज बीर,
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं॥
पिय को चखाओ स्वाद कैसो रति-संगर को,
भये अङ्ग अङ्गनि तें केते मुठ भेरे हैं।
पाछे परे बारन को बाँधि कहे आलिन सौं,
भूषन सुभट ये ही पाछे परे मेरे हैं॥

भूषण के रति-संग्राम के उपर्युक्त कवित्त से यह नहीं समझना चाहिये कि भूषण प्रेम की वास्तविक पीड़ा को समझ ही नहीं सके हैं। अपितु उनका प्रेम-वर्णन भी हमें वीर रस की तरह ही विशुद्ध रूप में मिलता है। वसंत ऋतु के आगमन पर प्रेमियों की कैसी दशा हो जाती है ? और चन्द्रमा विर-

रहिणी को कितना दुःखदायी लगता है ? आदि-आदि विरहो-द्दीपक पदार्थों का वर्णन और कृष्ण की बंसरी की घायल कर देने वाली तानों को भूषण ने भी खूब परखा है। इसके साथ ही नायिकाओं के हास-परिहास, छवि और हावभाव के चित्र भी उन्होंने बड़े मार्मिक खींचे हैं। हां, उनमें बिहारी की सी पैनी दृष्टि और बांकापन नहीं है। नीचे की पंक्तियाँ उन की इस विशेषता पर प्रकाश डालती हैं —

विषम बिडारिबे को बहत समीर मंद,
कोकिला की कूक कान, कानन सुनाई है।
इतनो संदेसो है जू पथिक, तुम्हारे हाथ,
कहो जाय कंत सों बसंत ऋतु आई है॥

* * * *

तू तो निसाकर सब ही की निसा करै,
मेरी जो न निसा करै तौ तू निसाकर काहि को।

(यहां निसाकर से अभिप्राय खातिर करने वाला और चन्द्रमा से है)

* * * *

सोई गति जानै जाके भिदी होय कानै,
सखि जेती कढ़ै ताने तेती छेदि-छेदि जाती हैं।
हूक पाँसुरी में, क्यों भरौं न आँसुरी मैं,
थोरे छेद बाँसुरी मैं, घने छेद किये छाती हैं॥

* * * *

सुभ सौंधे भरी सुखमा सुखरी मुख ऊपर आय रही अलकैं।
कवि 'भूषण' अङ्ग नवीन बिराजत मोतिन माल हिये झलकैं॥
उन दोउन की मनसा नित होय नई ललना ललकैं।
भरि भाजन बाहिर जात मनौ मुसुकानि किंधौ छबि की छलकैं॥

हिन्दी साहित्य में वीर रस का तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ कवि भूषण को ही माना जाता है। क्योंकि वीररस का जितना सुन्दर परिपाक और विशुद्ध रूप हमें इनकी रचनाओं में मिलता है, उतना अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं मिलता। इनकी रचनाओं में तो मानो वीर रस ने साकार रूप ले लिया है। शिवाजी और छत्रसाल के युद्धों का वर्णन करते हुए इन्होंने युद्ध-भूमि के सजीव दृश्य खींच दिये हैं। इनके युद्ध-वर्णनों में कोरी मारधाड़ का चित्रण ही नहीं है, अपितु जातीय उत्साह, देश-प्रेम और सच्ची वीरता के दर्शन भी हमें उनमें होते हैं। हिन्दू-जाति में जीवन और जागृति फूँकने के लिये भूषण के वीर रस से पगे हुये कवित्त मानों राम बाण हैं। इनके कवित्तों को पढ़ने पर स्वभावतः ही मनुष्य में—विशेष कर हिन्दू में जातीय उत्साह का भाव उमड़ पड़ता है। आज के जातीय-अभिमान से हीन भारतीय लोगों की दृष्टि में भले ही भूषण की यह विशेषता तुच्छ जँचती हो, किन्तु देश में जातीय-उत्साह, गौरव और सच्ची वीरता का भाव भरने के लिये भूषण की कविता हिन्दू-जाति के लिये सदैव हितकर रहेगी, यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

देश के निर्माण में जातीयगौरव का क्या महत्व है?

जो लोग इसे समझते हैं, उन्हें भूषण की कविता अवश्य ही आकृष्ट करती है। वास्तव में जातीय-भावना भी मनुष्य के लिये उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि देश-प्रेम की भावना। जातीयता और देश-प्रेम का परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जिन लोगों में जातीय-अभिमान ही नहीं, वे देशाभिमान क्या कर सकेंगे? इस दृष्टि से भूषण की कविता में राष्ट्रीयता के वे तत्व निहित हैं कि जिन पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है। वास्तवमें उनके वर्ण्य नायक न तो शिवाजी हैं और न छत्रसाल, बल्कि उन्होंने देश-गौरव, राष्ट्र-धर्म की प्रतिष्ठा और हिन्दुत्व (भारतीयता) पर गर्व करने वाले सच्चे नायकों का गुण गाया है। उनमें कमी केवल इतनी ही है कि उनकी ये भावनायें समष्टि रूप में व्यक्त न हो कर व्यष्टि का रूप लिए हैं। उनके निम्नलिखित कवित्त पर भला किस हिन्दू को गर्व नहीं होगा। —

वेद राखे विदित, पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो आनि रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥
मीड़ि राखे मुगल, मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग-बल शिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

रीति-कालीन कवि होने के कारण भूषण ने भी अपना 'शिव-राज' ग्रन्थ अलंकार-ग्रन्थ के रूप में ही लिखा है, किन्तु रीति-ग्रन्थ की दृष्टि से उन का यह ग्रंथ सफल नहीं बन सका। उनके अलंकारों के लक्षण प्राय: अस्पष्ट हैं और उदाहरण भी ठीक नहीं बन पड़े। वास्तव में भूषण का मुख्य विषय वीर रस का चित्रण ही था, आचार्यत्व सम्बन्धी यह कार्य तो उन्हों ने तत्कालीन समय के प्रभावस्वरूप किया है। वैसे कवि के नाते से भूषण का रीति-काल के कवियों में विशेष महत्व है। जहाँ सारे कवियों को शृंगार की कलाबाजी से फुर्सत नहीं थी, वहाँ भूषण ने वीर को रसराज मान कर उस का सर्वांग-पूर्ण चित्रण किया है। उन की कविता में काव्य के वे सब गुण हैं जो कि किसी वीररस के उत्कृष्ट कवि के काव्य में होने चाहियें।

भाषा-सम्बन्धी कुछ दोष उनमें कहीं २ पर अवश्य मिलते हैं, निस्संदेह उनकी भाषा में ओज और प्रवाह है, किन्तु व्याकरण सम्बन्धी कुछ दोष उन की वाक्य-रचना में आ गए हैं। शब्दों की तोड़-मोड़ भी इन्हों ने कितने ही स्थानों पर की है। कहीं-कहीं पर तो गढ़न्त के शब्द भी इन्हों ने रख दिये हैं, किन्तु ऐसी दशा बहुत कम कवित्तों में ही पाई है। उन के अधिकतर कवित्त बड़े सशक्त और प्रभावशाली हैं।

मतिराम—इन का जन्म-संवत् १६७४ के लगभग माना जाता है। प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि और भूषण इन के भाई थे।

बूँदी के महाराज भावसिंह के यहाँ इन का विशेष सम्मान होता था। ललित-ललाम नाम का अलंकार-ग्रंथ इन्होंने इनके ही दरबार में रहते हुए लिखा था। महाराज शम्भूनाथ सोलंकी के दरबार में भी कुछ समय तक ये रहे थे। इनके लिखे हुए निम्न आठ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं:—

(१) ललित-ललाम—इस में इन्होंने अलंकारों का विवेचन किया है। महाराज भावसिंह ने इस ग्रन्थ की रचना पर इन्हें ३२ हाथी, दो गाँव, बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण आदि पुरस्कार में दिये थे। इनका यह ग्रंथ अलंकार-विषय का अतिउत्तम ग्रन्थ है। इस में लक्षण और उदाहरण बड़े ही स्पष्ट और सरस हैं।

(२) रसराज—इस में इन्होंने रसों का निरूपण किया है। अपने विषय का यह एक अनुपम ग्रंथ है। इसमें रसों के उदाहरण बड़े ही सरस लिखे गये हैं।

(३) छन्दसारपिंगल—इसमें छन्दों का विवेचन किया गया है। इसकी रचना से ज्ञात होता है कि मतिराम को पिंगल शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था।

(४) साहित्यसार—इसमें नायिका-भेद का वर्णन हुआ है, यह बहुत छोटा ग्रन्थ है।

(५) लक्षण-शृंगार—इसमें भावों और विभावों का अच्छा विवेचन हुआ है। मतिराम की आचार्य और काव्य प्रतिभा का परिचय इस ग्रन्थ में साथ २ मिलता है।

(६) अलंकार-पंचाशिका—इसमें कुमायूँ के राजा उदोतचन्द की प्रशंसा में कितने ही प्रौढ़ छन्द लिखे गये हैं।

(७) फूल-मंजरी—यह मतिराम जी की सब से पहिली रचना है, जो इन्होंने लगभग अठारह वर्ष की आयु में लिखी थी। इस के प्रत्येक दोहे में किसी न किसी फूल का वर्णन किया गया है।

(८) मतिराम सतसई—यह सात सौ दोहों का संग्रह है। इस में महाराज भोगनाथ का नाम कितने ही स्थलों पर आया है, इससे अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ इन्होंने भोगनाथ के लिये ही लिखा होगा, इस के दोहे बिहारी की सतसई के समान ही सरस हैं, किन्तु वैसा वाग्वैदग्ध्य इसमें नहीं है।

काव्य-साधना—कविवर मतिराम आचार्य और कवि दोनों ही रूपों में हिन्दी साहित्य के उज्ज्वलरत्न हैं। अलंकार, रस, नायिका-भेद; शृंगार, और षट्ऋतु वर्णन आदि विषयों पर इन्होंने अन्य रीति-कालीन कवियों की तरह से रूढ़ि में बंध कर ही नहीं अपितु अपनी व्यक्तिगत शैली में अधिकारपूर्ण लेखनी से लिखा है। निस्संदेह इनके वर्णन-विषय वही हैं जो कि इस काल के अन्य कवियों के थे, किंतु इनके व्यक्तित्व की छाप ने उन सब में नवीनता उत्पन्न कर दी है। इनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि इन के कथन में किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं है। जैसा कि आचार्य शुक्ल जी

ने भी इनके विषय में लिखा है—मतिराम की रचना की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिए अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना से ही प्रयुक्त हैं। रीति-ग्रंथ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है, पर कहीं न वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी स्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत कम मिलती है।

भाषा के ही समान न तो भाव कृत्रिम हैं और न उन के व्यंजक व्यापार और चेष्टायें। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान मजाक इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसंद न थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार ख्याल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि हृदय था ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बंधी लीकों पर न चलने पाते तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति

दिखाते, इसमें कोई संदेह नहीं। भारतीय-जीवन से छाँट कर लिये हुये इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं।

शुक्ल जी के उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सचमुच ही मतिराम की कविता में कथन की सरलता, भाषा की मधुरता भावों की स्पष्टता है और हृदय की स्वाभाविक-प्रेरणा तथा भाव-चित्रण की मर्मस्पर्शिनी शैली के दर्शन हमें इनकी प्रत्येक पंक्ति में होते हैं। भाषा और भावव्यंजना की दृष्टि से हमें जो विशेषतायें इन में मिलती हैं, वे पद्माकर कवि को छोड़ कर रीतिकाल के किसी अन्य कवि में नहीं मिलतीं। नीचे के उद्धरणों में इनकी ये विशेषतायें देखी जा सकती हैं—

मोर पखानि किरीट बन्यों,
मुकतानि के कुण्डल श्रौन विलासी।
चारु चितौनी चुभी मतिराम,
सो क्यों बिसरै मुख कानि सुधा सी।
काज कहा सजनी कुल कानि सों,
लोग हसैं सिगरे ब्रजबासी।
मैं तो भई मनमोहन की,
मुख चंद लखे बिन मोल की दासी।

× × × ×

तेरो कह्यो सिगरो मैं कियो,
निसि-द्यौस तप्यों तिहुं तापिन घाई॥

मेरो कह्यो अब तू करि जो सब,
दाहे मिटै परि है सियराई ॥
संकर-पायनि मैं लगिरे मन,
थोरे ही बातनि सिद्धि सुहाई ।
आक-धतूरे के फूल चढ़ायें ते,
रीझत हैं तिहूं लोक के साँईं ॥

× × + +

बसिबे को निज सरबरनि, सुर जाको ललचाहिं ।
सो मराल बकवाल में, पैठन पावत नाहिं ॥

+ + + +

अद्‌भुत या धन को तिमिर, मोपै कह्यो न जाय ।
ज्यों ज्यों मनि गन जगमगत, त्यों त्यों अति अधिकाय ॥

❀ ❀ ❀ ❀

औरै कछु चितवनि चलनि. औरै मृदु मुसकानि ।
औरै कछु सुख देत हैं, सकैं न नैन बखानि ॥

❀ ❀ ❀ ❀

नैन ओरि मुख मोरि हँसी, नैसुक नेह जनाई ।
आगि लेन आई हिये, मेरे गई लगाई ॥

इन उद्धरणों में मतिराम की काव्य-प्रतिभा, बहुज्ञता, अनुभूति, प्रेम की तीव्रता और मधुरता आदि सभी विशेषतायें बिहारी के समान ही हैं । हां, जो पैनी दृष्टि बिहारी के पास थी, उसका इनमें अभाव है । वाग्वैदग्ध्य भी इनमें उतना

नहीं है यही कारण है कि मतिराम आचार्यत्व के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखने पर भी रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि नहीं माने गये। इसके अतिरिक्त शृंगार के नाना चित्र उतारने में इन्होंने बिहारी के भावों का अपहरण भी बहुत कुछ किया है। इनकी विशेषता यही रही है कि किसी तरह का चमत्कार लाने के फेर में ये नहीं पड़े, बल्कि हृदय की सच्ची अनुभूति को चलती हुई भाषा में चित्रित करके जन-साधारण के मन की बातों को ही इन्होंने कविता का रूप दिया है।

पद्माकर भट्ट—इनका जन्म संवत् १८१० में बांदा में हुआ था संवत् १८९० में कानपुर में इन्होंने अपना शरीर छोड़ा था। अपने जीवनकाल में ये कितने ही राज-दरबारों में रहे थे। इनके आश्रयदाताओं में हिम्मत बहादुर सितारा के महाराज रघुनाथराव, जयपुर के महाराज, प्रतापसिंह और उनके पुत्र महाराज जगतसिंह, उदयपुर के महाराणा भीमसिंह, ग्वालियर के महाराज सिंधिया आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बड़े ही ठाट-बाट का जीवन व्यतीत किया था। कहते हैं अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ये कुष्ट रोग से ग्रसित हो गये थे। जिसके कारण इन्हें कानपुर में गंगा-तट पर आना पड़ा था। यहीं पर इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ गंगालहरी की रचना की थी। इनके लिखे हुए नौ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, अर्जसिंह-विरुदावली,

अलीजाह-प्रकाश, हितोपदेश, रामरसायन, प्रबोध पचासा और गंगा लहरी।

काव्य-साधना—रीतिकाल के अन्तिम प्रतिनिधि कवि का गौरव पद्माकर को ही दिया जाता है। इन्होंने शृंगार, रीति, वीर, भक्ति और वैराग्य आदि विषयों पर बहुत अच्छी रचनायें की हैं। इनका 'जगद्विनोद' रस-निरूपण का बड़ा लोकप्रिय ग्रंथ है। कल्पना और अनुभूति तथा सजीव मूर्ति-विधान की जो क्षमता इनमें है, वह हमें केवल बिहारी में ही मिलती है। शृंगार, नायिका-भेद, हाव-भाव-चित्रण आदि में ये भी बिहारी की तरह ही कमाल करते हैं। इनमें हमें हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा के अच्छे दर्शन होते हैं। शब्दों का लाक्षणिक विधान भी इनका देखते ही बनता है। मन की अव्यक्त भावना को कहीं-कहीं पर इन्होंने इतना सुन्दर और सजीव रूप दिया है कि पाठक को आंखों के सामने दृश्यविशेष का चित्र सा खिंचा हुआ प्रतीत होता है। इनकी भावानुभूति अत्यंत तीव्र और अलंकार-योजना बड़ी सजीव है। इनके वर्ण्य विषय प्राय: रीति-काल की बंधी हुई परिपाटी के ही हैं। सामग्री भी उनमें अधिकतर : है, किन्तु इन्होंने अपने पाण्डित्य पूर्ण व्यक्तित्व की छाप से उन्हें बहुत कुछ परिमार्जित सा कर दिया है। कहीं-कहीं पर जीवन के साधारण क्षेत्र में से ही इन्होंने महत्वपूर्ण काव्य-सामग्री जुटाई है। ऐसे स्थलों पर हमें इनकी सामान्य-जीवन पेखिणी-दृष्टि का अच्छा परिचय

मिलता है। वैसे दरबारी कवि होने के कारण इनके वर्णनों में ठाट-बाट और दरबारी छटा की कमी नहीं है। आश्रयदा-ताओं की मादक मनोवृत्तियों को गुदगुदाकर इन्होंने भी पर्याप्त धन इकट्ठा किया था। इनकी सजीव दृश्य-चित्रण और स्वस्थ प्रेमनिरूपणी प्रतिभा का परिचय हमें इनके निम्न उद्धरण में मिलता है—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी उनकी पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर अइयो खेलन होरी"॥

फाग की भीड़ में से कृष्ण को पकड़कर एक गोरी नायिका एकान्त में घर के भीतर ले जाती है और वहां इच्छानुसार उनसे फाग खेलती है। तथा अबीर की झोली उसके ऊपर उँडेलकर पीताम्बर छीन लेती है, और गुलाल लगाने के बहाने से उसके कपोलों को मसलकर विदा कर देती है। विदा करते समय जब नायिका आँखों को नचाकर मुस्कराहट के साथ कृष्ण से कहती है—'लला फिर अइयो खेलन होरी' तो मानो वह चुनौती देती है कि तुम्हारे में हिम्मत हो तो तुम भी मनचाही कर लो। यहाँ व्यंग्य, हास्य तो कमाल कर ही रहा है, साथ ही नायिका का नयन नचाकर मुस्कराना भी सहृदय पाठकों को घायल किये देता है। इस तरह के काव्य-कौशल पूर्णचित्र हमें पद्माकर में कितने ही स्थलों पर मिलते हैं।

इनकी-प्रेम क्रीड़ाओं में यह विशेषता है कि वे अश्लीलता के दोष से बहुत कुछ मुक्त हैं। इनकी भाषा स्निग्धता का तो कहना ही क्या है। उसके विषय में तो स्वयं शुक्ल जी भी प्रशंसा करते नहीं अघाते—"भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इन कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर-दर्प से क्षुब्ध-वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर गंभीर होकर मनुष्य-जीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेक रूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास में दिखाई पड़ती है।"

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में इनकी प्रवृत्ति काव्य-कौशल से हटकर भक्ति और वैराग्य की ओर आ लगी थी। इन दिनों इन्हें अपने जीवन की अकारथता पर भी पश्चात्ताप होने लगा था, जिसका परिचय निम्न पंक्तियों से मिलता है—

> ह्वै थिर मन्दिर में न रह्यो गिरिकंदर में न तप्यो तप जाई।
> राज रिझाये न कै कविता रघुराज-कथा न यथा मति गाई॥
> यों पछितात कछू 'पद्माकर' का सों कहौं निज मूरखताई।
> स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ बैस बिताई॥

प्रबोध-पचासा और गंगा लहरी में इनकी ऐसी ही वैराग्य और भक्ति पूर्ण भावना का परिचय मिलता है। गंगा की स्तुति में इन्होंने बड़ा सरल काव्य धारा प्रवाहित की है—

आयो जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात,
तिन को न होत सुरपुर ते निपात है।
कहै 'पद्माकर' तिहारो नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है।
तेरो तोय छ्वै के औ छुवित तन जाको बात,
तिन की चलै न जम लोकन में बात है।
जहाँ-जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहां-तहां पापन की धूरि उड़ि जात है।

कुल पति मिश्र—ये महा कवि बिहारी के भानजे थे इनका निवास स्थान आगरा था। जयपुर के महाराज राम-सिंह के दरबार में इनका विशेष सम्मान था। इनका कविता काल संवत् १७२४ और १७४३ के बीच माना जाता है। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनका लिखा हुआ रस-रहस्य ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें शृंगार रस और नायिका भेद का निरूपण अच्छा हुआ है। शब्द-शक्ति का विवेचन भी इन्होंने इसमें किया है। कहीं-कहीं पर विषय निरूपण में गद्य का प्रयोग भी इन्होंने इसमें किया है।

सूरति मिश्र—ये आगरे के रहने वाले थे। इनका कविता काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण

माना जाता है। इन्होंने कविप्रिया रसिकप्रिया और बिहारी सतसई पर विस्तृत टीकायें ब्रज-भाषा-गद्य में लिखी हैं। इनके लिखे हुये अलंकार माला, रसरत्नमाला, सरसरत्न, रस-ग्राहक-चंद्रिका, नख-शिख. काव्य-सिद्धान्त और रस रत्नाकर नाम के रीति-ग्रन्थ मिलते हैं। इनके रचे हुये ग्रन्थों और टीकाओं में इनकी साहित्य मर्मज्ञता का अच्छा परिचय मिलता है।

श्रीपति—ये कालपी के रहने वाले थे। इनके लिखे हुये काव्य सरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रास-विनोद, विक्रम-विलास, सरोज-कलिका, और अलंकार-गंगा नाम के रीति-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनमें इन्होंने काव्यांगों का विशद और सुन्दर निरूपण किया है। इनका काव्य सरोज एक प्रौढ़ ग्रंथ है। यदि इनके समय में गद्य में काव्यांगों के निरूपण की शैली होगई होती तो निःसंदेह ये एक अच्छे आचार्य बन सकते थे। इनका कवित्व भी उच्च कोटि का है। सुन्दर भाव व्यंजना, अनुप्रास की छटा, माधुर्य और रीति-वर्णन इनके काव्य की विशेषतायें हैं।

दास—इनका निवास स्थान ग्राम टयोंगा था। इनका कविता काल संवत् १७८५ से १८०७ तक माना जाता है। रीति कालीन कवियों में आचार्य के नाते से इनका सर्व प्रमुख स्थान माना जाता है। इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, और शब्द-शक्ति आदि काव्य संबन्धी विषयों का सबसे अधिक

विस्तृत और सुन्दर निरूपण किया है। विषय-प्रतिपादन की शैली इनकी बहुत अच्छी है। आलोचना-शक्ति भी इनमें पर्याप्त है, किन्तु आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में ये एक सफल आचार्य नहीं हैं। क्योंकि इनके लक्षण और उदाहरण कितने ही स्थानों पर अस्पष्ट और अशुद्ध हैं। ये परकीया प्रेम को रसाभास के अन्तर्गत मानते थे। इसलिये नायिका-भेद आदि निरूपण में इस दोष से बचने के लिए इन्होंने लिखा है—

श्री मानन के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनै सुकवि-सिरमौर॥

यही कारण है कि इन्होंने अपने रस सारांश में नायिन, धोबिन और कुमहारिन आदि छोटी जाति की स्त्रियों को आलम्बन रूप में न लेकर दूति रूप में लिया है। इनकी काव्य-साधना के विषय में शुक्ल जी के निम्न विचार हैं—

इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भाव-पक्ष में रंजन कारिणी है। विशुद्ध-काव्य के अतिरिक्त इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इन में कम पाई जाती है, उसी प्रकार उनकी सी सफलता भी कहीं-कहीं मिलती है। जिस बात को ये जिस ढंग से—चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो—कहना चाहते थे उस बात को उस ढँग से कहने की पूरी सामर्थ्य इन में थी। दास जी ऊँचे दरजे के कवि थे।

इनकी कविता का एक नमूना देखिये—

नैनन को तरसैए, कहां लौं . कहां लौं हियो विरहागि मैं तैए ?
एक घरी न कहूं कल पैए, कहां लगि प्रानन को कल पैए ?
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहु के घर जैए।
मान घटेते कहा घटि है, जु पै प्रान पियारे को देखन पैए॥

इन्होंने रस सारांश, छंदार्णव पिंगलकाव्य-निर्णय शृंगार-निर्णय, नाम-प्रकाश, विष्णु पुराण-भाषा (दोहे चौपाई में) छन्दः-प्रकाश, शतरंज-शतिका और अमरप्रकाश (संस्कृत अमर-कोष भाषा पद्य में) नाम के रीति और काव्य ग्रंथ लिखे हैं।

रसलीन—इनका असली नाम सैयद गुलामनबी था ये बिलग्राम जिला हरदोई के रहने वाले थे। मुसलमान होते हुये भी इन्होंने ब्रजभाषा में रीति और शृंगार सम्बन्धी उत्कृष्ट रचनायें की हैं। अंग-दर्पण और रस-प्रबोध इनके दो ग्रंथ प्राप्त हुये हैं। जिनमें से एक में मानवीय अंगों का चमत्कार पूर्ण वर्णन किया गया है तथा दूसरे में रस, भाव, नायक-भेद षट्ऋतु और बारहमासा आदि प्रसंगों को लेकर रस का सुन्दर निरूपण किया गया है। इनका निम्न-लिखित दोहा बहुत ही प्रसिद्ध है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि, झुकि परत जेहि चितवत इकबार॥

ग्वाल कवि—इनका कविता काल संवत् १८७९ से संवत् १९१८ तक माना जाता है। इन्होंने यमुनालहरी और

भक्त-भावन, दो काव्य ग्रंथ तथा रसिकानन्द, रसरंग, कृष्णजू को नख-शिख और दूषण-दर्पण नाम के चार रीति-ग्रंथ लिखे हैं। हम्मीर हठ और गोपी पच्चीसी ये दो ग्रन्थ इनके और कहे जाते हैं। इन पर भी रीति-कालीन प्रभाव पूर्णतया पड़ा हुआ है। इनकी भाषा व्यवस्थित, भाव परिमार्जित तथा वर्णन-शैली विदग्धता पूर्ण है। इनका षटऋतु-वर्णन शृंगारो-द्दीपन शैली का है। इनकी भाषा में ठेठ पूर्वी, हिन्दी, गुजराती, और पंजाबी के बहुत से शब्द मिलते हैं। अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने खूब किया है। इनकी कविता इनके फक्कड़-पन और बाजारू स्वभाव का परिचय देती है। नीचे के कवित्त में इनका यह स्वभाव देखने को मिलता है—

दिया है खुदा ने खूब खुशी करो ग्वाल कवि,
खाव-पियो, देव-लेव, यहीं रह जाना है ॥
राज राव उमराव केते बादशाह भए,
कहाँ ते कहां को गए, लग्यो न ठिकाना है।
ऐसी जिन्दगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे !
देश देश घूमि घूमि मन बहलाना है।
आय परवाना पर चलै न बहाना, यहाँ-
नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है।

रीतिकाल के अन्य कवि

इस प्रकरण में हमने रीतिकाल के उन कवियों को लिया है, जिन्होंने रीति की बंधी हुई परम्परा से अलग रहकर काव्य की साधना की है। वैसे तो ये कवि शृंगारी ही है किंतु फिर भी हम इन्हें शृंगार की उस धारा से बहुत कुछ मुक्त पाते हैं, जिसमें बिहारी और देव आदि रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि डूबे हुए हैं। वास्तव में ये प्रेमोन्मत्त कवि हैं, जिनके हृदय से प्रेम की सच्ची अनुभूतियाँ स्वतः काव्य का रूप लेकर फूट पड़ी थी। किसी तरह के चमत्कारवाद, अलंकारवाद या नायिका भेद आदि के चक्र में ये नहीं पड़े। इन्होंने नीति, भक्ति, ज्ञान और वीर आदि विषयों पर हृदयस्पर्शी मुक्तक काव्य लिखे हैं। इनमें से कुछ ने प्रबन्ध काव्य लिखने की रुचि भी दिखलाई है। और कुछ ने ब्रह्म-ज्ञान तथा वैराग्य के पद्य भी कहे हैं। सूक्तिकार भी इन कवियों में हमको मिलते हैं। निःसंदेह इस धारा के सभी कवियों को कोई ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इनमें से अधिकतर केवल पद्यकार ही हैं। भावुकता और प्रतिभा सम्पन्न कवि इनमें पाँच-सात ही हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान

कविवर घनानन्द जी को दिया जा सकता है। इनका विवेचन इस प्रकार है—

घनानन्द—इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग माना जाता है। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के यहां मीर मुन्शी थे। सुजान नाम की वेश्या से इनका प्रेम-सम्बन्ध था। कहते हैं कि एक बार इन्होंने मुहम्मदशाह के बहुत जोर देने पर भी अपना गाना नहीं सुनाया था। जब इन्होंने अपनी हठ न छोड़ी तो उनकी प्रेमिका सुजान को बुलाया गया। तब इन्होंने बादशाह की ओर पीठ करके और सुजान की ओर मुख करके अपना गाना सुनाया। इनकी इस बे अदबी पर बादशाह ने इनको शहर से निकलवा दिया। चलते समय इन्होंने सुजान को भी साथ चलने को कहा, किन्तु सुजान इनके साथ नहीं आई। इससे इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और ये निम्बार्क संप्रदाय के वैष्णव हो गये तथा वृन्दावन में रहने लगे। संवत् १७६६ में जब नादिरशाह के सिपाही लूटमार करते हुए वृन्दावन तक जा पहुँचे तो उन्होंने इनको भी घेर लिया। जब इन्होंने उनके धन मांगने पर धूल की तीन मुट्ठी उनके ऊपर फेंकी तो उन्होंने क्रोध में आकर इन्हें मार दिया। मरते समय इन्होंने अपने रक्त से एक कवित्त लिखा था। जिसकी अन्तिम चार पंक्तियों में सुजान के प्रति इनकी अटूट प्रेम-भावना का पता चलता है, किन्तु

याद रहे जिस सुजान की स्मृति इन्होंने मरते समय की थी, वह सुजान वेश्या नहीं बल्कि सुजान कृष्ण हैं।

÷ + ÷

झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घन आनन्द निदान को।
अधर लगे हैं आनि कर कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान को ॥

इनके लिखे हुए सुजान-सागर, विरह-लीला, कोक-सार, रस-केली-बल्ली और कृपा-काण्ड तथा फुटकल सवैयों और कवितों के कुछ संग्रह प्राप्त हुए हैं। कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में भी रखा हुआ है।

काव्य-साधना—सुजान वेश्या के प्रति घनानन्द का जितना भी प्रेम भाव था, वह सभी विरक्त हो जाने पर कृष्ण के अनन्य प्रेम का रूप ले लेता है। निःसंदेह इन्हें सुजान से इतना लगाव था कि ये अपने आराध्य को भी उसी के नाम से अपनी कविताओं में बार-बार सम्बोधित करते हैं। वियोग शृंगार का जितना सजीव मादक और सरस वर्णन इन्होंने किया है, वैसा हम रीतिकाल के अन्य मुक्तककाव्य-कारों में नहीं पाते। इन्होंने प्रेम के बाह्य व्यापारों और चेष्टाओं का चित्रण उतना नहीं किया, जितना कि हृदय के उल्लास और वास्तविक टीस का अनुभव करते हुए प्रेम की अपूर्व व्यंजना की

है। प्रेम की आन्तरिक दशा का सजीव चित्र उतारने में इन्हें बहुत ही सफलता मिली है। मिलन की चहल-पहल और काम-क्रीड़ाओं की अपेक्षा इन्होंने वियोग की प्रशांत और गम्भीर हल-चल को काव्य का रूप दिया है। इनके विरह-वर्णन के विषय में आचार्य शुक्ल जी के निम्न विचार हैं—

ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ है। इनके भावों में स्वाभाविक मृदुता और कोमलता है, उद्वेग और भड़कन नहीं। इनका विरह प्रशांत समीर के रूप में है, अंधड़ और तूफान के रूप में नहीं। यही इनकी विरह-वेदना की विशेषता है। यही इनके गूढ़ और गंभीर प्रेम का लक्षण है। सच्चे गम्भीर भावुक होने के कारण इन्होंने बिहारी आदि के समान विरह-ताप की अत्युक्ति का खिलवाड़ नहीं किया है। प्रेम मार्ग का ऐसा धीर और प्रवीण पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।

नीचे के कवित्त और सवैयों में इनकी काव्य-गत विशेषताओं की छटा देखी जा सकती है।

ए रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, बारि
तो सों और कौन मनै ढरकौंही बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै॥

जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा को मूरि, आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन्ह पाँयन की हाहा! नैकु आनि दै॥

× × × ×

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बांक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपन पौ, झिझकैं कपटी जो निसांक नहीं॥
घन आँनद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौनसी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥

इनकी भाषा के विषय में भी आचार्य शुक्ल जी की पंक्तियां ही हम यहां उद्धृत करते हैं—

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था, वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव भंगी के साथ जिस रूप में चाहते थे, उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गति-विधि का अभ्यास हुआ। और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी, तब ये उसे बंधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नई प्रणाली पर ले आते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चला कर इन्होंने, उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन बिरले कवियों में हैं जो भाषा की

व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रङ्ग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।

महाराज विश्वनाथ सिंह—ये रींवा के महाराज थे। ये जितने कवि थे उतने ही भक्त भी। इनके लिखे हुए तीस-पैंतीस ग्रन्थ मिलते हैं। वैसे ये रामोपासक थे, किन्तु संतमत का भी इनकी दृष्टि में विशेष सम्मान था। कबीर-बीजक की टीका इन्होंने सगुण राम के ऊपर घटित की है। इनकी सभी रचनायें प्रायः रामचरित सम्बन्धी हैं। ब्रज-भाषा में सब से पहिले नाटककार ये ही हुए हैं। इनका 'आनन्द-रघुनन्दन' हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। इनकी कविता में वर्णन और उपदेशों की प्रधानता है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है।

गिरधर कविराज—इनके जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनका कविता काल संवत् १८०० के उपरांत में माना जाता है। इनकी कुण्डलियां हिन्दी संसार में बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ तक कि अनपढ़ लोग भी इनकी कुण्डलियों को प्रायः याद रखते हैं। इनकी इस सर्व-प्रियता का कारण यही है, कि इन्होंने नीति और व्यवहार की बातों को सीधी-सादी भाषा में बड़े अच्छे ढंग से लिखा है। किसी तरह की सजावट के फेर में ये नहीं पड़े। अन्योक्ति और दृष्टांत का सहारा लेकर

इन्होंने जीवन के ऐसे तथ्यों को पद्यबद्ध किया है, कि जो सर्व-साधारण की वस्तु बन गये हैं। इनकी कुण्डलियाँ काव्य-तत्व की दृष्टि से साहित्य का अंग नहीं है, बल्कि उनकी व्यावहारिकता और स्पष्टता ने उन्हें साहित्य में स्थान दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन में काम आने वाली बहुत सी बातों का अनुभूति-पूर्ण वर्णन इन्होंने किया है। नीचे एक उदाहरण देखिये—

> रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं में सोय।
> छाँह न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय॥
> जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दै हैं।
> जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जै हैं॥
> कह गिरधर कविराय छाहँ मोटे की गहिए।
> पाता सब झरि जाय तरु छाया में रहिए॥

आलम—इनका कविता काल संवत् १७४० से १७६० तक माना जाता है। ये जाति के ब्राह्मण थे। बाद में शेख नाम की रंग-रेजिन के प्रेम में फंस कर मुसलमान हो गये थे। शेख से इनका प्रेम होने की घटना भी बड़ी विचित्र है। कहते हैं—एक बार इन्होंने शेख को अपनी पगड़ी रंगने को दी, जिसकी खूंट में कागज की एक चिट बंधी हुई चली गई। उस में इनके एक दोहे की यह पंक्ति लिखी हुई थी—'कनक छरि सी कामिनी काहे को कटि छीन'। शेख ने जब पगड़ी रंगकर इन्हें लौटाई तो साथ में इनके दोहे की पूर्ति में निम्न पंक्ति लिखकर उसमें बांध

दी—'कटि को कंचन काट विधि कुचन मध्य धरि दीन'। इसे पढ़कर आलम शेख के ऊपर आसक्त हो गये। और बाद में उससे विवाह भी कर लिया। शेख बड़ी हँसमुख और हाजिर जबाव स्त्री थी। कविता करने का भी उसे पूरा शौक था। आलम-केलि में कितने ही कवित्त शेख के बनाये हुए भी हैं। जिनमें हमें प्रेम की पीर आलम के कवित्तों से भी कहीं अधिक तीव्र मिलती है।

आलम ने रीति-बद्ध रचना के चक्र में न पड़ कर स्वतंत्र रूप से काव्य रचना की है। इनकी रचनाओं में शृंगार अथवा प्रेम की पीर की ऐसी तीव्र उक्तियाँ मिलती हैं कि जिनको पढ़ कर अथवा सुन कर मन लीन हो जाता है। इस तन्मयता का कारण आलम के हृदय की सच्ची उमंग है, जिसमें बहकर इन्होंने काव्य-रचना की है। इनकी सी तन्मयता हमें घना-नन्द और रसखान जैसे कवियों में ही मिलती है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार है। नीचे इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यों करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यों करैं॥
आलम औन से कुंजन में करी केलि तहां अब शीश धुन्यों करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी, अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

नीचे शेख के कवित्त में भी देखिये कितना दर्द है—

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी-तीखी कोरनि करोर लेते काढ़े जीउ,
केते भये घायल और केते तलफात हैं।
ज्यौं-ज्यौं लै सलिल चख 'सेख' धोवै बारबार,
त्यौं-त्यौं बल बुन्दन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले, कैधौं नाहर नहन वाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं।

गुरु गोविन्द सिंह——ये सिखों के अन्तिम गुरु हुये हैं। इनका जन्म संवत् १७२३ और सत्यलोकवास १७६५ माना जाता है। वैसे तो गुरु होने के नाते इन्होंने भी भजन और पद ही अधिक लिखे हैं तथापि काव्य का भी इन्हें पूर्ण ज्ञान था। इन्होंने कितने ही सिखों को उच्च शिक्षा प्राप्त के लिये काशी भेजा था। इनकी तलवार तिलक और जनेऊ की रक्षा के लिये सदा उठी रही। सिख संप्रदाय के अनुयायी होने पर भी इनका हिन्दू-धर्म के प्रति पूर्ण सद्भाव था। हिन्दी में इन्होंने कई साहित्यिक ग्रंथ लिखे हैं। जिनमें से सुनीति-प्रकाश, सर्वलोह-प्रकाश प्रेम-सुमार्ग, बुद्धिसागर और चण्डी-चरित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। चण्डी-चरित्र में दुर्गासप्तशती की कथा को इन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से कविता में लिखा है। ब्रजभाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार है।

लालकवि—ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे। इन्होंने महाराज छत्रसाल के जीवन को दोहे और चौपाइयों में बड़े ब्यौरे के साथ लिखा है। इतिहास की दृष्टि से इनका यह छत्र-प्रकाश ग्रंथ बहुत महत्व रखता है। इसमें वर्णित घटनायें और संवत् आदि इतिहास की कसौटी पर भी पूर्ण उतरते हैं। इस ग्रंथ में इनकी प्रबन्ध-पटुता का पूर्ण परिचय मिलता है। मार्मिक स्थलों की पहिचान, वर्णन-विस्तार और सम्बन्ध-निर्वाह आदि की दृष्टि से इसमें इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। देश की दशा की ओर भी इन्होंने पूर्ण ध्यान दिया है। विष्णु-विलास में इन्होंने नायिका भेद पर भी अच्छी रचनायें लिखी हैं, किन्तु इनकी कीर्ति का स्तंभ 'छत्र-प्रकाश ही है।

बैताल—महाराज विक्रमशाही की सभा में इनका अच्छा सम्मान था। शिवसिंह सरोज में इनका जन्मकाल संवत् १७३४ लिखा है। गिरधर कविराय की तरह इन्होंने भी नीति और लोकव्यवहार सम्बन्धी कुंडलियाँ लिखी हैं। कुंडलियों में इन्होंने विक्रम को सम्बोधित किया है। सीधी-सादी भाषा में जीवन के तथ्य को कहने की क्षमता इनमें भी पर्याप्त है। इनकी एक कुंडली नीचे दी जाती है—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू॥
बाम्हन सो मरिजाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरिजाय, जो कुल में दाग लगावै॥

अरु बेनियाय राजा मरे, तबै नींद भर सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनौ, एते मरे न रोइए॥

वृन्द——ये मथुरा के रहने वाले थे। इनकी वृन्द सतसई संवत् १७६१ की रचना है। इसमें नीति सम्बन्धी सात सौ दोहे संग्रहीत हैं। शृङ्गार-शिक्षा और भावपंचाशिका नाम की दो पुस्तकें रस सम्बन्धी भी इन्होंने लिखी हैं। किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्धि सूक्तिकार के रूप में ही है। सीधी-सादी भाषा में इन्होंने भी जीवन सम्बन्धी बातों का बड़े सुन्दर ढङ्ग से दोहों में वर्णन किया है। इनकी सतसई हिन्दी साहित्य की प्रौढ़ सतसइयों में अपना विशेष स्थान रखती है।

इन कवियों के अतिरिक्त और भी पचासों कवियों के नाम रीतिकाल में गिनाये जा सकते हैं किन्तु उनकी कोई व्यक्तिगत साहित्यिक विशेषता नहीं मिलती। रीति-कालीन परंपरा की दृष्टि से उन्हें इतिहास में स्थान देना यद्यपि आवश्यक है, तथापि उनकी रचनाओं में से रीति-परिपाटी के अतिरिक्त कोई अन्य काव्य-सौंदर्य निकाला जा सके, ऐसा सम्भव नहीं है रीति-कालीन-काव्यपरंपरा का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त कवियों का विवेचन ही पार्याप्त है छोटेर कवियों के नाम और ग्रंथों की संख्या देख कर अथवा उनकी विशेषतायें बताते हुये शब्दों का पिष्ट-पेशण करके व्यर्थ के विस्तार को हम पाठकों के लिये उपयुक्त नहीं समझते। इस लिये ऐसे कवियों को हम छोड़ रहे हैं।

गद्य-काल

संवत् १६०० से अब तक

सामान्य परिचय—किसी भी भाषा के साहित्य पर विचार करने से हम इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि उसमें गद्य की अपेक्षा पद्य का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम हुआ। आरम्भ में मनुष्य अपने चारों ओर बिखरे हुए सौन्दर्य को काव्य की संगीतमयी लहरी में ही व्यक्त करता है। किन्तु ज्यों ज्यों उस के जीवन का विकास होता जाता है, उस की सामाजिक और राजनैतिक जटिलताएँ बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे गद्य लिखने की रुचि भी उसमें उद्भूत होती है। काव्य में हमें मानव जीवन का जो रूप देखने को मिलता है, वह कल्पना और भावनाओं का एक ऐसा सम्मिश्रण है कि जो इस जगत् की वास्तविकता पर कम घटित होता है। इसके विपरीत गद्य में हम मानव-जीवन के इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र आदि भौतिक विषयों का उल्लेख अथवा जीवन के

लोक पक्ष का चित्रांकन पाते हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक और जीवनचरित्र आदि गद्य के ही विषय हैं, जिनमें हम मनुष्य के दैनिक जीवन की कहानी ही अधिकतर देखते हैं। इसके साथ ही आलोचना, व्याख्या, व्याकरण और विज्ञान आदि भी गद्य साहित्य का ही अङ्ग है, जिनका प्रारम्भ मनुष्य में बौद्धिक जागृति हो जाने पर ही सम्भव हो सकता है। कदाचित् इन्हीं कारणों से हम गद्य-साहित्य का उदय पद्य साहित्य के बाद में पाते हैं।

पद्य और गद्य के इसी स्वाभाविक विकास-क्रम के अनुसार हम हिन्दी-साहित्य में भी गद्य-साहित्य का प्रादुर्भाव पद्य के बहुत काल पश्चात् पाते हैं। निःसन्देह कुछ नमूने हमें हिन्दी गद्य के उस समय के भी मिलते हैं, जब कि हमारे साहित्य में पद्य का ही प्राधान्य था, किन्तु उनमें हमें गद्य का वह निखरा हुआ रूप नहीं मिलता जो कि हमें १६वीं शताब्दी के, अथवा उस से भी पूर्व १७वीं शताब्दी के गद्य का मिलता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक विकास के अतिरिक्त गद्य के लिए भाषा के प्रौढ़ रूप की भी आवश्यकता है। जब तक किसी भाषा का व्याकरण प्रस्तुत न हो जाये और उसका शब्द-कोष विवेचनापूर्ण शब्दों से सम्पन्न न हो जाये तब तक उस में परिमार्जित गद्य प्रस्तुत नहीं हो सकता। हिन्दी भाषा को यह परिमार्जित रूप उन्नीसवीं शताब्दी में पहुंच कर प्राप्त होता है, और तभी हम उसमें गद्य सम्बन्धी साहित्य

का सृजन भी पाते हैं। वैसे गद्य के कुछ नमूने हमें १२वीं शताब्दी के भी मिलते हैं।

परिस्थितियाँ—गद्य के निर्माण में धार्मिक शान्ति की अपेक्षा सामाजिक और राजनैतिक शान्ति अधिक सहयोग देती है, क्योंकि ऐसा होने पर ही मनुष्य का ध्यान जीवन की नाना समस्याओं के आख्यान की ओर आकृष्ट हो पाता है। इस दृष्टि से ऐसा शान्तिमय अवसर हमारी भाषा को मुग़ल काल में मिला था, कि जिसमें उच्च कोटि का गद्य लिखा जा सकता था, किन्तु उस समय जन साधारण का दृष्टिकोण धार्मिक होने के कारण गद्य-साहित्य नहीं लिखा जा सका। इस के साथ ही उस समय की ब्रजभाषा में विवेचन की वह शक्ति और प्रौढ़ता भी नहीं आ पाई थी, जिस का होना गद्य के लिए अपेक्षित है। किन्तु फिर भी हमें इस काल की लिखी हुई बहुत सी गद्य-रचनायें मिलती हैं, जो गद्य की दृष्टि से बहुत कुछ परिमार्जित हैं। गद्य के अनुकूल परिस्थितियाँ और वास्तविक वातावरण उन्नीसवीं शताब्दी में ही हमारे देश में उत्पन्न होता है। इस समय अंग्रेजों के यहाँ आ जाने के कारण उन के निकट सम्पर्क से हमारा समाज बहुत कुछ प्रभावित होता है। तथा साहित्य के उस अंग की ओर भी हमारे लेखकों का ध्यान आता है, जिस में कि जीवन के सर्वांगीण आख्यान का सम्पादन रहता है। अंग्रेजों को अपना राजकार्य चलाने लिए यहां की भाषा को सीखने की आश्यकता हुई, जिसके

लिए उन्होंने उस समय की बोल चाल की भाषा खड़ी बोली में कुछ पाठ्य पुस्तकें लिखवाईं, जो हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं में लिखी गईं।

अंग्रेजों को ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी कि जो उनके व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि करे, इसलिए उन्होंने अधिकतर पुस्तकें गद्य में ही तैयार कराईं और इस प्रकार राजसत्ता से प्रेरणा पाकर हमारे भारतीय लेखकों में भी गद्य-साहित्य के निर्माण की अभिरुचि उत्पन्न हुई। जो कहानी, उपन्यास, जीवन-चरित्र नाटक और आलोचना आदि के नाना प्रौढ़ रूपों में हमें अब तक, देखने को मिलती है।

क्रमिक विकास—हिन्दी गद्य के सर्वप्रथम नमूने हमें रावल समरसिंह और महाराज पृथ्वीराज के दानपत्रों के रूप में मिलते हैं, जो राजस्थानी भाषा में हैं। इनका समय बारहवीं शताब्दी आँका गया है। इन पत्रों की रूपरेखा इस प्रकार है—"स्वस्ति श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपेराज श्री श्री श्री रावल जी श्री समरसी जी बचनातु दा अमा आचारज ठाकर रुसीकेष कस्य थाने दलीसु डायजे लाया अणी राज में ओषद थारी लेवेगा"।

इस उद्धरण में हम देखते हैं कि यहां लेवेगा क्रिया खड़ी बोली की है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय की बोल चाल की भाषा का रूप बहुत कुछ खड़ी बोली नुमा हो चला था। इसके बाद चौदहवीं शताब्दी के लगभग हमें महात्मा

गोरखनाथ गद्य के सर्वप्रथम लेखक के रूप में मिलते हैं। इनका गद्य राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में लिखा गया है, जिसका नमूना इस प्रकार है—"सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ अस्नान कर चुको, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कै दै चुको।"

गद्य के इस नमूने में हम पुरुष, सम्पूर्ण और पृथ्वी आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार पाते हैं, जो इस बात के द्योतक हैं कि तत्कालीन बोलचाल की भाषा साहित्यिक क्षेत्र में पहुँचकर संस्कृत के साथ अपना निकट सम्पर्क बनाने लगी थी। इसके साथ ही चुको और ब्राह्मननि शब्द ब्रजभाषा के भी हमें इस नमूने में मिलते हैं, जो हमें इस बात का परिचय कराते हैं कि बृजभाषा भी इस समय अपना साहित्यिक स्थान बनाने लगी थी। गोरखनाथ के पश्चात् दो शताब्दियों में गद्य लिखा गया अथवा नहीं, इसका कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला। सोलहवीं शताब्दी में गोस्वामी विट्ठल-नाथ की 'राधा-कृष्ण बिहार' पुस्तक हमें ब्रजभाषा के गद्य में लिखी हुई मिलती है। इसी समय के आसपास के लिखे हुए गोस्वामी गोकुलनाथ (विट्ठलनाथ जी के पुत्र) की चौरासी तथा दो सो बावन वैष्णवों की वार्त्ता नाम के दो ग्रंथ हमें पर्याप्त व्यवस्थित ब्रजभाषा-गद्य में लिखे हुए मिलते हैं। इनकी भाषा में फारसी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। पिता और पुत्र इन दोनों ही लेखकों में हमें खड़ी बोली के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है, जो तत्कालीन मुस्लिम

सम्पर्क का द्योतक है। इनके गद्य की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई। जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है। सो हमहूँ श्री मद्भागवत भाषा करें।"

गोकुलनाथ जी की इन पंक्तियों में हमें खड़ी बोली के गद्य की पर्याप्त गति मिलती है, किंतु इससे भी कहीं अधिक खड़ी बोली के शब्दों का व्यवहार और गति हमें सन् १५७२ के लगभग लिखी हुई गंगाभाट की 'चंद-छंद-बरनन की महिमा' नामक पुस्तक में मिलती है, जिसका नमूना इस प्रकार है— "तब श्री आचार्य जी महाप्रभुन ने दामोदरदास सों कह्यो जो या सों अब वैष्णव को अपराध पड़ेगो तो हम याकों लक्षजन्म पाछे अंगीकार करेंगे।"

इसके बाद कुछ गद्य सतरहवीं शताब्दी के आरम्भ में नाभादासजी और तुलसीदास जी के लिखे हुए भी मिलते हैं। इनमें भी हमें फारसी के शब्दों का काफी प्रयोग मिलता है। फिर रीतिकाल में महाकवि देव, बनारसीदास और जटमल के नाम गद्य लेखकों के रूप में मिलते हैं। सन् १७१० के लगभग सुरतिमिश्र ने केशवदास की कविप्रिया की टीका गद्य में लिखी और फिर अठारहवीं शताब्दी में भिखारीदास के लिखे हुए कुछ गद्य और किशोरदास की शृंगारशतक की गद्यटीका मिलती है।

इस काल तक के गद्य में हम विवेचन की शक्ति कुछ अधिक प्रबल नहीं पाते। यह काल हिन्दी गद्य का विकास काल कहा जा सकता है। इस काल के गद्यलेखकों ने साहित्य के एक आवश्यक अङ्ग को किसी न किसी रूप में निभाने का कार्यमात्र किया है। वैसे गोकुलनाथ की वार्त्ताओं में हमें वर्णन-शक्ति के अच्छे दर्शन होते हैं। किन्तु फिर भी हम उनके गद्य को उच्च कोटि का नहीं कह सकते। यहां तक का गद्य हमें ब्रज-भाषा में ही मिलता है।

खड़ी बोली का गद्य—अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का पतन हो जाने पर खड़ी बोली को पर्याप्त विस्तार मिला। दिल्ली के आस-पास से उठ-उठ कर लोग लखनऊ, आगरा, इलाहाबाद और बनारस आदि नगरों में जाकर रहने लगे, जिनके साथ-साथ खड़ी बोली भी इन पूर्वीय नगरों में पहुँच गई। निःसन्देह खड़ी बोली में वीर-गाथा-काल के अन्त में अमीर खुसरो अपनी कुछ मुकरियां और पहेलियाँ लिखकर खड़ी बोली को व्यावहारिकता का पूर्ण परिचय दे चुके थे। उधर अकबर कालीन गंगाभाट की 'चंद छंद बरनन की महिमा' में भी हमें खड़ी बोली का गद्य रूप देखने को मिलता है, किन्तु वास्तव में खड़ी बोली का युग रीति काल की समाप्ति पर अंग्रेजों के यहां आजाने के पश्चात् ही आता है। सन् १८५७ की जन-क्रांति के पश्चात् अंग्रेजी सत्ता यहाँ पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई। इस समय खड़ी

बोली ही यहाँ की व्यावहारिक भाषा रही गई थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इस भाषा को बोलते और समझते थे। इसलिये अङ्गरेजों ने भी इसी भाषा को ग्रहण किया। सन् १८०३ के लगभग कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, जिसके अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट ने तत्कालीन विद्वान् सदल मिश्र और लल्लू लाल जी को अध्यापन कार्य के लिये कॉलिज में नियुक्त किया और इनसे पाठ्य पुस्तकें भी तैयार करवाईं, जो खड़ी बोली के गद्य में लिखी गईं। इन विद्वान् प्रवरों के साथ-साथ ही मुंशी सदासुख लाल और इंशा अल्ला खाँ भी इसी समय अपनी आंतरिक प्रेरणा से गद्य लिखने में प्रवृत्त हुए। ये चारों लेखक खड़ी बोली के गद्य के जन्मदाता और पोषक कहे जा सकते हैं। हिन्दी गद्य के प्रसार में इन चार लेखकों का सहयोग ही अधिक मान्य है।

मुंशी सदासुखलाल—इनका जन्म संवत् १८०३ और मृत्यु १८८१ में हुई। ये दिल्ली के निवासी थे और अरबी, फ़ारसी और उर्दू के अच्छे विद्वान् थे। हिन्दी में इन्होंने 'सुख सागर' नाम का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है जो श्रीमद्भागवत का एक स्वतन्त्र अनुवाद कहा जा सकता है। निःसन्देह यह इनकी मौलिक रचना नहीं है, किन्तु स्वान्तः सुखाय लिखी हुई होने के कारण हमें इनके हृदय की भक्ति-भावना का पूर्ण परिचय इसमें मिलता है। यह सन् १८१८ के

आस-पास की रचना है। इसकी भाषा पंडिताऊ ढंग की है, जिस पर ब्रजभाषा और अवधी का पूर्ण प्रभाव है। इसमें गंभीरता, स्थिरता और शान्त प्रवाह भी पर्याप्त है। नमूना नीचे देखिये—

"जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये।"

इंशा अल्ला खां—ये उर्दू के बड़े अच्छे शायर थे। मुसलमान होते हुए भी हिन्दी-भाषा से इन्हें विशेष प्रेम था। हिन्दी में इन्होंने रानी केतकी की कहानी लिखी है, जो संवत् १८५५ और १८६० के बीच की रचना है। इस कहानी को इन्होंने इस निश्चय के साथ लिखा था कि इसमें हिन्दवी की छुट और किसी बोली का पुट न आने पावे। बाहर की बोली और गँवारी भाषा भी इसमें न आने पाये। इनके इस निश्चय से स्पष्ट झलकता है कि इंशा अल्ला ठेठ हिन्दी में अपनी यह कहानी लिखना चाहते थे। उनका अभिप्राय था कि न तो अरबी फारसी के विदेशी शब्द इनकी कहानी में आयें, न अवधी और ब्रजभाषा के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग ही उसमें हो। किन्तु मुसलमान होने के कारण फारसी के ढंग का वाक्यविन्यास तो इस कहानी में आ ही गया है। वैसे इनकी भाषा इस काल के इन चार लेखकों में सबसे अधिक चटकीली मुहावरेदार और चलती हुई है। कहानी की दृष्टि से भी इनकी रचना पर्याप्त

प्रौढ़ है। भाषा का नमूना देखिये—"तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूंगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकयाकर छिनवा लूँगी।"

लल्लू लाल—इनका जन्म संवत १८२० और मृत्यु संवत १८८२ है। ये आगरे के रहने वाले थे। संवत १८६० में इन्होंने गिलक्राइस्ट के आदेश से भागवत के दशमस्कंध को प्रेम-सागर के नाम से खड़ी बोली के गद्य में लिखा था। इनके इस ग्रन्थ की भाषा कृष्णोपासक व्यासों जैसी है, जिसमें ब्रजभाषा की पुट अधिक है। गंग और इनकी भाषा में केवल इतना ही अन्तर है कि इन्होंने अरबी फारसी के शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा को बहुत बचाया है। भाषा की सजावट, विरामों पर तुकबन्दी और अनुप्रासमयता इनके गद्य में अधिक मिलती है। इन्होंने उर्दू और ब्रजभाषा के गद्य में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक और माधोनल ये चार पुस्तकें इन्होंने और लिखी हैं, जो बिल्कुल उर्दू में हैं। हितोपदेश की कहानियां, 'राजनीति' के नाम से इन्होंने ब्रजभाषा में लिखी हैं। लाल-चन्द्रिका नाम की बिहारी सतसई की टीका, माधव-विलास और सभा-विलास नाम के दो ब्रजभाषा पद्य के संग्रह भी इन्होंने किये थे। इनकी गद्य का नमूना नीचे देखिये—

"तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आती थी सोई शूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी।"

सदल मिश्र—ये बिहार के रहने वाले थे। इन्होंने भी जानगिल क्राइस्ट के आदेश से नासिकेतोपाख्यान की रचना की थी। इनकी भाषा कुछ अधिक व्यवहारोपयोगी तो है, किन्तु उसमें पूर्वी बोली के शब्दों की भरमार है। इनके गद्य का नमूना देखिये—"तब नृप ने पंडितों को बोला दिन विचार बड़ी प्रसन्नता से सब राजाओं ऋषियों को नेवत बुलाया। लगन के समय सबों को साथ ले मंडप में जहां सोनन्ह के थम्भ पर मानिक दीप बलते थे आ पहुँचे।"

उपर्युक्त चारों लेखकों में मुन्शी सदासुख लाल की भाषा में ही हमें आधुनिक हिन्दी का अधिक आभास मिलता है। हिन्दी गद्य का प्रवर्त्तन करने वाले लेखकों में भी इनका स्थान ही अधिक महत्त्व का है।

खड़ी बोली के गद्य-विस्तार में पादरियों द्वारा भी कुछ सहयोग प्राप्त हुआ। सन् १८०९ में विलियम केरे नाम के एक पादरी ने इञ्जील का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित करवाया इसी समय ईसाइयों ने अपने धर्मप्रचार के लिये कुछ अन्य पुस्तकें और भी प्रकाशित करवाई। इनकी भाषा तत्कालीन बोलचाल की ठेठ हिन्दी है, जिससे ज्ञात होता है कि अङ्गरेजों

ने इस बात को अनुभव कर लिया था कि भारतवर्ष की जन साधारण की भाषा हिन्दी ही है ! यही कारण है कि उन्होंने अपनी धर्म-सम्बन्धी पुस्तकें अधिकतर हिन्दी में ही प्रकाशित करवाईं। इन पुस्तकों के गद्य और परिमार्जित लेखन-शैली से प्रतीत होता है कि उनकी रचना में हिन्दी के कुछ योग्य विद्वानों का हाथ अवश्य रहा होगा। क्योंकि पादरियों द्वारा प्रयुक्त भाषा का ऐसा परिमार्जित रूप सम्भव नहीं कहा जा सकता। तथ्य की प्रामाणिकता के लिये यह उदाहरण देखिये—"यीशु ने उनसे कहा कि मेरा भोजन यह है कि अपने भेजने वाले की इच्छा पर चलूं और उसका काम पूरा करूं। क्या तुम नहीं कहते कि वे कटनी के लिये पक चुके हैं और मजदूरी पाता और अनन्त जीवन के लिये फल बटोरता है कि बोने वाला और काटने वाला दोनों मिलकर आनन्द करें।"

एक ओर तो अपने धर्मप्रचार के लिए अङ्गरेज हिन्दी को अपना रहे थे और दूसरी ओर राज्य के काम-काज के लिए अङ्गरेजी की व्यवस्था में लगे हुए थे। संवत् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास भारतवासियों को अङ्गरेजी शिक्षा देने का परामर्श लंदन से आया, किन्तु उस समय इस पर कोई विचार न हो सका। बाद में राजा राममोहनराय जैसे शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के प्रयत्न से हिन्दू कालिज की स्थापना हुई। जिसमें भारतवासी

अङ्गरेजी पढ़-पढ़ कर सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने लगे। इस समय कुछ संस्कृत पाठशालाओं और अरबी के मदरसों को कम्पनी की सरकार आर्थिक सहायता भी दिया करती थी। धीरे धीरे अङ्गरेजी का प्रचार बढ़ जाने पर कंपनी ने यह सहायता भी बंद करदी। उधर राज्य में ऊंचा पद पाने के लिये भारतवासी भी अङ्गरेजी की ओर ही दौड़ पड़े। संवत् १८९२ (७ मार्च सन् १८३५) में लार्ड मैकाले के प्रयत्न से भारतवासियों को अङ्गरेजी शिक्षा देने का प्रस्ताव पास हो गया और कंपनी के द्वारा अङ्गरेजी के कितने ही स्कूल भी खोल दिये गए। इसके बाद अङ्गरेजी सरकार का ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। अब तक दफ्तरों में कार्य फारसी भाषा में ही चल रहा था, जिससे जनता को बड़ी कठिनाइयाँ होती थीं। पहिले कम्पनी ने देश की प्रचलित भाषाओं को अदालती भाषा का रूप देने का विचार किया था, कम्पनी का विचार था कि भाषा तो हिन्दी रक्खी जाये, लिपि देवनागरी अथवा फारसी कुछ भी हो सकती है, किंतु मुसलमानों ने इसका विरोध किया, जिससे खड़ी-बोली के मुस्लिम प्रभावित रूप उर्दू को ही अदालतों में स्थान मिला। इस प्रकार उर्दू का प्रचार बढ़ने लगा और हिन्दी की प्रगति बहुत कुछ रुक गई तथा हिन्दी प्रचारकों के मार्ग में एक बड़ी भारी बाधा खड़ी हो गई।

उन्नति-काल—सन् १८८४ में सर चार्ल्स वुड ने देशी भाषाओं में ग्रामवासियों को शिक्षा देने की एक योजना बनाकर भेजा। जिसमें मुसलमानों के प्रयत्न से हिन्दी को कोई स्थान नहीं दिया जा रहा था। किन्तु हिन्दी के तत्कालीन समर्थक राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी के लिए भिड़ गये। उन्होंने इस योजना में हिन्दी को स्थान दिलवाया तथा हिन्दी में अनेक पाठ्य पुस्तकें स्वयं लिखीं और अपने मित्रों से भी लिखवाईं। राजा शिवप्रसाद आरम्भ में ठेट हिन्दी के समर्थक थे। किंतु बाद में जब उन्होंने यह देखा कि मुसलमान हिन्दी का विरोध केवल इसी आधार पर करते हैं कि उसमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं, जिससे वह बोलचाल की भाषा नहीं है, तो वे शुद्ध हिन्दी की अपेक्षा अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी का समर्थन करने लगे। इसी समय राजा लक्षमणसिंह हिन्दी क्षेत्र में अवतीर्ण हुये और उन्होंने अपनी तत्कालीन भाषा विषयक नीति इस प्रकार व्यक्त की—"हिन्दी और उर्दू बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी देश के हिन्दू और उर्दू यहां के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोल चाल है। हिन्दी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं और उर्दू में अरबी और फ़ारसी के। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि अरबी फ़ारसी शब्दों के बिना उर्दू न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिसमें अरबी फ़ारसी के शब्द भरे हों"।

इस प्रकार इन दोनों राजाओं ने हिन्दी को अनुप्राणित और विकसित करके एक व्यवस्थित रूप दिया। राजा शिव प्रसाद हिन्दी के तत्कालीन व्यावहारिक रूप के समर्थक अवश्य रहे, किन्तु उन्होंने उर्दू को भारत की भाषा कभी स्वीकार नहीं किया। इधर लक्ष्मणसिंह तो ठेठ हिन्दी के ही समर्थक रहे। उनकी भाषा में हिन्दी के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करने की अपूर्व चेष्टा लक्षित होती है। इनका गद्य भी पूर्णतः परिमार्जित और व्यवस्थित है। न तो उसमें फारसी के शब्दों की बेमेल खिचड़ी है और न संस्कृत के शब्दों की अनावश्यक भरमार। बल्कि उनका गद्य विशुद्ध हिन्दी में लिखा गया है। नीचे हिन्दी के इन दोनों पुजारियों की रचना-शैली का नमूना देखिये—"शुद्ध हिन्दी चाहने वाले को हम यह यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फ़ारसी हरफ़ जारी है, इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बे फायदा होगी"। (शिवप्रसाद)

"तुम्हारे मधुर बचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राज वंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़कर पधारे हो"। (लक्ष्मण सिंह)

इसी समय संवत् १६२० में गुजरात निवासी स्वामी दयानन्द जी ने ईसाइयों के बढ़ते हुए प्रचार और हिन्दू धर्म की अवनति को देखकर आर्य धर्म का प्रचार हिन्दी में

करना प्रारम्भ किया। आर्य धर्म की गम्भीर मीमांसा संस्कृत-प्रधान हिन्दी में ही सम्भव हो सकती थी। इसलिये स्वामी जी भी राजा लक्ष्मणसिंह की ही शैली के समर्थक रहे। इनकी भाषा में राजा लक्ष्मणसिंह की सी सरलता और मधुरता ता नहीं है, हां संस्कृतनिष्ठ वह अवश्य है। स्वामी जी को मौलवियों, पादरियों और पंडितों से शास्त्रार्थ करना पड़ता था, जिससे उनकी भाषा में कर्कशता और रूखापन सा आगया है। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि युक्तप्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में स्वामी जी के प्रयत्नों से हिंदी का प्रचार हुआ। इन्होंने अपना सत्यार्थप्रकाश और वेदों के भाष्य हिन्दी में प्रकाशित कराये। स्वामी जी के अतिरिक्त बाबू नवीनचन्द्र राय ने भी पंजाब में हिन्दी का पूरा प्रचार किया। बंगाल में ब्रह्मसमाज के द्वारा हिन्दी को कुछ प्रोत्साहन मिला नवीनचन्द्रजी ने पंजाब में ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों के प्रचार के लिये कुछ पत्रिकायें भी प्रकाशित कीं। उधर प श्रद्धाराम फुल्लौरी ने भी कथावाचक के रूप में हिन्दी प्रचार का कार्य किया। इनका 'सत्यामृत प्रवाह' बड़ी ही प्रौढ़ भाषा में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त इनकी और भी कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी हुई मिलती हैं। संवत् १९३८ में अपनी मृत्यु से पूर्व इन्होंने ने कहा था कि भारत में भाषा के लेखक दो हैं। एक काशी में दूसरा पंजाब में, परन्तु आज एक ही रह जावेगा। काशी के लेखक से इनका अभिप्राय भारतेन्दु जी से था।

खड़ी बोली गद्य के उपर्युक्त विवेचन से पाठक यह अनुभव करेंगे कि खड़ी बोली का एकमात्र सम्बन्ध संस्कृत से स्थापित होता जा रहा था। और इस भाषा को संस्कृत से जहाँ अपार संचित शब्द-कोष प्राप्त हुआ, वहां विचार और भावनायें भी इसने संस्कृत-साहित्य से ही ग्रहण कीं। इस प्रकार यह भाषा बहुत कुछ व्यवस्थित हो गई, अब आवश्यकता केवल इतनी ही रह गई कि कुछ प्रतिभासम्पन्न लेखकों के द्वारा इसका परिमार्जन होकर इसमें ऐसा साहित्य लिखा जावे कि जो शिक्षित जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, जिसकी पूर्ति भारतेन्दु युग में आकर हो गई।

—:o:—

गद्य-साहित्य का प्रथम उत्थान

(१९२५ से १९५०)

सामान्य परिचय—हिन्दी-गद्य-साहित्य का प्रथम उत्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आरम्भ होता है। हिन्दी गद्य को परिमार्जित, चलता, मधुर और स्वच्छ रूप देने और हिन्दी साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने का एकमात्र श्रेय उन्हीं को दिया जाता है। इसी विचार को लेकर गद्य के पूर्ववर्ती निर्माताओं के साथ तुलना करते हुए शुक्ल जी ने भारतेन्दु जी के विषय में लिखा है—"इनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गये। मुन्शी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिये थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्य-विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोलचाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।"

केवल भाषा का संस्कार ही नहीं अपितु भारतेन्दु जी ने अपने समय की साहित्यिक अधोगति का पूर्ण अध्ययन भी किया। अब तक का हिन्दी-साहित्य जीवन से दूर केवल भक्ति और शृङ्गार में ही बह रहा था, किन्तु इन्होंने उसका सम्बन्ध जीवन से स्थापित किया। इनसे पूर्व हिन्दी गद्य में कोई उच्चकोटि की साहित्यिक पुस्तक थी ही नहीं। किन्तु इन्होंने इतिहास, संस्कृति, समाज, राजनीति और देश-प्रेम आदि विषयों पर अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखीं तथा उपन्यास, आख्यायिका, नाटक और समालोचना आदि गद्य-साहित्य के समस्त अङ्गों का सृजन करने वाले ग्रन्थों का निर्माण भी किया। इतना ही नहीं, सर्वसाधारण में साहित्य-अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न करने वाला पत्र-पत्रिकाओं का मार्ग भी इन्होंने ही प्रस्तुत किया। गद्य सम्बन्धी और पद्य सम्बन्धी साहित्य का कोई भी अङ्ग ऐसा नहीं कि जिस पर इन्होंने अपनी लेखनी न चलाई हो। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दी-साहित्य जो शतधा होकर फूट पड़ता है, उसका एक मात्र कारण हिन्दी में भारतेन्दु जैसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का प्रादुर्भाव होना ही कहा जा सकता है। आधुनिक काल में जितनी भी प्रवृत्तियाँ हमें हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध होती हैं, उन सब के जन्मदाता वे ही महानुभाव हैं। इसलिये इन्हें आधुनिक काल का पिता कहना बहुत कुछ ठीक ही है। केवल साहित्य-सृजन ही नहीं अपितु लेखक-सृजन का कार्य भी इन्होंने अभूतपूर्व किया। इनकी प्रेरणा और सहयोग से कितने ही लेखक गद्य-साहित्य

के निर्माण में अग्रसर हुए, जिनका प्रतिनिधित्व करने वाले ये ही थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—इनका जन्म काशी में भाद्र शुक्ल पंचमी संवत् १९०७ और देहावसान माघ कृष्ण षष्ठी सं० १९४१ में हुआ था। अपनी ३५ वर्ष की अल्प आयु में हिन्दी की जो सेवा इन्होंने की, वह अन्य कोई नहीं कर सका। इनके माता-पिता इन्हें क्रमशः ५ और १० वर्ष की आयु में छोड़कर चल बसे थे, जिससे इनकी शिक्षा की कोई उचित व्यवस्था न हो सकी। किन्तु एक सम्पन्न पिता की सन्तान होने के कारण कोई आर्थिक कठिनाई इन्हें नहीं थी। इसलिए शिक्षा भी इन्होंने इच्छानुकूल घर पर ही प्राप्त की। कविता का शौक इन्हें आरंभ से ही था। संवत् १९२२ में जगन्नाथ जी जाते हुए जब ये बंग साहित्य के सम्पर्क में आये तो इन्हें हिन्दी-साहित्य की अपूर्णता का अनुभव हुआ। नाटक और गद्य सम्बन्धी अन्य पुस्तकों के क्षेत्र में तो इन्हें हिंदी-साहित्य बिल्कुल ही शून्य दिखाई पड़ा। इसलिये ये हिंदी-साहित्य के इसी अंग की पूर्ति करने में अधिक प्रवृत्त हुए। सबसे पहिले इन्होंने 'विद्या सुन्दर नाटक' का बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया। इसके बाद बंगला और संस्कृत से और भी कई नाटकों के अनुवाद इन्होंने हिंदी में किये तथा कई मौलिक नाटक भी लिखे। इनके लिखे हुए लगभग १५ मौलिक और अनुवादित नाटक मिलते हैं। कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन,

बाला बोधिनी ये तीन पत्रिकायें भी इन्होंने प्रकाशित की थीं। सबसे पहिला मौलिक नाटक इन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन के रूप में लिखा था। इसके बाद 'चन्द्रावली' 'विषस्य विषमौषधम्' 'भारत दुर्दशा' 'नील-देवी', 'अंधेर नगरी', प्रेम-जोगिनी और सती-प्रताप नाम के मौलिक तथा पाखण्ड विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्यहरिश्चन्द्र और भारतजननी नाम के अनुवादित नाटक इन्होंने लिखे। इनके नाटकों की यह विशेषता है, कि इन्होंने अधिकतर सामग्री जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से ग्रहण की है। नाटकों की रचना-शैली में इन्होंने पश्चिमीय और भारतीय दोनों नाट्य-रचना शैलियों का अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया है। काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण ये दो पुस्तकें इन्होंने इतिहास सम्बन्धी लिखी हैं। इनकी काव्य सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख आगे किया जायेगा। यहां इनकी गद्यशैली के विषय में यह कहा जा सकता है कि इनकी शैली भावावेश और तथ्य-निरूपण के क्षेत्र में अपना पृथक् पृथक् रूप धारण कर लेती है। भावावेश की स्थिति में इनकी भाषा और पदविन्यास बिलकुल बोलचाल का सा रहता है। वाक्य भी छोटे छोटे होते हैं। किन्तु तथ्यनिरूपण करते हुए वे संस्कृत की सी पदा-वली का अनुसरण करने लगते हैं। इनके विषय में इतना हम निःसंदेह कह सकते हैं, कि इनकी समस्त रचनाओं

में इनका देश-प्रेम, समाज-सुधार और भारतीय विचार-धारा फूट-फूट कर भरी हुई है। नीचे उद्धृत दो चार-पंक्तियों से ही इनकी विचार-धारा का अनुमान लगाया जा सकता है। बड़े दिन के अवसर पर अङ्गरेज-रमणियों की विहार-क्रीड़ा को देखकर इनका हृदय फूट पड़ता है—"जब मुझे अङ्गरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशी, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध-वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं। तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है।"

प्रताप नारायण मिश्र—इनका जन्म कानपुर में सम्वत् १९१३ और मृत्यु सम्वत् १९५१ में हुई। ये बड़े मनमौजी व्यक्ति थे। खेल तमाशों में सम्मिलित होना इन्हें बहुत प्रिय था। लेखन-कला में ये भारतेन्दु जी को अपना आदर्श मानते थे, किन्तु विनोदी स्वभाव होने के कारण इनकी रचनाओं में व्यंग्य पूर्ण उक्तियों का चमत्कार भारतेन्दु जी से कहीं अधिक है। इन्होंने ब्राह्मण नाम का एक पत्र भी निकाला था, जिसमें देश-दशा, समाज-सुधार और हिन्दी-प्रचार सम्बन्धी तथा मनोरंजन विषयक लेख छपा करते थे। इनकी रचना-शैली की यह विशेषता है कि वह हास्यपूर्ण लेखों में जितनी चलती हुई मिलती है, गम्भीर विषयों में हम उसे उतनी ही संयत और

परिमार्जित पाते हैं। इन्होंने कई गद्य-प्रबन्ध और नाटक लिखे हैं। कलि-कौतुक रूपक, संगीत शाकुन्तल, (लावनी के ढंग का पद्यबद्ध शकुन्तला नाटक) भारत-दुर्दशा हठीहम्मीर, गोसंकट नाटक, कलि-प्रभाव नाटक, और जुआरी-खुआरी प्रहसन ये इनकी मुख्य रचनाएं हैं।

पंडित बालकृष्ण भट्ट— इनका जन्म इलाहाबाद में सम्वत् १९०१ और मृत्यु सं० १९७१ में हुई। इन्होंने हिन्दी-प्रदीप नाम का एक पत्र निकाला था, जो तीस-बत्तीस वर्ष तक निरन्तर निकलता रहा। इसमें सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक और जीवनोपयोगी लेख प्रकाशित हुआ करते थे। इन के गद्य में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग खूब हुआ है। इनकी भाषा में भी प्रतापनरायण जी की तरह ही पूर्वी शब्दों का प्रयोग प्रायः मिलता है। खड़ी बोली के आदर्श का निर्वाह इन के गद्य में भी नहीं हो पाया है। हाँ, हास्यविनोद के लिखने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। इन के लिखे हुये कितने ही गद्य-प्रबन्ध मिलते हैं। इनकी कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह नाटक, चन्द्रसेन नाटक और पद्मावती तथा शर्मिष्ठा नामक बंग भाषा के दो नाटकों के अनुवाद आदि रचनाएं इन के पत्र में क्रमशः प्रकाशित हुई थीं। संवत् १९४२ में श्री निवासदास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की आलोचना भी इन्हों ने अपने पत्र में प्रकाशित की थी,

जिससे हिन्दी में आलोचना का सर्वप्रथमसूत्रपात करने का श्रेय भी इन्हें ही प्राप्त है।

पंडित बद्रीनारायण चौधरी—इनका जन्म मिर्जापुर में संवत् १९१२ और मृत्यु संवत १९७९ में हुई। ये भारतेन्दु जी के घनिष्ट मित्रों में से थे। इनका रहन-सहन भी उनके समान ही रईसी था। इनकी लेखन-शैली बड़ी वैचित्र्यपूर्ण थी। किसी बात को साधारण ढंग से लिखने को ये कला नहीं मानते थे। इनके लेख अर्थ-गर्भित और सूक्ष्म विचार-पूर्ण होते थे। इन्होंने भारत-सौभाग्य, प्रयाग-रामा-गमन, वारांगना-रहस्य महा नाटक आदि कई रचनायें लिखी हैं। इनके आनन्द कादम्बिनी पत्र में प्रायः इनके अपने ही लेख रहा करते थे। इस पत्रिका में कभी-कभी समाचार तक को भी ये बड़ी रंगीन भाषा में लिखा करते थे। इनकी भाषा में अनुप्रासों की भरमार रहती थी। भट्टजी की तरह हिन्दी में समालोचना का सूत्रपात करने वाले दूसरे व्यक्ति आप ही हैं। संयोगिता स्वयम्बर की विस्तृत समालोचना इन्होंने भी अपने पत्र में प्रकाशित की थी।

लाला श्री निवासदास—इनका जन्म दिल्ली में संवत् १९०८ में और मृत्यु संवत १९४४ में हुई। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में इनका भी विशेष स्थान है। इन्होंने कई नाटक लिखे हैं। प्रह्लाद चरित्र, तप्तासंवरण, रणधीर और प्रेममोहिनी, संयोगिता स्वयम्बर, परीक्षागुरु (उपन्यास) ये

इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। इनकी भाषा संयत और परिमार्जित है। इन्होंने जो कुछ भी लिखा है, उसमें इनका उद्देश्य सदैव ऊँचा रहा है।

ठाकुर जगमोहन सिंह—इनका जन्म संवत् १९१४ में और मृत्यु संवत् १९५६ में हुई, ये विजय राघवगढ़ के राजकुमार थे। इनका भारतेन्दु जी से बड़ी घनिष्ट मैत्रिक सम्बन्ध था। स्वभाव में भी ये उनके ही जैसे थे। इन्हें संस्कृत और अङ्गरेजी साहित्य का अच्छा ज्ञान था। इनकी रचनाओं में हम प्रकृति के विविध भावमय छप्पयों का चित्रण पाते हैं। भूखण्ड की रूपमाधुरी का जैसा प्रेम संस्कार हम इनके हृदय में पाते हैं वैसा हमें इस काल के अन्य लेखकों में नहीं मिलता। इस काल के सभी लेखकों की जितनी पहुँच मानव क्षेत्र में थी, उतनी प्रकृति के क्षेत्र में नहीं, किन्तु इनमें हम मानव और प्रकृति दोनों प्रकार के सौन्दर्य-चित्रण की विशेषता पाते हैं। भारत भूमि की प्यारी रूप रेखा को चित्रित करने वाले सब से पहिले लेखक ये ही हैं। श्यामा-स्वप्न में इन्होंने जिस भारतीय ग्राम्य जीवन और प्राकृतिक छटा का चित्रण किया है, वह देखते ही बनता है। इनकी रचना-शैली में शब्द-विधान की अपेक्षा रूप-विधान की चित्रात्मकता मिलती है, जो इनकी अपनी विशेषता है।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास—इनका जन्म संवत् १९१५ और मृत्यु सम्वत् १९५७ में हुई। ये सनातन धर्म के बड़े

प्रसिद्ध उपदेशक थे। इन्होंने अवतार मीमांसा, बिहारी-विहार (काव्य ग्रन्थ) और गद्य काव्य मीमांसा आदि पुस्तकें लिखी हैं। गो संकट नाटक और ललिता नाटिका ये दो पुस्तकें इन्होंने और लिखी है।

काशीनाथ खत्री—इनका जन्म आगरे में सम्वत् १६०६ में और मृत्यु सम्वत् १६४८ में हुई। इस समय के ये भी अच्छे लेखक थे। नीति कर्त्तव्य-पालन और स्वदेश-हित आदि विषयों पर इन्होंने अच्छी रचनायें की हैं। लेखक की अपेक्षा अनुवादक का कार्य इन्होंने अधिक अच्छा किया है। अंगरेजी की कई पुस्तकों के अनुवाद भी इन्होंने हिन्दी में किये हैं। इनकी मौलिक रचनायें शुद्ध साहित्य-कोटि की नहीं हैं।

राधाकृष्ण दास—इनका जन्म संवत् १६२२ और मृत्यु संवत् १६६४ में हुई। ये भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे। इन्होंने दुखिनी बाला, महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़ कमलिनी, महाराणा प्रताप आदि नाटक और निःसहाय हिन्दू नाम का एक उपन्यास लिखा है तथा स्वर्णलता और मरता क्या न करता नाम के बंगाला के दो उपन्यासों के अनुवाद किये हैं। इनका महाराणा प्रताप नाटक बड़ा लोकप्रिय हुआ है।

फ्रेडरिक पिन्काट—इनका जन्म संवत् १८६२ में इंगलैंड में हुआ था। इन्हें आरम्भ से ही भारतीय साहित्य और संस्कृति से बहुत प्रेम था। इन्हों ने इंगलैंड में ही रहते हुए बड़े परिश्रम से पहिले संस्कृत का अध्ययन किया और फिर वहीं पर हिन्दी और

उर्दू का इतना अभ्यास किया कि इन दोनों भाषाओं में ये अधिकारपूर्ण लेख औरपुस्तकें लिखने लगे। अपनी पर्यवेक्षिणी दृष्टि से इन्हों ने यह अनुभव कर लिया था कि भारत की परम्परागत प्रकृत भाषा हिन्दी ही है। इसलिये ये जीवन भर इसी भाषा की सेवा और हित-साधना में सदा तत्पर रहे। जब ये लंदन में आईन: सौदागरी नाम के व्यापारिक पत्र के सम्पादक हुए तो इस पत्र में इन्होंने कुछ पृष्ठ हिन्दी के लिये भी रक्खे थे। जिस में अधिकतर लेख इनके लिखे हुए ही प्रकाशित हुआ करते थे। भारत के तत्कालीन हिन्दी पत्रों से कुछ उद्धरण भी ये अपने पत्र में छापा करते थे। इस समय के हिन्दी लेखकों से इनका पत्रव्यवहार भी हिन्दी में ही हुआ करता था। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र आदि इस समय का कोई भी ऐसा प्रसिद्ध लेखक नहीं है कि जिसका पत्रव्यवहार पिन्काट साहब से न हुआ हो। यह बड़े हर्ष की बात है कि भारतीय विचार-धारा से प्रेम करने वाले इस महाशय का शरीर ७ फरवरी सन् १८९६ में भारत स्थित लखनऊ नगर की मिट्टी में ही समाया।

इन्होंने बालदीपक और विक्टोरिया-चरित्र नाम की दो पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं। बालदीपक उस समय बिहार के स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। विक्टोरिया-चरित्र १२६ पृष्ठों की पुस्तक है। इनकी दोनों पुस्तकों, विभिन्न लेखों और हिन्दी विद्वानों को लिखे हुए हिन्दी-पत्रों में, हिन्दी भाषा पर इनका

पूर्ण अधिकार लक्षित होता है। इनका गद्य भारतीय लेखकों से किसी दृष्टि से भी कम कोटि का नहीं है। नीचे उद्धृत पंक्तियों में इनकी यह विशेषता देखी जा सकती है—"आपका कृपापत्र मुझको मिला और उससे मुझको परम आनन्द हुआ। आपकी समझ में हिन्दी भाषा का प्रचलित होना उत्तर-पश्चिम-वासियों के लिये सब से भारी बात है। मैं भी सम्पूर्ण रूप से सहमत हूँ कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार सम्बन्धी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसलिये मैंने बार बार हिन्दी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है।" (बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री को लिखे हुए पत्र से)

भारतेन्दु-काल में हिन्दी गद्य साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। अब आवश्यकता हिन्दी के प्रचार की रह गई थी। उस समय अदालती भाषा उर्दू होने के कारण जनता में जितना उत्साह उर्दू सीखने के लिये था, उतना हिन्दी के लिये नहीं। लोगों में हिन्दी सीखने की भावना उत्पन्न करने के लिये हिन्दी के कुछ प्रयत्नशील और उत्साही छात्रों ने संवत् १९५० में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। जिसका एक मात्र श्रेय स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी को ही है। आरम्भ में इन्हीं के त्याग और परिश्रम के बल पर यह संस्था उन्नतिशील हुई, तथा उनकी प्रेरणा से ही हिन्दी के अनेक प्रेमियों ने सहर्ष इस संस्था को अपना सहयोग दिया। इस संस्था का एक कार्य

उद्देश्य नागरी अक्षरों का प्रचार और हिन्दी-साहित्य की श्री वृद्धि रहा है, जिसे यह अब तक निरन्तर करती आ रही है। हिन्दी के अनेक प्राचीन ग्रंथों को प्रकाश में लाकर तथा हिन्दी का एक बृहद् शब्दकोष तैयार करवा कर और इसी प्रकार के अन्य अनेक कार्य करके इस संस्था ने हिन्दी का जो गौरव बढ़ाया है, उसके फलस्वरूप ही हम आज हिन्दी की बहुमुखी उन्नति और उसे राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ देख रहे हैं।

इसी प्रकार की और भी छोटी-मोटी संस्थाओं ने इस काल में हिन्दी प्रचार का आन्दोलन प्रारम्भ किया। अनेक हिन्दी प्रेमियों ने व्यक्तिगत रूप से भी हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान का राग अलापा। इसी काल में सरस्वती जैसी हिन्दी की प्रमुख पत्रिका का श्री गणेश हुआ। इस प्रकार हिन्दी-गद्य-साहित्य में भारतेन्दु काल के लेखकों ने जो सेवा की वह वास्तव में प्रशंसनीय है। गद्य की निरन्तर बढ़ती हुई प्रगति उनकी सत्यनिष्ठा, साधना और तत्परता का पूर्ण परिचय आज भी हमें देती है।

—:o:—

गद्य साहित्य का द्वितीय उत्थान

(१६५० से अब तक)

सामान्य परिचय

गद्य साहित्य के द्वितीय उत्थान में हमें कुछ ऐसे साहित्यिक आभास मिलते हैं, कि जो भारतेन्दु काल में नहीं थे। भारतेन्दु काल के लेखकों के सन्मुख भाषा और साहित्य-निर्माण की समस्याएं अधिक जटिल थीं, जिनकी पूर्ति उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से की कि आगे चलकर अंगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों का ध्यान भी हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ। ऐसे लेखकों ने हिन्दी का मिश्रित प्रयोग अधिक किया, जिससे भाषा में बहुरूपता आने लगी। बंगला और अंगरेजी दोनों ही भाषाओं से कितने ही ग्रंथों के अनुवाद भी इस काल में हुए। इसके अतिरिक्त एक तो अभी तक हमारे गद्य-लेखकों का ध्यान वाक्य-विन्यास, भाषा की सफाई आदि व्याकरण-सम्बन्धी नियमों की ओर गया ही नहीं था। दूसरे हिन्दी का अधूरा ज्ञान रखने वाले इन लेखकों के हिन्दी क्षेत्र में उतरने पर व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूप-हानि और भी अधिक होने लगी। हिन्दी और संस्कृत

का प्रौढ़ ज्ञान रखने वाले कुछ प्रतिभासम्पन्न विद्वानों का ध्यान गद्य-साहित्य की इस दुर्बलता की ओर भी गया। जिनमें स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई की ओर ध्यान देने वाले सर्व-प्रथम व्यक्ति हैं। उन्होंने सरस्वती के सम्पादन द्वारा कितने ही लेखकों की अशुद्धियां निकाल-निकाल कर उनका ध्यान व्याकरण के नियमों की ओर प्रवृत्त किया। इनके प्रयत्नों से खड़ी बोली का जो परिष्कार हुआ, वह हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। खड़ी बोली में अभिव्यंजनाशक्ति, सघन, गुम्फित, सूक्ष्म और गूढ़ विचारों और भावों को व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न हुई, जिससे साहित्य भी दिन पर दिन प्रौढ़ होता गया और कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवन-चरित और समालोचना आदि साहित्य के अनेक गद्य रूपों को लिखने की क्षमता खड़ी बोली में उत्पन्न हुई। तथा गद्य-साहित्य के इन रूपों का महत्त्वपूर्ण विकास हमारे साहित्य में भी पूर्णतः हो गया।

कहानी—कहानी अथवा कथा सुनने सुनाने की रुचि भी मनुष्य में आरम्भ से ही पाई जाती है। प्रत्येक प्रबन्ध रचना में भी कथा का कोई न कोई आधार अवश्य रहता है। किन्तु प्रबन्धात्मक कथा और गद्यबद्ध कहानी में बहुत कुछ अन्तर होता है। कहानी में हम मनुष्य के साधारण लौकिक जीवन

का चित्रण ही अधिक पाते हैं। जबकि प्रबन्धात्मक कथा जीवन का कोई ऊँचा स्वरूप लिये हुए रहती है। कहानी के जिस विकास-क्रम की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, उससे हमारा अभिप्राय कहानी की उस परम्परा से है, जिसका विकसित रूप हमें भारतेन्दु काल से भी बहुत आगे मुन्शी प्रेमचन्दजी के समय में प्राप्त होता है।

हिन्दी में जो पुराने ढंग की कहानियाँ मिलती हैं, उनमें हम कहानी के तत्वों का पूर्ण समावेश नहीं पाते। वैसे हिन्दी की सर्व प्रथम और श्रेष्ठ कहानी इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' कही जा सकती है, किन्तु सम्वत् १९५० से कहानी का विकास जिस रूप में हम पाते हैं, वह एक दम नवीन और अङ्गरेजी कहानियों के से ढँग का है। शुक्ल जी के शब्दों में इन कहानियों में कथोपकथन, घटनाओं का विन्यास, वैचित्र्य, बाह्य और आभ्यन्तर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भावव्यञ्जना आदि बातें तो नाटकों के समान ही रहती हैं इसके साथ ही ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भावव्यञ्जक खण्ड-चित्रों का रूप भी लिए होती हैं। इस प्रकार की कहानियों के लिखने की शैली सबसे पहिले सरस्वती नाम की हिन्दी मासिक पत्रिका में प्रकाशित कहानियों द्वारा लगभग सम्वत् १९५७ में आरम्भ हुई। इस ढंग की सर्व प्रथम मौलिक कहानी किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' है। इसके पश्चात् ११ वर्ष का समय और दुलाईवाली नाम की

कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई। बाद में जितने भी पत्र पत्रिकायें प्रकाशित हुई, उन सब में प्रायः मौलिक कहानियाँ छपती रहीं। आरम्भ में बंगला और अङ्गरेजी की कहानियों के अनुवादित रूप ही हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद ने ग्राम, आकाश-दीप, बिसाती, प्रतिध्वनि और चित्र-मन्दिर आदि कितनी ही कहानियाँ इसी काल में लिखीं। हास्य रस की कहानियाँ भी इसी समय से लिखी जाने लगी थीं। संवत् १९१८ में जी० पी० श्रीवास्तव ने सबसे पहिले हास्य रस की एक कहानी लिखी थी। इसी समय के आस-पास प्रसिद्ध कहानी लेखक पं० विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक ने कहानी लिखना आरंभ किया। इनकी सबसे पहिली कहानी सरस्वती में ही प्रकाशित हुई थी। इनके पीछे राधिकारमण प्रसाद सिंह, पं० ज्वालादत्त शर्मा चतुरसेन शास्त्री, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि कितने ही कहानी-लेखक इस क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। इनके साथ ही संवत् १९७३ में कहानी और उपन्यास सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी में कहानी लिखनी आरम्भ की। जिनके द्वारा कहानी-कला का चरम विकास हुआ। इनके समय में हिन्दी-कहानी और उपन्यास-साहित्य की इतनी श्रीवृद्धि हुई कि हम हिन्दी में उपन्यास और कहानियों की भरमार पाते हैं। मुन्शी प्रेमचन्द जी ने कहानी के क्षेत्र में हिन्दी की जो सेवा की है वह चिरस्मरणीय है। सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहा-

सिक और प्रेमसम्बन्धी सभी प्रकार की कहानियों की रचना-शैली का श्री गणेश और चरम विकास मुन्शी जी की लेखनी के द्वारा हमारे साहित्य में हुआ है। मुन्शी प्रेमचन्द जी के समय तक के समस्त कहानी-लेखकों की विभिन्न प्रकार की कहानियों के आधार पर हम यह निःसन्देह कह सकते हैं कि हमारे लेखकों ने पश्चिम से केवल ढांचा ही प्राप्त किया है। उसमें रंग भरने और स्वरूप देने का कार्य उन्होंने अपने मौलिक ढंग से किया है।

कहानी लिखने की रुचि हमारे हिन्दी-लेखकों में अब तक भी पूर्णतः विद्यमान है। यहाँ तक कि महादेवी वर्मा और पंत जैसे कवियों को भी हम इस धारा में प्रवाहित हुआ पाते हैं, श्री सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, शिवपूजनसहाय, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अज्ञेय आदि कितने ही कहानी-लेखक और कमलादेवी, चन्द्रवती जैन, हेमवती तथा उषा-मित्रा आदि कितनी ही लेखिकाएं इस क्षेत्र में इस समय भी अच्छी प्रगति कर रही हैं। हमारे साहित्य का यह अङ्ग निःसन्देह पुष्ट हो चुका है। हमारे वर्तमान कहानी-लेखक जीवन के विभिन्न अंगों का प्रकाशन कहानी के द्वारा कर रहे हैं। वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों पर भी हमें कितनी ही कहानियाँ हिन्दी में लिखी हुई मिलती हैं। विश्व की राजनीति की जटिलता तक को हमारे लेखकों ने कहानी का रूप दे दिया है। इस क्षेत्र में महामना राहुल सांकृत्यायन जी का नाम

उल्लेखनीय है। कहानी की स्वाभाविक सरलता का सहारा लेकर राहुल जी ने जीवन और अध्यात्म के कितने ही गूढ़ विषयों का प्रकाशन भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इनकी कहानियों में साम्यवाद अथवा प्रगतिशील-साहित्य की ध्वनि भी पूर्णतः झंकृत होती है।

उपन्यास

उपन्यास-कला का सूत्रपात भी हिन्दी में भारतेन्दु काल में ही हुआ था। आरम्भ में मौलिक उपन्यास न लिखे जाकर बंगला और अंगरेजी के अनुवादों का प्रचार ही हिन्दी में अधिकतर रहा। सर्वप्रथम उपन्यास अनुवादकों में गदाधर सिंह, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इन तीनों लेखकों की भाषा बहुत ही सरल और संयत थी। उपन्यासों की सी भाषा का सा चटपटापन उसमें नहीं था। आगे चलकर बाबू गोपालराम (गहमर) ने बंगला के कई उपन्यासों के अनुवाद किये। इनकी भाषा चटपटी और वक्रतापूर्ण है। इनकी लेखन-शैली भी बहुत मनोरंजक है। गाजीपुरनिवासी मुन्शी उदितनारायण लाल ने भी कई उपन्यासों के अनुवाद किये हैं। हिन्दी में मौलिक उपन्यासों के लिखे जाने से पूर्व बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र, शरत्‌बाबू और रवीन्द्र बाबू आदि प्रसिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके थे। जिससे हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों को बड़ा सहारा मिला। बंगला के

अतिरिक्त उर्दू, मराठी, गुजराती और अंगरेजी के भी कई उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके थे। ये अनुवादित उपन्यास सामाजिक, गार्हस्थिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक और प्रेममूलक आदि सभी विषयों के थे। जिनके आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि हमारे मौलिक उपन्यास लेखकों को उपन्यास-कला की प्रसाधना के लिये इनमें से पर्याप्त सामग्री सहायता प्राप्त हुई।

हिन्दी के सर्वप्रथम उपन्यासलेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री सम्वत् १८६१ में हुए। इनकी चन्द्रकान्ता संतति नाम के अय्यारी के उपन्यासों की धूम हिन्दी में बहुत समय तक रही। इन उपन्यासों में कोरा घटना-वैचित्र्य रहता था। रस-संचार, भाव-विभूति और चरित्र-चित्रण आदि तत्वों का समावेश इनमें नहीं था। ये कोरे घटनाप्रधान किस्से हैं। जीवन के किसी भी पक्ष का चित्रांकन इनमें नहीं रहता था। इसलिये ये साहित्यिक उपन्यासों की कोटि में नहीं आते। देवकीनन्दन का प्रभाव हमारे प्रारम्भिक उपन्यासकारों पर इतना अधिक पड़ा कि हिन्दी में बहुत दिनों तक तिलस्मी और अय्यारी के उपन्यास ही लिखे जाते रहे। देवकीनन्दन जी की भाषा एक दम हिन्दुस्तानी होती थी। जिसके पढ़ने और समझने वालों की संख्या उन दिनों हिन्दी में बहुत अधिक थी। इसलिये ऐसे उपन्यासों के पढ़ने का शौक पाठकों में निरन्तर बढ़ता गया।

साहित्य-कोटि के मौलिक उपन्यासकारों में सर्वप्रथम नाम पंडित किशोरी लाल गोस्वामी का आता है। इनका जन्म-संवत् १६२२ और मृत्यु-संवत् १६८६ है। इन्होंने समाज के सजीव चित्र, वासनाओं के रूप रंग, चरित्र-चित्रण और मनोमुग्धकारी वर्णन अच्छे किये हैं। इन्होंने उपन्यास नाम का एक मासिक पत्र भी संवत् १६५५ में प्रकाशित किया था। इन्होंने लगभग ६५ उपन्यास लिखे हैं। इनके उपन्यासों में उच्च कोटि की वासनाएँ व्यक्त करने वाले दृश्य बहुत कम हैं। अधिकता निम्न कोटि की वासनाएं उत्पन्न करने वाले दृश्यों की है। इनकी भाषा आरम्भ में शुद्ध हिन्दी थी, किन्तु बाद में ये उर्दू-ए-मुअल्ला के शौकीन हो गए थे। जिससे इनके अन्तिम उपन्यास साहित्य की कोटि से कुछ गिर गये हैं। इनके प्रसिद्ध उपन्यास तारा, चपला, रजिया बेगम, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी और लीलावती आदि हैं। इनके बाद स्वर्गीय महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल नाम के दो उपन्यास लिखे। किन्तु इनके उपन्यास जितना भाषा का नमूना उपस्थित करते हैं, उतना औपन्यासिक कौशल नहीं। पंडित लज्जाराम मेहता के हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, बिगड़ी का सुधार और आदर्श हिन्दू आदि उपन्यास भी संवत् १६७२ से पूर्व की रचनाओं के अन्तर्गत आते हैं। इस काल तक के उपन्यासों में हमें उच्चकोटि की उपन्यास कला के दर्शन नहीं होते। बाबू

लेखकों की कहानियों में नहीं पाते। नवनिधि, प्रेम द्वादशी, प्रेम-पचीसी और मानसरोवर आदि इनकी कहानियों के प्रसिद्ध संग्रह हैं।

इनकी भाषा चलती हुई मुहावरेदार हिन्दी है जिसमें हम उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी यथास्थानों पर पाते हैं। इनकी भाषा में माधुर्य, प्रवाह और जोश आदि गुण पूर्णतः मिलते हैं। भाषा प्रयोग में इन्होंने पात्रों का ध्यान प्रायः रक्खा है। इनका मुसलमान पात्र जिस प्रकार उर्दू मिश्रित भाषा बोलता है, उसी प्रकार हिन्दू विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग करता है और ग्रामीण पात्र ग्रामीण बोली का सहारा लेता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भाषा, उपन्यास कला और साहित्य-सम्बन्धी सभी विशेषताएं हमें प्रेमचन्द जी में मिलती हैं।

जयशंकर प्रसाद—इन्होंने कंकाल और तितली नाम के दो उपन्यास लिखे हैं। कंकाल में इन्होंने आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का चित्रण अधिक किया है। इसमें इन्होंने मानवीय दुर्बलताओं का स्पष्ट वर्णन किया है। जीवन का केवल हेय पक्ष ही रहने से इस उपन्यास में यह कमी रह गई है कि पाठकों का ध्यान जीवन की दुर्बलताओं के अध्ययन से ऊब उठता है, जीवन के प्रति उनमें कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं होता। किंतु इनका 'तितली' उपन्यास-कला की समस्त विशेषताओं से पूर्ण है। इस में जीवन के उन अंगों का प्रकाशन हुआ है जो सब

साधारण को आकर्षित करते हैं। ग्राम्य समस्याओं पर भी इन्होंने इसमें अच्छा प्रकाश डाला है।

कहानी की दृष्टि से भी प्रसाद जी ने हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त सेवा की है। इनकी कहानियों में भावों की प्रधानता रहती है। इनका कवि-हृदय हमें इनकी कहानियों में भी देखने को मिलता है। इन्होंने राजनैतिक, ऐतिहासिक और प्रेम-मूलक आदि सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। भारतीय इतिहास का बौद्ध-काल, मुगल काल और पठान काल इनकी ऐतिहासिक कहानियों में सजीव हो उठा है। इनकी सभी कहानियां वातावरण का अनुपम चित्रण उपस्थित करती हैं। आँधी, आकाश-दीप, प्रतिध्वनि और इन्द्रजाल, इनकी कहानियों के प्रसिद्ध संग्रह हैं।

इनकी भाषा संस्कृतमिश्रित शुद्ध हिन्दी है। भाषा का चमत्कार, नाटकीयपन और भाव व्यंजना इनकी भाषासंबन्धी विशेषतायें हैं। भाषा को इन्होंने पात्रों के अनुकूल नहीं बदला बल्कि इनके सब पात्र एक सी भाषा बोलते हैं।

पण्डित विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक—ये उपन्यास और कहानी-लेखक दोनों ही रूपों में हिन्दी के परम सेवक हैं। इनके प्रसिद्ध उपन्यास भिखारिणी और माँ हैं। मणिमाला और चित्रशाला इनके कहानीसंग्रह हैं। इनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। जिनमें शहरी-जीवन का चित्र खींचने में

इन्हें अच्छी सफलता मिली है। मनुष्य की मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण करने में भी ये खूब सफल हुए हैं। वैसे उपन्यास की अपेक्षा कहानी लिखने की क्षमता इनमें अधिक है।

वृन्दावन लाल वर्मा—इन्होंने गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, कुण्डली चक्र और कभी न कभी नाम के कई उपन्यास लिखे हैं। इनके उपन्यासों में इतिहास, राजनीति और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। मजदूरों के जीवन की झांकी भी अपने कभी न कभी उपन्यास में इन्होंने बड़ी स्वाभाविक खींची है।

मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव—इन्होंने विदा, विकास और विजय नाम के तीन उपन्यास लिखे हैं। जिनमें शहरी उच्च वर्ग के जीवन का चित्र खींचने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। इनके उपन्यासों में खल नायक और नायिकाओं के जीवन की धूर्तता का अच्छा उद्घाटन हुआ है। कुछ विदेशी रमणियों का चित्र भी इन्होंने अपने उपन्यासों में उतारा है, जिनमें दुष्टा और साध्वी दोनों ही प्रकार की स्त्रियाँ हैं। कुछ कहानियाँ भी इन्होंने लिखी हैं।

चण्डी प्रसाद हृदयेश—ये भी उपन्यास और कहानी-लेखक, दोनों ही रूप में प्रसिद्ध हैं। मंगल-प्रभात और मनोरमा इनके उपन्यास हैं। नन्दन-निकुञ्ज और वनमाला ये दो

कहानी संग्रह हैं। इनकी लेखन-शैली गद्य-काव्य की सी है। इनकी भाषा बिल्कुल काव्यमयी है।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र—इन्होंने चन्द हसीनों के खतूत, दिल्ली का दलाल और बुधुवा की बेटी नाम के उपन्यास लिखे हैं। दोज़ख की आग और इन्द्रधनुष इनकी कहानियों के संग्रह हैं। इनकी कहानियों में राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण की अच्छी विशेषता मिलती है। इनकी भाषा बड़ी ज़ोरदार और चटपटी है। अपनी कुछ कहानियों में इन्होंने समाज और मानव की दुर्बलताओं का नग्न चित्र भी खींचा है। लेखनशैली का चुभतापन इनकी विशेषता है।

चतुर सेन शास्त्री—इन्होंने हृदय की प्यास, हृदय की परख, अमर अभिलाषा और आत्मदाह नाम के कई उपन्यास लिखे हैं। अक्षत, रजकण और सिंहगढ़-विजय आदि इनकी कहानियों के संग्रह हैं। इनमें शृङ्गारिकता अधिक है। अपनी सामाजिक रचनाओं में कहीं-कहीं पर इन्होंने प्रेम के कुरुचि-पूर्ण चित्र भी खींचे हैं। इनकी भाषा और वर्णन-शैली बड़े आकर्षक ढंग की और स्वाभाविक है। इनकी ऐतिहासिक कहानियाँ अधिक ज़ोरदार हैं।

जैनेन्द्र कुमार—इन्होंने परख, सुनीता, त्याग पत्र और कल्याणी नाम के कई उपन्यास लिखे हैं। वातायन; एक रात, दो चिड़ियाँ और नीलम देश की राजकन्या आदि इनकी

कहानियों के संग्रह हैं। इनके उपन्यासों में समाज के प्रति विद्रोह की भावना का स्वर अधिक ऊँचा है। स्त्रियों के प्रति इनका दृष्टिकोण नवीन ढंग का है। इनकी कहानियों में मनोवैज्ञानिकता, करुणा और भावुकता का चित्रण अधिक रहता है। इनकी भाषा चलती हुई हिन्दी है। यथास्थान उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी ये करते हैं। कहीं-कहीं पर प्रवाह में बह कर शब्दों को आगे पीछे रखने का भी इन्हें शौक है।

उपर्युक्त उपन्यास-लेखकों के अतिरिक्त श्री सुदर्शन, निराला, सियाराम शरण गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती-चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेई आदि लेखक भी इसी क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। इनमें से वर्मा जी और वाजपेई जी तो हिन्दी जगत् को कितने ही उपन्यास दे चुके हैं। वर्मा जी के चित्रलेखा, गिरती दीवारें और वाजपेई जी की दो बहिनें और निमन्त्रण ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। कहानी क्षेत्र में भी इन लेखकों ने उल्लेखनीय कार्य किया है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लेखक उपन्यास लिखने में लगे हुए हैं। कवियों तक का झुकाव इस कला की ओर हो जाना इस बात का प्रमाण है कि उपन्यासों ने हिन्दी जनता को बहुत ही आकृष्ट किया है। हर्ष का विषय यह है कि हिन्दी में यह कला मनोरंजन की निम्न श्रेणी में ही पड़ी हुई न रहकर साहित्य के चरम विकास पर पहुँची है। आज हमें साहित्यिक कोटि के उच्च से उच्च विषयों पर उपन्यास लिखे हुए मिलते

हैं तथा इनसे भी कहीं अधिक उन्नति कहानी-कला ने की है। हमारे साहित्य की कुछ कहानियाँ तो हमें बिल्कुल काव्य-लोक में घुमाती-फिराती हैं। उनको पढ़कर समय हम कविता का भी ही नहीं अपितु उससे भी कहीं अधिक सरस, मादक, अद्भुत और सजीव आनन्द पाते हैं। यही कारण है कि कहानियाँ, उपन्यास, नाटक और काव्य से कहीं अधिक लिखी जा रही हैं। किन्तु ध्यान रहे, ऐसे कहानी-लेखकों की भी हमारे यहाँ कमी नहीं है कि जो इस कला का निकृष्ट रूप ही पसन्द करते हैं।

नाटक

नाटकीय परम्परा का आरंभ भी हिन्दी में भारतेन्दु जी के समय से ही होता है। हिन्दी की जननी संस्कृत भाषा में यद्यपि नाटकों का महान् भण्डार था, तथापि हिन्दी में सफल नाटकों की रचनाएँ काव्यधारा के तीन काल समाप्त होजाने पर ही हुईं। इससे पूर्व हिन्दी में नाटक न लिखे जाने के कई कारण रहे। सबसे बड़ा कारण गद्य का अभाव था। इसके अतिरिक्त हिन्दी के उदयकाल में ही भारत में मुस्लिम सत्ता स्थापित हो गई थी। जो नाटक को धर्म के विरुद्ध समझती थी। नाटक मनोरंजन की वस्तु है। जिसके लिये लौकिक उत्साहमय जीवन का होना आवश्यक है। क्योंकि नाटक का सम्बन्ध भौतिक जीवन और जगत से अधिक है। उससे मिलनेवाला आनन्द भी

लौकिक है-जिस लोकोत्तर आनन्द की खोज में हमारा भारतीय समाज प्रायः अग्रसर रहा है, उसकी पूर्ति नाटक से नहीं हो पाती। इस प्रकार का दृष्टिकोण नाटकों के विषय में भारतीय लोगों का प्राय: रहा है, जिसके फलस्वरूप यह कला सदैव पतित नर-नारियों के हाथ की ही वस्तु रही है। उच्च आचरण, जाति और विचारों के व्यक्तियों ने विशेषकर धर्म-प्राण लोगों ने इस कला से प्रायः घृणा ही की है। जिससे हिन्दी में इस कला के समुचित रूप से विकसित होने में अनेक बाधाएँ उपस्थित रही हैं।

किन्तु अङ्गरेजों के भारत में आ जाने पर हमारे देशवासियों में एक नवीन उत्साह का संचार होता है तथा भौतिक जीवन से सम्बन्धित मनोरंजन के प्रति उनमें आकर्षण की भावना उत्पन्न होती है। इसके साथ ही गद्य का भी निर्माण होता है। इतिहास, समाज और राजनीति आदि विषयों की ओर हमारे जनसमुदाय का ध्यान आकर्षित होता है। उनमें जीवन के नाटकीय रूप को देखने की लालसा जागती है। जिसके परिणामस्वरूप हम हिंदी नाट्य-कला का उदय, चरम विकास और मंगलकारी प्रभाव केवल ५०-१०० वर्ष के साहित्य में देखते हैं।

भारतेन्दु से पूर्व के नाटकों में कविवर देव का देव-माया-प्रपंच, ब्रजवासी दास का प्रबोध चन्द्रोदय, बनारसी दास का

समय-सार, हृदयराम का हनुमन्नाटक और भारतेन्दु जी के पिता गिरधर दास जी का नहुष नाटक उल्लेखनीय है। इन सबमें नहुष नाटक में ही हमें नाटकीय तत्व मिलते हैं। अन्य नाटक कथोपकथन रूप में पद्य-बद्ध काव्य का ही रूप है। हिंदी का सबसे पहिला मौलिक नाटक नहुष ही माना जाता है। अनुवादित नाटकों में सर्वप्रथम नाटक राजा लक्ष्मण सिंह का शकुन्तला नाटक है। वैसे हिंदी नाटकों के वास्तविक जन्मदाता भारतेन्दु जी हैं। इनके समय से ही हिन्दी नाट्यकला का शृङ्खलाबद्ध रूप आरम्भ होता है। इनके समकालीन नाटक-लेखकों और इनकी नाट्यकला सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख हम गद्य साहित्य के द्वितीय उत्थान में ३२४ पृष्ठ पर कर आये हैं।

भारतेन्दु के समय तक हिन्दी नाट्यकला पर संस्कृत-नाट्य कला का प्रभाव प्रायः अधिक रहता है। किन्तु ज्यों-ज्यों हमारे नाटकों का विकास होता है, हम हिन्दी नाट्यकला को पश्चिमी ढंग के नवीन रूप में विकसित हुआ देखते हैं। नान्दी पाठ, कथोपकथन में पद्यों की अधिकता, भरत वाक्य, दैवी भावना का लोप होकर राक्षस और गंधर्व आदि पात्रों की कमी और मानवजीवन का चित्रण आदि-आदि विशेषताएँ हमारे नाटकों में उत्पन्न हो जाती हैं। तथा हम उतनी ही प्रौढ़ नाट्य-रचनायें हिन्दी में भी देखते हैं, जितनी कि हमें संस्कृत अथवा संसार की अन्य भाषाओं में मिलती हैं।

साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ हिन्दी में धार्मिक दृष्टि-कोण को लेकर कुछ ऐसे नाटक भी लिखे गये हैं, जिनमें रंग-मंच की उपयुक्तता तो पर्याप्त मिलती है, किन्तु साहित्यिकता का उनमें अभाव है। ऐसे नाटकों में कथावाचक पं० राधेश्याम जी के कृष्णावतार, रुक्मणी-मंगल, वीर अभिमन्यु तथा नारायण प्रसाद 'बेताब' के रामायण और महाभारत नाम के नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं। जैरामदास गुप्ता और हरिकृष्ण जौहर के सामाजिक नाटक भी इसी श्रेणी के हैं। इन नाटकों से हिन्दी भाषा को जन साधारण तक पहुँचने में पर्याप्त सहायता मिली है। इसके साथ ही जिस भारतीय रंगमंच पर पारसी थियेटर कम्पनियों के कारण केवल उर्दू का ही बोल-बाला था, वहाँ हिन्दी ने भी अपना स्थान बना लिया। इसके अतिरिक्त कोई अन्य साहित्यिक बल इस प्रकार के नाटकों से हिन्दी भाषा को प्राप्त नहीं हुआ।

हिन्दी में प्रौढ़ साहित्यिक नाटकों का युग स्वर्गीय बाबू जयशंकर प्रसाद के समय में आता है। इन्होंने अजात शत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना और विशाख आदि कई नाटक लिखे हैं। प्रसाद जी के अधिकतर नाटक ऐतिहासिक हैं। इन्होंने बौद्धकालीन भारत को अपने नाटकों में सजीव रूप दिया है। भारतीय संस्कृति, नैतिकता और सभ्यता का चित्र खींचने में ये अत्यन्त सफल हुए हैं। मनोवैज्ञानिक आधार पर चरित्र-चित्रण करने में भी इन्हें

अत्यन्त सफलता मिली है। स्त्री-जाति के प्रति इनका दृष्टिकोण बहुत ऊँचा रहा है। इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर खड़े हुए होने पर भी वर्तमान जगत् के आदर्शों और भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। इनके कथोपकथन सरल नाटकीय ढंग के न होकर पूर्णतः साहित्यिक हैं, जिसके कारण रंगमंच की उपयोगिता न होने का दोष इनके नाटकों को दिया जाता है। किन्तु हमारी दृष्टि में यह प्रसाद जी के प्रति अन्याय है। रंगमंच की उपयोगिता निःसन्देह नाटक की कसौटी है, किन्तु जहाँ रंगमंच का समुचित निर्माण ही न हो पाया हो, वहाँ हम किस आधार पर प्रसाद जी को यह दोष दे सकते हैं। कहीं२ पर उनके कथोपकथन वास्तव में गद्य-काव्य का सा वातावरण उपस्थित करते हैं, किन्तु संस्कृत के पद्य-बद्ध कथोपकथन की अपेक्षा उनमें फिर भी कहीं अधिक स्वाभाविकता है। प्रसाद जी के कथोपकथन के विषय में शुक्ल जी के निम्न विचार हैं जो उन्होंने प्रसिद्ध नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी के कथोपकथनों से तुलना करते हुये व्यक्त किये हैं—नाटकों का प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलम्बित है। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त है। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय-ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म-व्यंजक अनूठापन भी। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करने वाले कई

पाए जाते हैं। 'प्रेमी' जी के नाटकों में यह खटकने वाली बात नहीं मिलती।

कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी नाट्यकला को साहित्यिक रूप देने का प्रशंसनीय कार्य प्रसाद जी ने ही किया है। उनके नाटकों में रङ्गमञ्च की उपयोगिता नहीं है, वह इसलिए कि वे नाटक को रंगमंच के लिए न मानकर रंगमंच को नाटक के लिए मानते थे। अभिप्राय यह कि उनकी दृष्टि में रंगमंच साध्य न होकर साधन मात्र था। जो किसी अंश तक है भी ठीक। रंगमंच को साध्य मानने से नाट्यकला का स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी के समय में ही नहीं, अपितु अब तक भी हिन्दी का कोई ऐसा रंगमंच नहीं है कि जिस पर उच्चकोटि के नाटकों का अभिनय किया जा सके। प्रसाद जी के नाटकों में यह त्रुटि तो अवश्य कही जा सकती है कि वे सर्वसाधारण की वस्तु न होकर शिक्षित समुदाय की वस्तु हैं, किन्तु यह कोई दोष नहीं है।

हरिकृष्ण प्रेमी—इन्होंने शिव-साधना, रक्षाबन्धन, विषपान, मित्र, प्रतिशोध, स्वप्नभंग, आहुति, मन्दिर और बन्धन आदि कई नाटक लिखे हैं। इन्होंने अपने नाटकों में भारतीय इतिहास के मुस्लिम-काल को सजीव रूप दिया है। इनमें नाट्यकला सम्बन्धी सभी विशेषतायें मिलती हैं। न तो इनके नाट्य बिलकुल साहित्यिक हैं और न रंगमंचीय कोटि के साधारण। इनकी भाषा पात्रों के अनुकूल चलती है। मुसलमान

पात्र से ये उर्दू के शब्द ही अधिक बुलवाते हैं। इनके रक्षा-बन्धन नाटक ने बड़ी ख्याति प्राप्त की है। इसमें इन्होंने मेवाड़ की महारानी कर्मवती के द्वारा हुमायूं को राखी भिजवाकर तथा हुमायूं के द्वारा बहादुरशाह के विरुद्ध कर्मवती की सहायता की ऐतिहासिक घटना का चित्रण करके हिन्दू-मुस्लिम एकता का बड़ा ही सुन्दर दृश्य उपस्थित किया है।

उदय शंकर भट्ट—इन्होंने अम्बा, मंगरविजय, मत्स्य-गंधा, विश्वामित्र, दाहर, कमला, राधा और अन्तहीन अन्त, विक्रमादित्य आदि कई नाटक लिखे हैं। इन्होंने अपने नाटकों में पौराणिक युग की झांकियाँ अधिक अङ्कित की हैं। इसके साथ ही इतिहास और वर्तमान समाज से भी कुछ कथानक लेकर इन्होंने कई सफल नाटक लिखे हैं। इनकी नाट्य-कला पर्याप्त परिमार्जित और व्यवस्थित है। प्रसाद जी के पश्चात् इन्होंने उनके द्वारा निर्मित नाटकीय धारा को बड़ी सावधानी और कुशलता से अग्रसर किया है।

श्री सुदर्शन—इन्होंने अंजना, ऑनरेरी मजिस्ट्रेट (प्रहसन) और भाग्यचक्र नाम के कई नाटक लिखे हैं। भाग्यचक्र में इन्होंने प्रेम और वैराग्य का संघर्ष दिखलाया है तथा अञ्जना में हनूमान् जी की माता अञ्जना की पति-भक्ति और साधना का अद्भुत चित्र खींचा है।

सेठ गोविन्द दास—इन्होंने, कर्त्तव्य, हर्ष, प्रकाश और सेवा-पथ आदि नाटक लिखे हैं। इनके नाटक में राजनीति का स्वर अधिक ऊँचा रहता है।

लक्ष्मी नारायण मिश्र—इन्होंने सिन्दूर की होली, संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, आधी रात आदि समस्या-मूलक नाटक लिखे हैं। वर्तमान समाज की नारी, प्रेम, जाति आदि अनेक समस्याओं को इन्होंने सुन्दर नाटकीय रूप दिया है। इन्होंने मानव-प्रकृति के स्वाभाविक रूप को यथा-तथ्य चित्रित करने का प्रयास पश्चिमी ढंग से बड़ी ही निपुणता के साथ किया है।

उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त बद्रीनाथ भट्ट, माखन-लाल चतुर्वेदी, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती प्रसाद बाजपेयी, कैलाशनाथ भटनागर, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि आदि के नाम भी नाटक-क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भी हिन्दी-साहित्य को कितने ही नाटक दिये हैं। जिनमें ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक, प्रेममूलक, समस्यामूलक और भावनाट्य आदि सभी श्रेणियों के नाटक इन महानुभावों ने लिखे हैं। बलदेव शास्त्री, सत्य जीवन वर्मा, ब्रजजीवन दास आदि लेखकों ने संस्कृत के नाटकों के सुन्दर अनुवाद भी किये हैं। पश्चिमी भाषाओं से भी कई नाटकों के अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। हिन्दी के मौलिक और अनुवादित समस्त नाटक-साहित्य पर विचार कर हम यह निःसन्देह कह सकते हैं कि नाटक-क्षेत्र

में हमारे लेखकों ने पर्याप्त उन्नति की है। बंगला, गुजराती, मराठी और अंगरेजी आदि भाषाओं के नाटकों के अनुवादों से हमारे साहित्य की श्री वृद्धि तो अवश्य हुई है, किन्तु कोई गहरा कलात्मक प्रभाव हमारे नाटक-साहित्य पर इन अनुवादों का नहीं पड़ा। हमारे नाटकों का विकास अपने मौलिक रूप में हुआ है। विदेशी विचारधारा का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है, किन्तु उसका ढाँचा मूलतः भारतीय रहा है।

एकांकी

एकांकी से अभिप्राय एक अङ्क वाले ऐसे नाटकों से है कि जिनमें घटनाओं और पात्रों के चरित्रों की सम्पूर्णता आदि सभी [नाटकीय तत्व थोड़े से आकार में ही रहते हैं। इनमें कथा तो उतनी ही लम्बी ली जाती है, जितना कि किसी नाटक का एक अङ्क हो सकता है, किन्तु एकांकी की कथा अपने में पूर्ण होती है। इस प्रकार के नाटक संस्कृत में भी लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में उल्लिखित भाण, व्यायोग अङ्क और प्रहसन आदि में भी एक अङ्क ही रहता है। किन्तु संस्कृत में एकांकी नाटकों का वर्गीकरण शास्त्रीय ढंग पर हुआ है, उनमें पात्र, रस, दृश्य और कथावस्तु आदि सब कुछ नाटक के समान ही रहते हैं। हिन्दी में भी एकांकी नाटकों का विकास इन्हीं तत्वों को लेकर हुआ है। भारतेन्दु-काल के लेखकों ने कई अच्छे प्रहसन लिखे हैं, जो एकांकी का ही विषय हैं। किन्तु इन लेखकों ने समाज-सुधार संबन्धी—बाल-विवाह, विधवा-

विवाह, वृद्ध-विवाह, अन्ध-भक्ति-भावना विदेशी सभ्यता और व्यभिचारी प्रवृत्ति आदि विषयों को ही अपने एकांकियों का विषय चुना है। जिनमें इनकी सुधारात्मक प्रवृत्ति के कारण एकांकी की कला निखर नहीं सकी इनका उद्देश्य कथोपकथन के रूप में कुरूपता और सुन्दरता का चित्रण अथवा किसी बात का बुरा परिणाम दिखाकर अच्छाई की ओर बढ़ने की प्रेरणा देना मात्र ही रहा है। इस काल तक के हिन्दी एकांकियों का यह रूप प्रहसन अथवा व्यंग्य की श्रेणी तक ही सीमित है। अन्य गम्भीर नाटकीय विषयों का एकांकी रूप-चित्रण इस काल के लेखक नहीं कर सके।

प्रसाद-युग में आकर हिन्दी एकांकी-कला हमें एक गम्भीर रूप में मिलती है। उनके 'एकघूँट' नाम के एकांकी में हमें एकांकी का यह रूप कार्य और व्यापार की एकता के साथ एक ही स्थान पर किसी गम्भीर समस्या पर विचार करता हुआ सा मिलता, है किन्तु एकांकी के इस रूपको हम हिन्दी में आगे विकसित हुआ नहीं पाते। १९३५ में हमारे यहाँ यह कला बहुत कुछ समस्या-मूलक रूप ले लेती है। इस काल में हमारा राजनैतिक, सामाजिक जीवन बुद्धिवाद से अधिक प्रभावित होता है, अनेक समस्यायें हमारे सामने उपस्थित होती हैं और हमारा दृष्टिकोण बहुत कुछ पश्चिमी होजाता है। जिसके कारण स्वभावतः हमारे साहित्य की नवोदित शैलियों पर भी अङ्गरेजी-साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ता है। उसीमें हम एकांकी की कला को भी रंगा हुआ

पाते हैं। इस काल में भुवनेश्वर प्रसाद ने कुछ एकांकी लिख कर स्त्री पुरुष सम्बन्धी कई समस्यायों का उद्घाटन किया। इनकी एकांकी-कला पर हम पश्चिमी विद्वान बर्नर्डशा के एकांकियों का बहुत कुछ प्रभाव पाते हैं। उधर रामकुमार-वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्द दास आदि के एकांकियों पर भी अङ्गरेजी का यह प्रभाव बहुत कुछ लक्षित होता है। किंतु १९४१ से इस कला का विकास एक नवीन ढंग से अपने मौलिक रूप में हो रहा है। उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्र-नाथ अश्क, रामकुमार वर्मा और लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि लेखकों ने कई सफल एकांकी लिखे हैं। जो विभिन्न संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं।

इस काल में एकांकी की इस कला को हम नाटक की तरह से ही अनेक गम्भीर रूपों में विचरण करता हुआ पाते हैं। अब इतिहास, पुराण, राजनीति, समाज-शास्त्र और प्रेम आदि अनेक विषयों पर हमें हिन्दी में उच्च कोटि के सफल एकांकी लिखे हुए मिलते हैं। निस्सन्देह एकांकी, नाटक की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय बनते जा रहे हैं। क्योंकि एकांकी का आनंद पाठक थोड़े ही समय में रंग-मंच की सहायता के बिना ही पूर्णतया प्राप्त कर लेता है। उधर सिनेमा और रेडियो आदि के कारण भी एकांकी का ही प्रचार अधिक बढ़ता जा रहा है। नाटक लिखे अवश्य जा रहे हैं, किंतु उनका क्षेत्र साहित्य की आकार-वृद्धि तक ही सीमित रह गया है। जिसका बहुत कुछ

कारण हिन्दी में रंगमंच की समुचित व्यवस्था का न होना ही कहा जा सकता है।

निबन्ध

गद्य के विकास के साथ साथ भारतेन्दु काल में ही निबंधों का लिखा जाना भी हिन्दी में आरम्भ होता है। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों ने सामाजिक विषयों पर अच्छे चटपटे निबन्ध लिखे हैं। होली, विजयादशमी और दीपावलि आदि पर्वों पर इन लेखकों ने वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के अच्छे निबंध लिखे हैं। किन्तु फिर भी निबंधों का परिमार्जित रूप हमें इस काल के लेखकों में नहीं मिलता। इसका बहुत कुछ कारण उस काल तक खड़ी बोली का परिमार्जित और व्यवस्थित न होना भी है। खड़ी बोली को शुद्ध साहित्यिक रूप आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा मिलता है। द्विवेदी जी ने सन १९०३ में सरस्वती का सम्पादन-भार संभाला था। इस पत्रिका में खड़ी-बोली के अच्छे निबन्ध प्रकाशित हुआ करते थे। जिनके भाषा संस्कार और शैली-संशोधन का कार्य द्विवेदी जी बड़ी गम्भीरता के साथ किया करते थे। इस समय अंगरेजी के निबन्धों के कुछ अनुवाद भी हिन्दी में प्रकाशित हुए। स्वयं द्विवेदी जी ने अंगरेजी के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के नाम से प्रकाशित किया था। इसके साथ ही साहित्य-सीकर और रसज्ञ-रंजन नाम से द्विवेदीजी के मौलिक

लेखों के संग्रह भी इसी समय प्रकाशित हुए थे। द्विवेदी जी के निबन्ध विचारात्मक श्रेणी के हैं। इनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से ओत-प्रोत रहती थी। सरस्वती में प्रकाशित द्विवेदी जी के और भी कितने ही लेखों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जिनके आधार पर हम उन्हें खड़ी बोली का प्रौढ़ निबन्ध-लेखक कह सकते हैं। निःसन्देह भारतेन्दु-काल में ही खड़ी बोली में आलोचनात्मक और विचारात्मक शैली के लेखों का श्रीगणेश हो गया था, किन्तु फिर भी इस शैली के निबन्धों का सुगठित रूप हमें द्विवेदी-काल में ही आकर प्राप्त होता है। इस काल में निबंध क्षेत्र में कितने ही लेखकों का प्रादुर्भाव होता है। जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है—

माधोप्रसाद मिश्र—इनका समय सम्वत् १९२८ से १९६४ तक रहा है। ये सुदर्शन पत्र के सम्पादक थे। इनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक और धारावाहक शैली में बड़े मार्मिक और ओजस्वी हुआ करते थे। भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। इनके निबन्धों में देश-भक्ति की भावना भी बहुत रहती थी।

गोपालराम गहमरी—उपन्यास के साथ-साथ इन्होंने निबन्धों की ओर भी हाथ बढ़ाया है। इनकी शैली बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक होती थी। शब्द-चित्र खींचने में ये सिद्धहस्त थे। विलक्षणता और कौतूहल चित्रण करने में इन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई है।

पं० गोविन्दराम मिश्र—इनके निबन्ध भी बड़े पाण्डित्य-पूर्ण होते थे। साधारण से साधारण विषयों को उच्चकोटि की भाषा में लिखने में इन्हें आनन्द मिलता था। इन्होंने हिन्दी में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् बाण और दण्डी के गद्य का आदर्श उपस्थित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इनका समय सम्वत् १६४१ से १६६८ तक रहा है। स्वर्गीय शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में मार्ग-दर्शन का कार्य किया है। प्रेम, घृणा और कविता आदि विषयों पर इन्होंने अत्यन्त सफल और विचारपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। विचारवीथी, चिन्तामणि आदि इनके निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन्हें आलोचनात्मक, विचारात्मक शैली के निबन्ध लिखने में पूर्ण सफलता मिली है। इनकी शैली जितनी गम्भीर, शृङ्खलाबद्ध, तर्क-पूर्ण, भावमयी और चित्र-प्रधान है, उतनी ही हम उसमें यथास्थान गम्भीर हास्य की क्षीण आभा भी पाते हैं। निबन्ध-लेखन में इन्होंने विचारात्मक लेखों को ही निबन्ध-कला का उत्कृष्ट रूप माना है। इनकी विशेषता यह है कि अपने गूढ़ से गूढ़ विचारात्मक लेखों को भी ये कहीं जीवन के उदाहरण देकर और कहीं गम्भीर चुट-कियाँ लेकर स्वाभाविक शुष्कता से बचा लेते हैं। हिन्दी में निबन्धों की उच्चकोटि का सूत्रपात करने का बहुत कुछ श्रेय आचार्य शुक्ल जी को ही है।

डा० श्यामसुन्दर दास—इनका समय सम्वत १६३२ से २००२ तक रहा है। शुक्ल जी के समान ही डा० श्यामसुन्दर दास भी हिन्दी के महान उद्धारकों में से हैं। इन्होंने गम्भीर विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। इनकी शैली में कहीं-कहीं पर बड़ी क्लिष्टता आ गई है, जिसका बहुत कुछ कारण विषयों की गम्भीरता ही है। काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना कर इन्होंने हिन्दी की जो महान् सेवा की है, वह हिंदी के लिये वरदान स्वरूप समझनी चाहिए। हिंदी को आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने का प्रशंसनीय कार्य इनके द्वारा ही पूर्ण हुआ है। साहित्यालोचन और हिंदी-भाषा का इतिहास जैसे ग्रंथों की रचना करके इन्होंने हिन्दी के गौरव को बढ़ाया है।

पं० पद्मसिंह शर्मा—इन्होंने भी निबन्ध-क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। इनके लेखों का संग्रह पद्म-पराग में हुआ है। इनकी भाषा में उर्दू फारसी के शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। इनके लेखों में हास्य-व्यंग्य की मात्रा का अधिक प्रयोग हुआ है।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—इन्होंने हिन्दी में हास्य-रस पूर्ण लेखों का सूत्रपात किया था। इनके अधिकतर लेख भाषणरूप में हैं। स्थायी विषयों पर निबन्ध-रचना इन्होंने कम की है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—इनका जन्म-संवत् १९४० और परलोकवास-संवत् १९७७ है। ये संस्कृत के धुरन्धर विद्वान्, अङ्गरेजी के अच्छे ज्ञाता तथा सरल और विनोदशील प्रकृति के व्यक्ति थे। अपनी छोटी सी अवस्था में ही इन्होंने जयपुर से समालोचक नाम का मासिक पत्र प्रकाशित किया था। इनके लेखों में बड़ा ही गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण हास्य रहता था। व्याकरण जैसे शुष्क विषयों के लेखों में भी इन्होंने हास्य की विशिष्ट पुट भरदी है। शैली की विशिष्टता और अर्थ-गर्भित-वक्रता, जितनी गुलेरी जी में है, इतनी हिन्दी के अन्य निबन्ध-लेखकों में नहीं मिलती। इनकी भाषा बड़ी संयत और चमत्कारमयी है।

अध्यापक पूर्णसिंह—इनके गद्य-लेखों में काव्य की सी भावुकता के दर्शन होते हैं। इनकी शैली बड़ी जोरदार और निर्भीक है। कलापन की अपेक्षा स्वाभाविकता इनकी शैली का विशेष गुण है।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रभाकर माचवे, जैनेन्द्रकुमार, हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीयुत नगेन्द्रजी आदि लेखकों ने भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ लिखा है। इसके साथ ही अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी नित्य-प्रति अनेकों लेख प्रकाशित होते रहते हैं, किन्तु फिर भी हिंदी में अभी उच्चकोटि के निबंध-लेखकों का अभाव ही है।

कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में अर्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली का जैसा विकास हुआ है वैसा निबन्ध-क्षेत्र में अभी तक हिन्दी में नहीं हो सका है।

समालोचना

समालोचना का सूत्रपात भी हिन्दी में भारतेन्दु काल से ही होता है। इससे पूर्व "सूर सूर तुलसी शशि, उडुगन केसव-दास, तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार" आदि कुछ आलोचनात्मक उक्तियां हिन्दी में मिलती अवश्य हैं, किन्तु गद्य का विषय होने के कारण आलोचना-पद्धति की परम्परा भारतेन्दु-काल में आकर ही निर्धारित होती है। इस काल में पं० बद्रीनारायण चौधरी ने अपने 'आनन्द कादम्बिनी' नाम के पत्र में ला० श्री निवासदास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की एक बड़ी और विशद आलोचना लगभग सं० १९३० में निकाली थी। इसमें दोषों का उद्घाटन ही अधिक हुआ था। भारतेन्दु-काल तक कोई समालोचनात्मक ग्रन्थ हमें हिन्दी में उपलब्ध नहीं होता। समालोचना का रूप पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले तत्कालीन लेखकों तक ही इस काल में सीमित रहता है। आगे चलकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की निरंकुशता नामक समालोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित की। जिसमें उन्होंने कालिदास के ग्रंथों की निर्णयात्मक रीति से समालोचना की थी। फिर 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' और 'नैषध चरित चर्चा' नाम के ग्रंथों में भी इन्होंने संस्कृत के कुछ

कवियों की परिचयात्मक समालोचना की शैली का उद्घाटन हिन्दी में किया।

द्विवेदी जी ने तत्कालीन नई पुस्तकों की भाषा सम्बन्धी खरी आलोचना करके खड़ी बोली के परिमार्जन और व्याकरण की समुचित व्यवस्था में भी भारी सहयोग दिया। आलोचना-क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी के बड़े २ कवियों को लेकर यद्यपि साहित्यसमीक्षा का कोई गम्भीर प्रदर्शन नहीं किया, तथापि खड़ी बोली के नियोदित कवियों को भाषा के विषय में सावधान करके उन्होंने हिन्दी-साहित्य का महान् उपकार किया।

हिन्दी में आलोचनात्मक ग्रन्थों का सूत्रपात मिश्र-बन्धुओं के द्वारा होता है इन्होंने हिन्दी 'नवरत्न' में हिन्दी के पुराने कवियों की आलोचना करके साहित्यिक ढंग की आलोचना का मार्ग-प्रदर्शन किया। अपने इस ग्रंथ में इन्होंने देव को बिहारी से ऊँचा स्थान देकर हिन्दी में एक विवाद खड़ा कर दिया। जिससे इसी विषय की कई आलोचनात्मक पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हुईं। स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्म्मा ने बिहारी सतसई की भूमिका लिखकर बिहारी की विशेषताओं पर पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला। इनकी आलोचना में व्यंग्य की मात्रा अधिक रहती थी। इसके साथ ही तुलनात्मक समालोचना-शैली का मार्ग भी इन्हों ने ही प्रस्तुत किया। बिहारी की तुलना संस्कृत और हिन्दी आदि के अनेक कवियों से करके इन्होंने बिहारी को शाबासी देने का प्रयत्न तो निस्सन्देह किया है, किन्तु

"साहित्य-समीक्षा" का यह कार्य इन्होंने किया बहुत अच्छे ढंग पर था, इसलिये शुक्ल जी ने उनके बिहारी के इस पक्षपात को भी साहित्यिक मूल्य में ही आँका है। क्योंकि बाद में देव और बिहारी के इस झगड़े को लेकर कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। जिनमें बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता-पूर्ण आलोचना-पद्धति का मार्ग निर्दिष्ट हुआ। इस ढंग की पुस्तक पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी के नाम से प्रकाशित की; जिसमें जो कुछ कहा गया है, वह साहित्यिक और विवेचनापूर्ण है। मिश्र-बन्धुओं की अपेक्षा कृष्णबिहारी द्वारा ही हिन्दी में साहित्यिक आलोचना का कार्य अच्छे ढंग पर निर्मित हुआ है। बाद में ला० भगवानदीन जी ने बिहारी और देव नाम की पुस्तक प्रकाशित की। जिसमें उन्होंने कृष्णबिहारी के मुकाबिले में बिहारी को ऊँचा बताने के लिये मिश्र बन्धुओं के भद्दे आक्षेप का संयत भाषा में उत्तर भी दिया और देव की काँट-छाँट करते हुए बिहारी की वाक्-चातुरी और सूक्ष्म दृष्टिकोण की प्रशंसा भी की। इसके अतिरिक्त और भी कई पुस्तकें देव और बिहारी पर इसी विषय को लेकर प्रकाशित हुईं। यहाँ तक की हिन्दी समालोचना में हम तुलनात्मक शैली का अनुसरण ही अधिक पाते हैं। कवियों की सर्वाङ्गीण विशेषताओं का प्रकाशन करने वाली आलोचना-पद्धति का प्रारम्भ हमारे साहित्य में स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रस्तुत

होता है। शुक्ल जी ने तुलसीदास, सूरदास और जायसी आदि पर कई आलोचनात्मक पुस्तकें इस ढंग की लिखी हैं। जिनमें उन्होंने कवि के समय की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों तथा उसके वैयक्तिक चरित्र द्वारा उसकी मानसिक स्थिति के सहारे उसकी कृतियों को समझने-समझाने का सुन्दर प्रयत्न किया है। आलोचना का यह ढंग पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार की आलोचना-पद्धति का हम हिन्दी में अच्छा विकास पाते हैं। स्वर्गीय ला० भगवानदीन की सूर, तुलसी, दीनदयाल गिरि सम्पादित सूर पञ्चरत्न, दोहावली और दीनदयाल गिरि-ग्रन्थावली, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की कबीर-समीक्षा, आदि समालोचनात्मक पुस्तकें इसी ढंग की हैं।

समालोचना के क्षेत्र में प्रमुख स्थान आचार्य शुक्ल जी का ही है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखकर साहित्यिक आलोचना का द्वार सा खोल दिया है। हिन्दी के उत्तरवर्ती सभी आलोचक काव्य-विश्लेषण में प्रायः उन्हीं की शैली का अनुसरण कर रहे हैं। पं० कृष्ण शंकर शुक्ल का 'कवि रत्नाकर', केशव की 'काव्य कला', गंगा प्रसाद सिंह की 'पद्माकर की काव्यसाधना', भुवनेश्वर कृत "मीरा की प्रेम साधना', राम कुमार वर्मा कृत, 'कबीर का रहस्यवाद', डा० श्याम सुन्दरदास का 'तुलसीदास', सद्गुरु शरण अवस्थी कृत 'तुलसी संदर्भ', बलदेव प्रसाद का 'तुलसी दर्शन', नलिनी मोहन का अकबर

सूरदास" शिखर चन्द जैन का "सूर एक अध्ययन" श्रीराम-रत्न भटनागर की "सूरसाहित्य की भूमिका" हजारी प्रसाद-द्विवेदी का 'सूर साहित्य' आदि ग्रन्थ हिन्दी के प्राचीन कवियों और साहित्य का एक उत्तम आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही हमें आधुनिक कवियों और साहित्य पर भी उच्चकोटि के आलोचनात्मक ग्रन्थ हिन्दी में मिलते हैं। जिनमें प्रो० सत्येन्द्र कृत "गुप्त जी की कला" जनार्दन प्रसाद झा द्वारा कृत "प्रेमचन्द की उपन्यास कला" रामनाथ लाल सुमन कृत "प्रसाद की काव्य-साधना" पं० गिरजादत्त शुक्ल गिरीश द्वारा कृत "गुप्तजी की काव्य-धारा" पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का "हिन्दी साहित्य विमर्श, "विश्व साहित्य" शान्तिप्रिय द्विवेदी की "संचारिणी" कवि और काव्य तथा "युग साहित्य" गंगा प्रसाद पाण्डेय कृत "महादेवी वर्मा" नगेन्द्र जी का "सुमित्रानन्दन पन्त" और 'साकेत एक अध्ययन' नन्द दुलारे बाजपेयी का "जय शंकर प्रसाद" आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान समय में काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी आदि सभी विषयों पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी जा रही हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यांगों का विवेचन करने वाला साहित्य भी हमारे यहां पर्याप्त लिखा जा रहा है। कला, साहित्य और नाना वादों का विवेचन करने वाली कितनी ही पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनके आधार पर हम कह

सकते हैं, कि हमारे साहित्य का आलोचनात्मक अंग पूर्णतः परिमार्जित, व्यवस्थित, विवेचनापूर्ण और प्रौढ़ रूप प्राप्त कर चुका है। साहित्य के क्रमिक इतिहास को बताने वाले निम्न और उच्चकोटि के कई आलोचनात्मक इतिहास भी हिन्दी में लिखे जा चुके हैं। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयत्न मिश्र बन्धुओं का है। उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' में हिन्दी के ज्ञात और अज्ञात कवियों का अच्छा जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है। इनके बाद डा० श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास लिख कर व्याख्यात्मक समालोचना के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। आचार्य शुक्ल जी का "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" तो एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य की निधि ही समझा जाता है। जितने भी इतिहास अब तक हिन्दी-साहित्य के प्रकाशित हुए हैं, उन में शुक्ल जी के इतिहास का स्थान ही सर्वश्रेष्ठ है। डा० सूर्यकान्त जी शास्त्री का "हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास" और श्री रामकुमार वर्मा का "हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" भी अपने ढंग के उत्तम इतिहास हैं। पं० कृष्ण शंकर शुक्ल का "आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास" और आचार्य चतुरसेन शास्त्री का "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास" भी नवीन और प्राचीन हिन्दी साहित्य की धारा का परिचय कराने वाले इस विषय के बृहद् ग्रन्थ हैं। इन

ग्रन्थों के द्वारा हिन्दी साहित्य की विभिन्न काव्य और गद्य-धाराओं का अच्छा विवेचन हुआ है।

प्रगतिवाद के नाम से हमारे हिन्दी-साहित्य में जो काव्य की नवीन धारा उदय हुई है, उसका सम्यक् विवेचन कराने वाले ग्रन्थ भी हिन्दी में लिखे जा रहे हैं। यह प्रगतिवादी भावना केवल काव्य तक ही सीमित न रह कर आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों के रूप में भी हमारे यहाँ प्रकट हुई है। इस प्रकार के आलोचनात्मक निबन्धों के कुछ संग्रह हिन्दी में प्रकाशित हुये हैं, जिनमें श्री अंचल का "साहित्य और समाज" जगन्नाथ प्रसाद मिश्र का "साहित्य की वर्तमान धारा" आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। "प्रगतिवाद की रूप रेखा" नामक पुस्तक भी इस विषय की अच्छी रचना है। वास्तव में समालोचना शास्त्र का अंग है। और शास्त्रनिर्माण का कार्य साहित्य की विभिन्न प्रगतियों के साथ-साथ ही चलता रहता है। इसलिए साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में हमारी प्रगति का चरम बिन्दु क्या है? यह नहीं कहा जा सकता। साहित्य-क्षेत्र जितना शक्तिशाली, सम्पन्न और विस्तृत होता जायेगा, उतना ही विस्तार और रूपवैभिन्य, आलोचनात्मक क्षेत्र में भी स्वतः संघटित होता रहेगा। यह सम्भव हो सकता है कि हिन्दी साहित्य और कवियों पर जिन सिद्धांतों और दृष्टिकोणों को लेकर अबतक विचार किया जा चुका है, उससे भी सर्वथा भिन्न प्रकार की विचारशैली कालान्तर में प्रस्तुत हो और हमारी

साहित्य की कुछ विशिष्ट विशेषतायें प्रकाश में आयें, किंतु इसका अभिप्राय: यह नहीं कि हमारे साहित्य की अब तक प्रतिपादित की हुई विशेषतायें नष्ट हो जायेंगी, अपितु उनके अक्षुण्ण रहते हुए ही किसी विशिष्ट शैली का प्रादुर्भाव भी सम्भव कहा जा सकता है?

जीवन-चरित्र

जीवन-चरित्र सम्बन्धी साहित्य भी हिन्दी में पर्याप्त लिखा गया है। उपन्यास आदि अन्य गद्य-साहित्य की अपेक्षा जीवन-चरित्र में जीवन की वास्तविकता अधिक रहती है। जिस जीवन-चरित्र के लिखने में लेखक ने कल्पना से काम लिया हो, वह वास्तव में जीवन-चरित्र कहलाने का अधिकार नहीं रखता। जीवन-चरित्र तो वास्तव में जीवन-चर्या का नाम है। जीवन का वास्तविक रूप केवल महापुरुषों का ही उपादेय हुआ करता है। इसलिये प्राय: महापुरुषों की जीवनियाँ ही लिखी जाती हैं। जीवन-चरित्र संक्षिप्त रूप में निबन्ध के ढंग पर भी लिखा जा सकता है और पुस्तकाकार में भी। हिन्दी में हमें दोनों तरह के जीवन-चरित्र लिखे हुए मिलते हैं। इस क्षेत्र में बाबू शिवनन्दन सहाय ने तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चरित्र-ग्रंथ और चैतन्य देव तथा सिक्खों के दस गुरुओं की जीवनियाँ लिखकर प्रशंसनीय कार्य किया है। पं० माधोप्रसाद मिश्र की लिखी हुई विशुद्ध चरितावली,

पं० रामनारायण मिश्र का जस्टिस रानाडे का जीवन-चरित्र, पं० ज्योतिप्रसाद का जीवन चरित्र 'निर्मल' की स्त्री-कविकौमुदी, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी लिखित स्वर्गीय कविरत्न पं० सत्य-नारायण की जीवनी आदि इस विषय की अच्छी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आत्मकथायें भी हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। जिनमें गांधी जी की आत्मकथा, पं० जवाहरलाल नेहरू की मेरी कहानी, डा० श्यामसुन्दर की आत्मकथा। स्वामी श्रद्धानन्द की कल्याण मार्ग का पथिक, श्रीवियोगी हरि की आत्मकथा और राहुल सांकृत्यायनजी की आत्मकथा आदि पुस्तकें अधिक महत्व-पूर्ण हैं। इन आत्मकथाओं में हमें इन महानुभावों की अपनी दिन-चर्या ही नहीं मिलती, अपितु देश के इतिहास और राजनीतिसम्बन्धी काया-कल्प के भी अच्छे दर्शन होते हैं। इसी विषय को लेकर कुछ यात्रा-सम्बन्धी अनुभव भी कुछ लोगों ने लिखे हैं, जिनमें राहुल सांकृत्यान की तिब्बत-यात्रा, सोवियत भूमि, गौरीशंकर प्रसाद वकील की यूरुप-यात्रा के ६ मास, मुन्शी महेश प्रसाद की मेरी ईरान-यात्रा आदि पुस्तकें अपने ढंग की उत्तम पुस्तकें हैं।

—:०:—

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य की धारा भी हिन्दी में प्रवाहित हुई है। गद्य-काव्य और कविता में केवल यही अन्तर रहता है कि कविता छन्दोबद्ध होती है, उसमें व्याकरण के नियमों का ध्यान उतना नहीं रक्खा जाता, जितना कि छन्दों का रक्खा जाता है गद्य-काव्य में व्याकरण का पूरा ध्यान तो रहता ही है, साथ ही काव्यत्व भी उसमें लाना पड़ता है। वास्तव में गद्य-काव्य एक प्रकार के भावात्मक-लेख होते हैं, जिनमें भावतत्व इतना अधिक होता है कि उनको पढ़ने पर कविता का सा ही आनन्द पाठक को मिलता है। छन्दों का बन्धन न होने के कारण गद्य-काव्य में लेखक को अपने भाव स्वतंत्रतापूर्वक प्रवाहित करने में बड़ी सुविधा रहती है। वर्तमान युग गद्य का युग होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दी-गद्य में भी वह शक्ति उत्पन्न होती जो कि संस्कृत के गद्य में मिलती है। संस्कृत में ऐसा गद्य पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है कि जो गद्य-काव्य की श्रेणी में आता है। इसके अतिरिक्त गद्य-काव्य ग्रन्थों की भी संस्कृत में कमी नहीं है। बाण भट्ट की कादम्बरी तो इस प्रकार के गद्य के लिये बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दी में भी हमें ऐसा गद्य लिखने वाले

जयशंकर प्रसाद आदि कई लेखक मिलते हैं। किन्तु गद्य-काव्य का लेखक जिस प्रकार के भावात्मक निबन्ध-खण्ड लिखता है, वे एक दूसरी ही श्रेणी के होते हैं। वहाँ तो दस-बीस पंक्तियों में ही वह कविता का सा प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार के गद्य-काव्य लेखकों में श्री रायकृष्णदास और वियोगीहरि के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। वैसे चतुरसेन शास्त्री, महादेवी वर्मा और श्रीमती दिनेश नन्दिनी आदि ने भी अच्छे गद्य-काव्य लिखे हैं। वियोगी हरि के अन्तर्नाद और भावना दो गद्य-काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। रायकृष्णदास की साधना पुस्तक भी गद्य-काव्य का उत्कृष्ट रूप लिए हुए है। चतुरसेन शास्त्री का अन्तःस्थल और श्रीमती दिनेश नन्दिनी का मौक्तिक माल और उन्मन भी इसी विषय के सुन्दर संग्रह हैं, किन्तु इस क्षेत्र में अभी और उन्नति की आवश्यकता है।

पत्र

गद्य-साहित्य की जिन धाराओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त पत्र रूप में साहित्य-चर्चा करने की एक नई धारा का उदय भी हिन्दी में हुआ है। हमारे गद्य-साहित्य का युग विज्ञान का युग है। इसमें हम जीवन की स्वाभाविकता की ओर अधिक प्रवृत्त हुए हैं। साहित्य में भी वह प्रवृत्ति अपना कार्य कर रही है। हमारे लेखक ऐसे साहित्य का निर्माण करने में अधिक लगे हुए हैं, जिसमें जीवन

की वास्तविकता निहित हो। आज का लेखक साहित्य को जीवन के यथार्थ रूप में रंगने के लिये अधिक उत्साहित है। इसलिये गद्य और पद्य दोनों में ही जीवनोपयोगी साहित्य का सृजन खूब हो रहा है। पत्र-लेखन शैली भी इसी उपयोगिता वाद की देन है। जब हम किसी को पत्र लिखते हैं तो उसमें हमारा स्वाभाविक रूप अधिक रहता है। किसी प्रकार के चमत्कार का प्रयत्न हम नहीं करते। अपने मन की बात का प्रकाशन हम पत्र में इस ढंग से अवश्य करते हैं कि पाठक हमारे आशय को भली भाँति समझ सके तथा हमारे कथन का प्रभाव भी उस पर पूरा पड़े। एक प्रकार से पत्र हमारी अनुभूति और विचारों का यथार्थ प्रकाशन होता है। इसलिये जो भी विषय पत्र रूप में लिखा जाता है, उसमें हमें इस स्वाभाविकता का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है।

गूढ़ से गूढ़ विषय भी पत्ररूप धारण करके हमारे जीवन का स्वाभाविक अंग बन जाता है। इसलिये पत्रशैली को प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है। अभी तक पत्र रूप में हमारे यहाँ कोई ऊँचा साहित्य प्रस्तुत नहीं हो सका। दो-चार पुस्तकें ही इस विषय की अभी तक निकली हैं। जिनमें पं० जवाहर लाल नेहरू द्वारा लिखित 'पिता के पत्र पुत्री को' नाम का पत्र-संग्रह अधिक प्रसिद्ध हुआ है।

विविध–विषय

हिन्दी गद्य साहित्य में केवल साहित्यिक श्रेणी के ग्रन्थ ही नहीं लिखे गये हैं, अपितु, इतिहास, राजनीति, समाज-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, अर्थशास्त्र और विज्ञान आदि विषयों पर भी उच्च-कोटि की पुस्तकें लिखी गई हैं। ऐतिहासिक-क्षेत्र में रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री जयचन्द विद्यालंकार आदि ने उल्लेखनीय कार्य किया है। ओझा जी ने राजपूताने का इतिहास इतना गवेषणात्मक लिखा है कि इंगलिश के अच्छे-अच्छे इतिहास लेखक भी उनकी प्रतिभा को मानते हैं। इसी प्रकार विद्यालंकार जी का भारतवर्ष का इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार का मौर्य साम्राज्य का इतिहास, अध्यापक रामदेव का भारत का इतिहास, गोपाल दामोदर तामसकर का मराठों का उत्कर्ष, श्रीयुत रघुकुल तिलक एम. ए. का इंगलैंड का इतिहास पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी का मुसलमानी राज्य का इतिहास, भाई परमानन्द एम. ए. का योरुप का इतिहास आदि ग्रंथ इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जिनकी महत्ता को विदेशी भी स्वीकार करते हैं। राजनीति सम्बन्धी ग्रंथों की भी अब हिन्दी में कमी नहीं है। श्रीयुत वेणा जी ने इस विषय की कई पुस्तकें लिखी हैं। श्रीयुत सम्पूर्णानंदजी का साम्यवाद, श्री मुकुन्दी लाल श्री वास्तव का साम्राज्यवाद आदि पुस्तकें भी इस विषय की उत्तम पुस्तकें हैं।

समाज-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें भी हिन्दी में कई निकली हैं। दर्शन-शास्त्र तो हमारे देश का प्रमुख विषय है। इस विषय पर भी हिन्दी में गंगाप्रसाद एम० ए० की अद्वैतवाद और आस्तिकवाद, डाक्टर भगवान दास का समन्वय, नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तर्कशास्त्र और कर्त्तव्य-शास्त्र पं० रामावतार शर्मा का योरोपीय दर्शन, लाला कन्नूमल एम० ए० का गीता-दर्शन, प्रोफेसर देवराज का भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास, श्री बलदेव प्रसाद का भारतीय दर्शन आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जो भारत और हिन्दी-भाषा दोनों के गौरव को बढ़ाने वाली हैं।

अर्थशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का यद्यपि अभी हिन्दी में अभाव है, पर फिर भी हमें इस विषय की अच्छी पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध होती हैं। इस विषय का सबसे पहला ग्रन्थ स्व० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सम्पत्ति शास्त्र के नाम से लिखा था। इसके बाद श्रीयुत प्राणनाथ विद्यालंकार, पं० दयाशंकर दुबे और भगवान दास जी केला ने इस विषय में कई उत्तम पुस्तकें लिखीं। इनके अतिरिक्त स्व० राधाकृष्ण झा एम० ए० के प्राचीन शासन पद्धति और भारत की साम्पत्तिक अवस्था आदि ग्रंथ भी इस कोटि के अच्छे ग्रंथ हैं। विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का भी हिंदी में अभी अभाव है दो-चार पुस्तकें ही अभी तक हिन्दी में इस विषयकी प्रकाशित हुई हैं, जिनमें डा० त्रिलोकी-नाथ वर्म्मा की 'हमारे शरीर की रचना' और 'रोग और

चिकित्सा', डाक्टर गोरख प्रसाद की फोटोग्राफी और 'सौर-परिवार', श्रीरामदास गौड़ की विज्ञान हस्तामलक आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान और कला सम्बन्धी पुस्तकें भी हिन्दी में लिखी गई हैं। बाबू श्याम सुन्दर दास, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, डाक्टर धीरेन्द्र वर्म्मा, डाक्टर बाबूराम सक्सेना और श्रीयुत नलनी मोहन ने हिन्दी में भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी कई श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखे हैं। उधर राय कृष्णदास की भारतीय मूर्तिकला और भारतीय चित्रकला और श्री एन० सी० मेहता की भारत की चित्रकला आदि पुस्तकें, कलासंबंधी विषय की उत्तम पुस्तकें हैं। इसके साथ ही धर्म वनस्पतिशास्त्र और आयुर्वेद सम्बन्धी साहित्य भी हिन्दी में पर्याप्त लिखा गया है। शब्दकोष भी कई निकले हैं, जिनमें साहित्यिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक आदि सभी श्रेणियों के शब्दों का संग्रह हुआ है। पत्र-पत्रिकायें भी हिन्दी में अनेक प्रकाशित हो रही हैं, जिनमें दैनिक, मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक सभी तरह की हैं।

यहाँ पर यह लिख देना आवश्यक है कि हिन्दी के गद्य-साहित्य की जिस प्रगति का हमने विवेचन किया है, वह हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने से पूर्व की प्रगति है। हमारे हिन्दी-साहित्य की यह वह उन्नति है जो कि उसने राज्य अथवा समाज की ओर से किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन अथवा आर्थिक सहयोग प्राप्त किये बिना ही की है। किन्तु फिर भी इस विवे-

चन के आधार पर हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं, कि हमारे हिन्दी-साहित्य की यह उन्नति शतधा है और विश्व में सम्मानित अंग्रेजी-भाषा की तरह ही न्यूनाधिक रूप में स्वभावतः होती रही है। इसमें जितना सहयोग हिंदी-भाषा से स्वाभाविक प्रेम रखने वाले साहित्य-सेवियों अथवा वाणी के उपासकों ने दिया है, उससे आधा भी प्रोत्साहन अथवा सहयोग उसे देशवासियों की ओर से प्राप्त नहीं हुआ, जिसका मुख्य कारण भारत में एक विदेशी सत्ता के साहित्य और भाषा का प्रभुत्व रहना ही कहा जा सकता है। अब हमारा देश स्वतन्त्र है, हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है—जिस हिन्दी ने किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन न मिलने पर इतनी उन्नति की हो कि वह बड़ी आसानी से विश्व की उन्नत भाषाओं के साहित्य में अपना स्थान रखती है, उस भाषा को राष्ट्रभाषा का यह शुभ अवसर प्राप्त हो जाने पर उसकी उन्नति कितनी हो सकेगी, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। हाँ, इस विषय में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि थोड़े ही समय में हमारा हिन्दी-साहित्य विश्व में व्याप्त अंग्रेजी भाषा के साहित्य से किसी भी क्षेत्र में कम नहीं रहेगा। हिन्दी के लिये ऐसी संभावना इसलिये और भी समुचित है कि उसका सम्बन्ध विश्व की सबसे प्राचीन और समुन्नत भाषा, संस्कृत से है। जिसके साहित्य की समता किन्हीं क्षेत्रों में अंग्रेजी का साहित्य इतना गौरव प्राप्त होने पर भी नहीं कर सका।

आधुनिक काव्य

(सं० १९०० से अबतक)

सामान्य-परिचय

उन्नीसवीं शताब्दी से हिन्दी में गद्य-साहित्य-सम्बन्धी नाना धाराओं का उदय तो हुआ ही, उसके साथ ही काव्य क्षेत्र में भी कई स्वच्छन्द धारायें विकसित हुई। जिन्हें व्यक्ति रूप में हिन्दी काव्य की स्वच्छन्द धारा का नाम भी हमारे साहित्यिकों ने दिया है। काव्य की यह स्वच्छन्द धारा हमें संवत् १९०० से १९२५ तक तो किसी निखरे हुए रूप में नहीं मिलती। इस समय तक की हिन्दी-कविता को हम बहुत कुछ ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के अन्तर्गत ही पाते हैं। किन्तु संवत् १९२५ में भारतेन्दुकाल के कवियों में यह राष्ट्रीय चेतना का रूप लेकर मुखरित होती है। और सं १९५० तक की कविता में हमें राष्ट्र-प्रेम की झंकार ही किसी न किसी रूप में सुन पड़ती है। इसी का सुविकसित रूप बाद में द्विवेदी-कालीन कवियों में राष्ट्रवादिता का रूप लेकर प्रकट होता है, जिसका स्वर संवत् १९७५ तक के समस्त हिन्दी-काव्य में

सुनाई पड़ता है । इस काल तक पहुँचते २ हमारे काव्य की यह स्वच्छन्द धारा एकान्ततः इतिवृत्तात्मक हो जाती है। जीवन की नाना समस्याओं के समाधान का साधन काव्य-कला को ही समझ कर हमारे कवि ऐसा साहित्य प्रस्तुत करते हैं, कि जिसमें जीवन का स्वर ही प्रधान रह जाता है, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप 'कला कला के लिये' की ध्वनि हमारे साहित्य में भी गूँजने लगती है तथा हमारे कवि कविता के कलात्मक रूप का निर्माण करने में लग जाते हैं। इसी समय बंगला और अङ्गरेजी के साहित्य का प्रभाव भी हमारे साहित्य पर बड़ा गहरा पड़ता है। बंगला के साहित्य में इस समय छायावादी और रहस्यवादी काव्य की अधिक धूम थी, जिससे हमारे साहित्य में भी ये दोनों वाद प्रस्फुटित हुए, तथा संवत् १९७५ के बाद के काव्य में इन्हीं दोनों वादों की गूँज हमारे साहित्य में भी रही। इस धारा की कविता का प्रतिनिधित्व कविवर जयशंकर प्रसाद जी ने किया, जिससे इस काल को प्रसाद-काल भी कहा जाता है। इस श्रेणी के कवियों में निराशा का स्वर अधिक ऊँचा रहा। जीवन के संघर्षों से ऊबकर अज्ञात की प्रशान्त गोद में पहुँचने की लालसा हमारे इन कवियों को अधिक रहने लगी। यथार्थ की अपेक्षा कल्पना का लोक इन्हें अधिक सुहावना प्रतीत होने लगा। भूतल को छोड़कर आकाश में विचरण करने का चाव इन्हें अधिक रहने लगा। जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दी कविता जीवन के क्षेत्र से बहुत दूर

किसी अज्ञात लोक में विहार करने लगी। किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी। सामयिक परिस्थितियों ने कविता को इसी भूमंडल पर, जीवन के नाना संघर्षों से जूझने के लिये विवश कर दिया और काव्य की इस बहुरूपिणी स्वच्छंद धारा ने लगभग सं० २००० से प्रगतिवाद का रूप धारण कर लिया, जिसकी रूपरेखा हमारे साहित्य में अभी निर्धारित नहीं हो सकी, किन्तु काव्य की यह धारा अपनी जिस गति-विधि से बढ़ रही है, उसको देखते हुए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि हमारे अगामी साहित्य का अंग-निर्माण बहुत कुछ ही प्रगति वादी भावनाओं के आधार पर ही होगा।

काव्य की उपर्युक्त स्वच्छंद धारा को बहुरूपिणी बनाने वाली परिस्थितियाँ कौन-कौन सी रही हैं, उन पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। पहिले हम राष्ट्रीय चेतना को उद्भूत करने वाली उन परिस्थितियों पर विचार करेंगे, जिन्होंने कि भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों को जन्म दिया था। निःसंदेह ये परिस्थितियाँ भी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक ही थीं, किन्तु यहाँ हम विगत कालों की अपेक्षा इन परिस्थितियों में बहुत कुछ नवीनता पाते हैं और वह नवीनता ही हमारे काव्य में स्वच्छन्दता की लहर उत्पन्न करने का प्रमुख कारण बनती है। जिसको उद्गत करने वाली परिस्थितियों का विवेचन निम्न प्रकार है—

राजनैतिक परिस्थिति—भारत में अङ्गरेजी राज्य की स्थापना हो जाने के कारण देशी राज्यों की सत्ता समाप्त हो गई। जिससे दरबारों में पनपने वाला विलासी जीवन भी समाप्त होगया। अङ्गरेजों की विचार-पद्धति और साहित्य का प्रभाव हमारे देश पर पड़ने लगा। अङ्गरेजी-साहित्य के अध्ययन से हमारे देश-वासियों को वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टि-कोण प्राप्त हुआ। जीवन के नये-नये आदर्शों और रूपों की ओर उनका ध्यान अग्रसर हुआ। इसके साथ ही अपनी वास्तविक स्थिति का बोध भी हमारे देशवासियों को होने लगा। अङ्गरेजी-साहित्य, संस्कृति और इतिहास की तुलना में अपने अतीत की ओर भी उनका ध्यान गया। तथा वस्तु-स्थिति का बोध हो जाने पर विदेशी-सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया। जिसे सन् १८५७ की क्रांति के इतिहास ने और भी बल दिया। देश-प्रेम, राजनैतिक-स्वातन्त्र्य, सामाजिक और धार्मिक सुधारों की प्रेरणा अपने तीव्र रूप में उत्पन्न हुई। किन्तु इस सबको अंगरेजी-राज्य की सुव्यवस्था, आतंक और कुशलनीति ने पनपने नहीं दिया। जिसकी प्रतिक्रिया भारत के अतीत गौरव-गान, तत्कालीन, अधोगति के करुणापूर्ण चित्रण और आशा-पूर्ण भविष्य के स्वप्न के रूप में प्रारम्भ हुई। देश-भक्ति के गीत गाये जाने लगे, किन्तु दबे हुए स्वर के साथ, राज-भक्ति-मिश्रित भावना में।

धार्मिक-स्थिति—राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर अंग्रेजों के मन में यहाँ पर अपने ईसाई-धर्म का प्रचार करने की लालसा उत्पन्न हुई। जिसकी पूर्ति करने में कितने ही पादरी लोग अग्रसर हुए। बाईबिल के अनुवाद हिन्दी भाषा में करवा कर सर्व साधारण में विभाजित करवा दिये गये। राज्य की ओर से कुछ पादरी इसी प्रचार-कार्य के लिए इधर-उधर घूम कर उपदेश देने का कार्य भी करने लगे। अपने उपदेशों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों का खंडन वे करते थे। किन्तु उनका शस्त्र अधिकतर हिन्दू धर्म पर ही चलता था। हिन्दुओं में ईसाई धर्म का प्रचार कर उनकी धार्मिक भावना को मूलतः मिटाना ही उनका ध्येय था। कुछ अंग्रेजी पढ़ेलिखे हिन्दू ईसाई धर्म की ओर लालायित भी हुए तथा इस धर्म को ग्रहण करके उन्होंने भी ईसा के गुण गाने शुरू कर दिये। उधर शिक्षण-संस्थाओं में भी अंग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था पूर्णतः हो चली थी और अंग्रेजी-साहित्य के साथ-साथ ईसाई-धर्म का पाठ भी भारतीय नवयुवकों को पढ़ाया जाता था। निम्न जाति के लोगों को अच्छी नौकरी देने के लालच में फँसा कर ही उन्हें ईसाई बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त ईसाई-धर्म ग्रहण करने वालों को आर्थिक सहायता भी की जाती थी। इस सब का परिणाम यह हो रहा था कि कुछ लोग हिन्दूधर्म की रूढ़ियों से तंग आकर और कुछ सुखमय-जीवन बिताने की अभिलाषा लेकर ईसाई बन जाते थे। सवर्ण जाति की छुआछूत

से पीड़ित अछूत वर्ग पादरियों के चंगुल में दिन पर दिन अधिक फंसता जा रहा था।

ईसाई-धर्म की यह प्रगति पहले तो बंगाल में अधिक हुई, किन्तु बाद में उत्तर-भारत में भी इसका प्रचार बढ़ चला। जिसके प्रभाव को रोकने के लिये बंगाल में ब्रह्म समाज और उत्तर-भारत में आर्य-समाज जैसी धार्मिक संस्थाओं का जन्म हुआ। इन दोनों समाजों ने हिन्दूधर्म के उच्च-आदर्शों और विशेषताओं का प्रतिपादन तो किया ही, इसके साथ ही अनेक धार्मिक-रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का खण्डन कर धार्मिक-सुधार और सामाजिक-विकास-कार्य भी किया। इन दोनों समाजों के दृष्टिकोण में नवीनता थी और धर्म का परिमार्जित तथा मांगलिक रूप भी ये जनता के संमुख रखते थे। इसलिये प्रसुप्त हिन्दू जाति में एक बार फिर धार्मिक गौरव के भाव उत्पन्न हुए, जो देश-प्रेम, जातीय उत्थान, राजनैतिक स्वातंत्र्य और सांस्कृतिक संरक्षण आदि नाना रूपों में प्रकट हुए।

सामाजिक-स्थिति—इस समय का हिन्दू समाज अनेक धार्मिक रूढ़ियों से ग्रसित था। सती-प्रथा के बन्द हो जाने के कारण समाज में विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ चली थी, जिनके पुनर्विवाह की व्यवस्था न होने के कारण दुराचार बढ़ने लगा था। बाल-विवाह, बहु-विवाह और वृद्धविवाह की कुप्रथा होने के कारण स्त्रियों का जीवन अधिक कष्टमय था। स्त्री-शिक्षा का प्रचार न होने के कारण स्त्री-समाज में किसी

प्रकार की उन्नति नहीं हो रही थी। छुआ-छूत, ऊँच-नीच और मिथ्या-दम्भ की भी समाज में कमी नहीं थी। दहेज-प्रथा तथा इसी प्रकार के अन्य रीति-रिवाजों के कारण भी लोग प्रायः दुःखी थे। लग-भग एक हजार वर्ष से, अपने उच्च-आदर्शों से पिछड़ा हुआ हिन्दू-समाज, केवल लकीर का फकीर रह गया था। मुस्लिम-समाज की भी ऐसी ही दशा थी, उनमें भी कोई सामाजिक विकास धार्मिक उच्चता और जीवनोपयोगी शान्ति नहीं थी। साम्प्रदायिकता ने दोनों जातियों को दुर्बल, संकीर्ण विद्वेषी बना रखा था। उधर अङ्गरेजों का रहन-सहन जातीय-भाव और विचार-स्वातंत्र्य बहुत बढ़ा-चढ़ा था, उनके समाज में स्त्री-जाति का पुरुषों के समान ही स्वत्व और उचित आदर था। उधर सामाजिक और धार्मिक स्वातंत्र्य तथा दृष्टिकोण भी उनके समाज में भारतीय समाज से कहीं अधिक प्रबल और विकसित था, जिसका प्रभाव हमारे देश के कुछ उच्चशिक्षाप्राप्त लोगों पर बड़ा गहरा पड़ा। उनके मन में देशवासियों की सब दुर्बलतायें दूर कर उन्हें उच्च बनाने की भावना प्रबल रूप से जाग उठी। अपने समाज को देश-कालानुसार बनाने का प्रयत्न भी उन्होंने पूर्णतः आरंभ कर दिया। उधर अंग्रेजों की शोषण-नीति को देखकर देश को स्वतन्त्र कराने की भावना भी उनमें उत्पन्न हुई।

साहित्यिक-स्थिति—देश के उच्च लोगों में जागृत इन भावनाओं ने साहित्य में भी अपना स्थान बनाया। किसी भी

देश के सच्चे साहित्यिक अपने युग के प्रतिनिधि होते हैं, उनका ध्यान देश और समाज की उन्नति की ओर सदैव लगा रहता है। हमारे इस समय के साहित्यिक भी सचमुच ही अपने युग के प्रतिनिधि थे। उन्होंने ऐसे साहित्य की सृष्टि की जो समाज में, देश में और व्यक्ति में नवजीवन का संचार करने वाला था। इस विषय पर स्थाई साहित्य ही न लिखकर उन्होंने समाचार पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ किया। जिनमें प्रकाशित लेख और कविताओं में नव-उत्साह, नव-चेतना और नव-प्राण भरा रहता था। देश के इन कर्मठ साहित्यिकों में बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायणमिश्र अम्बिकादत्त व्यास, राधाकिशन दास और बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन महानुभावों ने गद्य और पद्य-काव्य की दोनों शैलियों में जितना भी साहित्य लिखा है, उसमें देश की तत्कालीन अधोगति, अतीत-गौरव, समाज-सुधार, देशप्रेम और स्वातन्त्र्य-चेतना की भावनायें ओत-प्रोत हैं। निःसन्देह इन कवियों ने अंग्रेज बहादुर का भी गुणगान किया है किन्तु वह उसकी शासन-व्यवस्था, विचार-स्वातन्त्र्य और कर्तव्य-निष्ठता आदि गुणों के कारण था। जिससे प्रभावित होकर उनके मन में यह आशा हो चली थी कि अंग्रेजी राज्य में हमारे देश की भी काया-पलट हो जायेगी? इसलिए प्रारम्भ में उन्होंने अंग्रेजी-राज्य, जुबली, राजकुमार-जन्मोत्सव, राजकुमार-आगमन, सिक्खों सेना

की विजय, अंग्रेजी-शिक्षा, तार, रेल और डाक आदि की व्यवस्था पर खूब आनन्द प्रकट किया है, किन्तु जब उन्हें अंग्रेजों की शोषण-नीति का पूर्ण ज्ञान हो गया तो उन्होंने उसी अंग्रेज बहादुर द्वारा किये हुये आर्थिक-शोषण आदि का स्पष्ट शब्दों में निर्भीक होकर वर्णन किया। हाँ, उनकी निर्भीकता में यह कमी अवश्य रही कि सन् १८५७ की क्रान्ति में बलि हुए वीरों की याद में उन्होंने एक पंक्ति भी नहीं लिखी। किन्तु इसमें उनका कोई दोष नहीं है। अंग्रेजी-राज्य के आतंक और प्रतिबन्ध ने ही उनको क्रान्ति के इस रक्त-रंजित इतिहास का चित्र खींचने से विवश कर दिया था, अन्यथा जहाँ उन्होंने महाराणा प्रताप, शिवाजी चित्तौड़ और पंचनद आदि को स्मरण करके अश्रु बहाये हैं, वहां देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम में सर्वप्रथम आहुति देने वाले सपूतों की स्मृति वे न करते, यह कभी संभव नहीं कहा जा सकता। डा० हरदेव बाहरी के शब्दों में जो कवि रंगमहलों और दरबारों को छोड़कर झोपड़ियों और गलियों में, आदर्श को छोड़कर जीवन के यथार्थ साक्षात्कार में, कृत्रिमता को छोड़कर स्वाभाविकता में, बन्धन को छोड़कर स्वच्छन्दता में, शृङ्गार को छोड़कर वीर रस में और नायिका-प्रेम को छोड़कर देशप्रेम में अनुरक्त हुए हों। और जहां जिन्होंने देश के अतीत-गौरव का गान किया, तब वे देश के उन वीरों की याद न करते जो स्वतंत्रता के संग्राम में सर्वप्रथम बलि हुए थे यह कदापि संभव नहीं। तब उन्हें हम अंग्रेजों के भक्त

होने का दोष किस मुंह से दे सकते हैं। उन्होंने राज्य-भक्ति विषयक कवितायें लिखी अवश्य हैं, किन्तु राज्य-भक्ति के इस चित्रण में वे भारत की अतीत सुख-शान्ति और गौरव को नहीं भूल पाते, उनका संस्मरण उन्हें प्रतिपल बना रहता है।

कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य में स्वच्छन्द-काव्य-धारा के प्रणेता ये ही कवि हैं। निःसन्देह सब से पहले इन्होंने ही देश की तत्कालीन बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली में राष्ट्रीय चेतना का राग अलापा था। इन कविप्रवरों का प्रतिनिधित्व करने वाले श्रीभारतेन्दुजी हुए हैं। जिससे इस कालको हमने भारतेन्दु-काल से ही निर्दिष्ट किया है। इनका समय सं० १६२५ से प्रारम्भ होता है। इनसे पूर्व संवत् १६०० से १६२५ तक हमारे साहित्य में भक्ति और रीतिकाल की वह परम्परा ही चलती रही, जिसका उल्लेख हम पीछे के कालों में कर आये हैं। इन पच्चीस वर्षों में इस परम्परा में भाषा, भाव और शैली सम्बन्धी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इनका वर्ण्य-विषय राधा और कृष्णका वही प्रेम रहा, जिसका विवेचन रीतिकालीन काव्य में किया जा चुका है। इन कवियों में हम भाषासम्बन्धी वह विशेषता अवश्य पाते हैं कि इन्होंने ठेठ साहित्यिक ब्रजभाषा को ग्रहण न करके उसका बोल-चाल का तत्कालीन रूप ग्रहण किया है। जिससे इनकी कविता में बहुत कुछसामयिकता आगई है।

नवीन ब्रज-भाषा-काव्य

(संवत् १९००—)

यहाँ पर पहले हम उन कवियों का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने प्राचीन-परिपाटी में बंध कर ही कवि-कर्म की पूर्ति की है। ऐसे कवियों में कविवर सेवक ललित किशोरी, महाराज रघुराज सिंह रीवाँ-नरेश, कविवर सरदार, बाबा रघुनाथ दास रामस्नेही, राजा लक्ष्मणसिंह, लछिराम, गोविन्द गिल्ला भाई, नवनीत चौबे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से सेवक ने वाग्विलास नाम का एक नायिका-भेद ग्रंथ और एक नखशिख ग्रन्थ बरवा छन्द में लिखा था। इनका जन्म-संवत् १८७२ और मृत्यु-संवत् १९३८ है। ललित किशोरी जी प्रेम सम्बन्धी कितने ही पद और गज़लें लिखी हैं। वृन्दावन में इनका बनवाया हुआ साहजी का मन्दिर अब भी प्रसिद्ध है। रघुराज सिंह जी ने राम-स्वयंवर नाम का एक वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य रुक्मिणी परिणय, आनन्दाम्बुनिधि, रामाष्टयाम आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इनका जन्म-संवत् १८८० और मृत्यु-संवत्

१६३६ है। कविवर सरदारका कविता-काल संवत् १६०२ से सं० १६४० तक माना जाता है। इन्होंने साहित्य सरसी, वाग्विलास, षटऋतु, हनुमत भूषण, तुलसी भूषण, शृंगारसंग्रह, रामरत्नाकर, साहित्य-सुधाकर, रामलीला प्रकाश आदि कई काव्य ग्रन्थ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने कविप्रिया, रसिकप्रिया, सूर के दृष्टी कूट पदों और बिहारी सतसई आदि की बड़ी-बड़ी टीकायें भी लिखी हैं। इस काल के ये एक सिद्धहस्त और साहित्य-मर्मज्ञ कवि हुए हैं। बाबा रघुनाथ दास जी ने विश्राम सागर नाम के ग्रन्थ में पुराणों की संक्षिप्त कथायें बड़े सुन्दर ढंग से लिखी हैं। राजा लक्ष्मण सिंह जी ने मेघदूत का बड़ा ही ललित और मनोहर अनुवाद किया है। इस अनुवाद ग्रंथ से इनके कवि-हृदय का पूर्ण परिचय मिलता है। शकुन्तला के अनुवाद में पद्य भाग भी इनका बड़ा सरल और मधुर है। कविवर लछिराम भी पुरानी परिपाटी के इन कवियों में अपना अच्छा स्थान रखते हैं। इन्हें कई राजाओं से सम्मान प्राप्त हुआ था, जिनके नाम पर इन्होंने कई काव्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं।

गोविन्द गिल्ला भाई गुजरात के निवासी थे। इन्होंने भी कई काव्य-पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें नीति-विनोद, पावस पयोनिधि, शृङ्गार सरोजिनी, समस्या-पूर्ति-प्रदीप और प्रवीण सागर, वक्रोक्ति विनोद और श्लेष-चन्द्रिका आदि उल्लेखनीय हैं। नवनीत चौबे मथुरा के रहने वाले थे। इस परिपाटी के

अन्तर्गत इनकी भी बड़ी प्रसिद्धि रही है। इनका जन्म-संवत् १९१५ और मृत्यु-सम्वत् १९८९ है।

इन कवियों की काव्य-साधना के विषय में यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि इन्होंने किसी प्रकार की नवीनता अपने काव्य-ग्रन्थों में नहीं दिखाई। इनकी वर्णन-शैली, उपादान, भाषा और विषय आदि सब कुछ पिछले कवियों का पिष्ट-पेषण मात्र है। जो रचनायें इन्होंने शास्त्रीय ढंग पर की हैं, उनमें तो इनकी कोई भी मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। हाँ, अनुभूति-पोषित शिष्ट ढंग का प्रेम-काव्य लिखने में इनका कुछ अपनापन अवश्य झलकता है। वास्तव में ये उस संक्रांति-काल के कवि हैं, जब रीतिकालीन काव्य-परम्परा की समाप्ति और स्वच्छन्द-काव्य-धारा का प्रारम्भ होरहा था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका स्थान दो कालों की शृंखला जोड़ने के अतिरिक्त कोई विशेष महत्व का नहीं है।

आगे उन कवियों का उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने एक ओर तो हिन्दी-साहित्य की नवीन प्रगति में अपना सहयोग दिया और जो दूसरी ओर ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी का भी निर्वाह करते रहे:—

बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर—इनका जन्म काशी में संवत् १९२३ में और मृत्यु संवत् १९८९ में हरिद्वार में हुई। इन्होंने सम्वत् १९४६ से ब्रजभाषा में कविता करनी आरम्भ की थी। आरम्भ से ही इनकी कविता रीतिकाल के बड़े-बड़े

कवियों की टक्कर की होती थी। कहते हैं पहले ये बहुत समय तक पद्माकर के नाम से अपनी कवितायें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाते रहे थे। बाद में अपना नाम इन्होंने उस समय देना आरम्भ किया, जब कि इन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया था कि लोग इनकी कविता को पसन्द करते हैं।

काव्य-साधना—इन्होंने हरिश्चन्द्र, गंगावतरण और उद्धवशतक नाम के तीन प्रबन्ध-काव्य बहुत ही सुन्दर लिखे हैं। अङ्गरेज़ कवि पोप के समालोचना सम्बन्धी प्रसिद्ध काव्य ऐस्से ऑन क्रिटिसिज़्म (Essay on Criticism) का रोला छन्दों में अनुवाद भी इन्होंने अच्छा किया है। रत्नाकर के नाम से इनकी फुटकल रचनाओं का एक बहुत बड़ा संग्रह काशीनागरी प्रचारिणी सभा ने भी प्रकाशित किया है। इनकी फुटकल कवितायें शृंगार और वीर दोनों रसों की है। भाषा इनकी बड़ी चुस्त गठी हुई और साहित्यिक कोटि की है। इन्हें ब्रज भाषा-काव्य का मर्मज्ञ और अन्तिम प्रतिनिधि कवि माना जाता है। उक्ति-वैचित्र्य और सूझबूझ इनमें रीति-कालीन कवियों से भी अधिक बढ़-चढ़ कर देखने को मिलती है। गंगा-वतरण में इन्होंने गंगा के आकाश से उतरने और शिव की जटाओं में निवास कर संसार में प्रवाहित होने की कथा को बड़ी ही ओजपूर्ण और काव्यमयी शैली में वर्णन किया है। उद्धवशतक में इन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेमविषयक भ्रमर-गीत के प्रसंग को बड़े ही मार्मिक रचना-कौशल-पूर्ण ढंग से

लिखा है। इनका यह ग्रंथ भाव-प्रधान है। इसमें ये हमें भक्ति-काव्य और रीति-काव्य दोनों परम्पराओं में बहते हुए दिखाई देते हैं। भक्ति-कालीन भावनाओं को रीतिकालीन आलंकारिकता के साथ बड़े ही सुन्दर ढंग से इन्होंने इसमें व्यक्त किया है। इनकी गोपियाँ सूर की गोपियों की सी वैयक्तिक प्रेमनिष्ठा और नन्ददास की गोपियों की सी तार्किकता लिए हुए हैं। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग, मुहावरों की सार्थकता शब्द-चित्र-विधान और शब्द और अर्थ की स्वाभाविक मैत्री आदि इनकी कविता की विशेषता हैं। उदाहरण के लिये निम्न पंक्तियाँ देखिये—

कृपानिधान सुजान संभु हिय की गति जानी।
दियौ सीस पर ठाम बाम करि कै मन मानी॥
सकुचति ऐंचति अंग गंग सुख-संग लजानी।
जटा-जूट-हिम-कूट सघन बन सिमिटि समानी॥

× × ×

प्रेम-मद-छाके पग परत कहां के कहां,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है॥
कहै 'रतनाकर' यौं आवत चकात ऊधौ,
मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है॥
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बँहोलिनि जो आँस-अधिकाई है॥
एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ,
एक कर बंसी बर राधिका-पठाई है॥

राय देवीप्रसाद पूर्ण—इनका जन्म कानपुर में सम्वत १६२५ में और मृत्यु संवत् १६७१ में हुई। इन्होंने भी प्राचीन परिपाटी की शृंगारिक कविताओं के साथ-साथ भारतेन्दु से कुछ पहिले देश-भक्ति की भावनाओं से पूर्ण कवितायें व्रजभाषा में लिखी थीं, रसिक-वाटिका नामकी एक पत्रिका भी इन्होंने निकाली थी, जिसमें पुराने ढंग की कवितायें और समस्या-पूर्तियाँ प्रकाशित हुआ करती थीं। इनका ऋतु-वर्णन सेनापति की टक्कर का है। धराधर-धावन के नाम से इन्होंने कालिदास के मेघदूत का व्रजभाषा में बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। कुछ कवितायें इन्होंने नये ढंग की भी लिखी हैं। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इनका समय संवत् १६४१ से १६६८ तक रहा है। गद्य-लेखकों और समालोचकों में तो इनका स्थान प्रमुख है ही, किन्तु साथ ही व्रजभाषा काव्य के नवीन कवियों में भी इनका नाम आदर से लिया जाता है। इन्होंने एडविन आर्नोल्ड की लाइट आफ एशिया पर बुद्धचरित्र के नाम का एक प्रबन्ध-काव्य लिखा है। कविता के क्षेत्र में इन्होंने प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य का चित्रण आलम्बन रूप में करने का अधिक समर्थन किया है। अपने प्रकृति-वर्णन में इन्होंने इसी शैली का अनुसरण भी किया है। प्रकृति के स्वाभाविक रूप-चित्र उतारने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। उदाहरण नीचे देखिये—

भूरी हरी घास फूली सरसों है पीली-पीली,
पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी,
बांधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार।
जोड़ती है उसे नीले नभ मंडल से,
धुंधली सी नीली नागमाला ऊंची धुंआधार॥

सत्य नारायण कविरत्न—इनका जन्म-सम्वत् १९४१ और मृत्यु-संवत् १९७५ है। ब्रजभाषा के नवीन कवियों में इनका भी प्रमुख स्थान है। इन्होंने उत्तर-रामचरित और मालती माधव क अनुवाद बड़े ही सुन्दर किये हैं। ये हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओं के अच्छे विद्वान् थे। इनका रहन-सहन बिलकुल देहाती ढंग का था। ब्रज-भूमि ब्रज-भाषा और ब्रज-पति इन तीनों को ही ये अपनी निधि समझते थे। गार्हस्थ्य जीवन सुखी न होने पर भी सदा प्रसन्न रहते थे। इन्होंने मेकाले के अंग्रेजी खण्ड-काव्य होरेशस का पद्य-अनुवाद भी अत्यन्त सुन्दर किया है। इनके अनुवाद ग्रन्थों में बिलकुल मौलिक ग्रन्थों का सा आनन्द मिलता है। प्रेमकली और भ्रमर दूत इनकी अच्छी और बड़ी २ कविताएँ हैं। भ्रमरदूत के अन्त में इन्होंने देशकी सामयिक दशा का अच्छा आभास दिखाया

है। निम्न पद में कवि ने अपने दाम्पत्य जीवन की विषमता का प्रकाशन आराध्य 'मोहन' को संबोधित करके किया है—

भयो क्यों अन चाहत को संग।
सब जग के तुम दीपक, मोहन! प्रेमी हमहुं पतंग॥
लखि तव दीपति, देहशिखा में निरत, विरहलौ लागी।
खींचति आप सों आप उतहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी॥
यदपि सनेह भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग-वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात॥

वियोगी हरि—इनका जन्म संवत् १६५३ है। रत्नाकर जी के बाद ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि वियोगीजी ही हैं। ये भक्त दार्शनिक और वीररस प्रसिद्ध कवि, तीनों ही रूपों में देखने को मिलते हैं। इनकी भक्ति भावना की यह विशेषता है, कि ये कोरे हरि सेवक ही न होकर हरिजनों के भी सेवक हैं। इन्होंने छुआ छूत, रूढ़िवादिता और प्रतिमा-पूजन से दूर रह कर अपने इष्टदेव के सत्य रूप की आराधना की है। इनकी दृष्टि में संसार असार नहीं है, बल्कि ये इस संसार को साधना का क्षेत्र मानते हैं। अपने उपास्य का कोई आलम्बन न देख सकने पर भी ये उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा उस को सत्य और जीवन मान कर उसी के प्रेम में आकुल रहते हैं।

इनकी प्रसिद्ध रचना वीर-सतसई है। इसमें इन्होंने देश के प्राचीन और नवीन वीरों की वीरता का चित्रण बड़ी

ही ओजपूर्ण शैली में किया है। जहाँ बिहारी की सतसई का प्रत्येक दोहा शृंगार का साकार चित्र माना जाता है। वहाँ वियोगी जी की सतसई में हम उनके प्रत्येक दोहे को वीररस की साकार प्रतिमा के रूप में देखते हैं। नारी की भावभंगियों, तीखी चितवन और विलासी जीवन आदि वीररस के विरोधी उपादानों को लेकर कहीं २ पर वियोगी जी ने इतना मार्मिक उद्रेक किया है, कि पाठकों का हृदय वीरता से उमड़ने लगता है। इनकी सतसई की यही विशेषता है कि उसमें इनका भावपक्ष जितना प्रबल है, उतना ही कलापक्ष भी। रीतिकालीन कवियों की भांति कहीं कहीं पर वियोगी जी ने उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त आदि अलंकारों का बड़ा सुन्दर विधान भी किया है। इनके आलंकारिक विधान की यह विशेषता है कि वह इनके वीर रस का परिपाक करने में पूर्णतया सहायक है। विलासिता से जर्जरित जीवन और जाति में साहस ओज और वीरता का भाव भरने के लिये इनकी सतसई अचूक मंत्र है। जिन-जिन आलम्बनों का सहारा इन्होंने अपनी सतसई में लिया है वे कर्तव्य, उद्देश्य और जन-कल्याण पर आत्मोत्सर्ग करने वाले वे प्रसिद्ध भारतीय वीर अथवा महापुरुष हैं, जिनके नाम मात्र से ही हमारे हृदय में उत्तेजना होती है।

वियोगी जी ने केवल साहित्यिक जीवन ही व्यतीत न करके राजनैतिक जीवन में भी प्रवेश किया है। आप गांधी

जी के अनन्य भक्तों में से हैं, तथा आपने बहुत कुछ समय उनके साथ रह कर भी व्यतीत किया है, जिसके फलस्वरूप आपके जीवन और विचारों पर गांधीवाद का बड़ा गहरा प्रभाव है। हरिजनों के उद्धार के लिये आपने बहुत कुछ रचनात्मक कार्य्य किया है। हिन्दी-हरिजन का सम्पादन कार्य्य भी आप कुछ समय तक करते रहे हैं। आपने लगभग चालीस ग्रन्थ लिखे हैं। गद्य के साथ २ पद्य भी आपका उच्चकोटि का होता है। नीचे के पद में आपने हरिजन-भक्त के रूप में मन्दिर में छुपे हुये प्रभु से याचना की है—

> हम सब के भय देखि दुरे हो किधौं मंदिरन माँही।
> कै कछु डरत छपच मंदिन सों, छुवत न हमरी छाँहीं ॥
> पै इतहूँ नाहिं कुसल तुम्हारी, कब न छोम हम दैहैं।
> जो पै हियें प्रेम कछु ह्वै है, तुम्हें खैंचि मढ़ु लैहैं ॥

निम्न दोहों में वियोगी जी का देश-प्रेम देखिये—

> कोटि-कोटि आये भये, परि-पूजरित आज।
> बस तुम्हारे हाथ है, या धरनी की लाज ॥

❀ ❀ ❀

> पराधीनता दुख भरी, कटति न काटे रात।
> हा ! स्वतन्त्रता को कबौ, ह्वै है सुखद प्रभात ॥

प्रेम-शतक, प्रेम-पथिक और प्रेमाञ्जलि आदि इनकी फुटकल कविताओं के संग्रह हैं। चर्खा-स्तोत्र, चर्खे की गूँज

और असहयोग वीणा आदि कविताओं में राजनैतिक आन्दोलनों की गूँज का वर्णन भी इन्होंने अच्छा किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि देश के लिए त्याग करने वाले वीरों के प्रति इनके मन में जो अपार श्रद्धा है, वह हमें इनकी कविताओं में भी मिलती है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त श्री दुलारेलाल भार्गव ने भी ब्रजभाषा में बिहारी की सी प्रतिभा का चमत्कार अपने दुलारे-दोहावली में दिखलाया है। कुछ दोहों में देश-भक्ति, अछूतोद्धार और राष्ट्रीय आन्दोलन का समावेश भी इन्होंने अनूठेपन के साथ किया है। इनके साथ ही स्वर्गीय नाथूराम शंकर, लाला भगवान दीन, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, हरदयालु सिंह आदि ने भी ब्रज-भाषा-काव्य प्रस्तुत करने में अच्छा सहयोग दिया है। वैसे तो भारतेन्दु उनके समकालीन कवि, अयोध्यासिंह, जयशंकर प्रसाद आदि कवि भी प्रारम्भ में ब्रज-भाषा के ही कवि रहे हैं, किन्तु आगे चल कर ये खड़ी बोली में कविता करने लगे थे। उधर भारतेन्दु-काल के कवियों में भी ब्रज-भाषा का ही प्राधान्य रहा है, किन्तु इन कवियों ने राष्ट्रीय-चेतना पूर्ण काव्य लिख कर हिन्दी-कविता को स्वच्छन्द-काव्य-धारा का रूप दिया था। उधर गद्य रूप में तो ये खड़ी बोली के ही लेखक रहे हैं। इसलिये इनका उल्लेख हमने आगे भारतेन्दु-काल में पृथक् रूप से किया है।

भारतेन्दु-काल

राष्ट्रीय चेतना के कवि

(संवत् १९२५ से १९५०)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—इस काल के प्रतिनिधि कवि आप ही हैं। आपने गद्य-लेखक के रूप में हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है, उसका उल्लेख गद्य-काल में हो चुका है, वहीं पर हम इनके जन्म आदि के विषय में भी लिख आये हैं। यहाँ पर हम उनकी काव्यसाधना का उल्लेख करेंगे।

भारतेन्दु जी महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय के थे, इसलिये राधा-कृष्ण में इनका अचल अनुराग था। इन्होंने ब्रजभाषा में ही काव्य-साधना की है। इनकी अधिकांश काव्य-रचनायें प्राचीन शैली की ही हैं। जिसमें राधा-कृष्ण के प्रेम को श्रद्धा और भक्ति के साथ गाया गया है। प्रेम-रस से सिक्त ऐसे-ऐसे कवित्त और सवैये इन्होंने लिखे हैं कि जो आप से आप हृदय खींच लेते हैं, किन्तु प्राचीन कवियों की भाँति वे केवल राधा-कृष्ण के प्रेम और रीति-ग्रन्थों के मोह या

नारी की चाकचितवन पर ही मुग्ध नहीं रहे, अपितु उन्होंने देश-दशा जाति-ममता और भारतीय जनसाधारण पर भी दृष्टि डाली और धार्मिक संकीर्णता, सामाजिक कुरीति और देश-दुर्दशा आदि की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया। इस दृष्टि से हम इन्हें भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। जनसाधारण की स्थिति का चित्र खींचने वाले सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु जी हैं। इन्होंने हिन्दी कविता को नये-नये विषयों की ओर उन्मुख किया। इनके समय में छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्ध लिखने की एक सुन्दर परम्परा का उदय हुआ। इस शैली का कोई प्रबन्ध-काव्य यद्यपि इन्होंने नहीं लिखा, तथापि इस शैली का सूत्रपात बहुत कुछ इनकी ही प्रतिभा की देन है। क्योंकि जिन कवियों के द्वारा पद्यात्मक निबन्धों की यह शैली भाव प्रधान रूप में प्रारंभ हुई। उन सब में इनकी ही कला विद्यमान थी।

इनके काव्य में देश-भक्ति का स्वर अधिक ऊँचा रहा है। नीलदेवी और भारत-दुर्दशा आदि नाटकों में आई-हुई कवितायें तो इनकी इस विशेषता का परिचय देती ही हैं, इसके साथ ही इनकी स्वतंत्र कविताओं में भी देश के अतीत गौरव की गाथा, वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना और भविष्य चिन्तन की आशामयी भावना का अपूर्व संचार हुआ है। देश के प्राचीन आर्य-गौरव, आदर्श वीरों तथा देश के पुनीत इतिहास की स्मृति कराने वाले स्थानों को देख कर कहीं-कहीं

पर भारतेन्दु जी ने गर्व, क्षोभ और विषाद की जो त्रिवेणी प्रवाहित की है, वह पाठक अथवा श्रोता के हृदय पर इतना अद्भुत और मार्मिक प्रभाव डालती है, कि हिन्दू-हृदय उमड़ कर बहने लगता है—

> हाय ! वहै भारत- भुव भारी । सब ही विधि सों भई दुखारी ॥
> हाय ! पंचनद, हा पानीपत । आजहुं रहे तुम धरनि विराजत ॥
> हाय ! चित्तौर निलज्ज तू भारी । आजहुँ खरो भरतहि मंझारी ॥
> तुम में जल नहीं जमुना गंगा । बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा ?
> बोरहु किन झट मथुरा कासी । धोवहु यह कलंक की रासी ?

भारतेन्दु जी पर उनके राज्य-भक्त होने की आपत्ति इसलिए उठाई जाती है, कि उन्होंने विदेशी सत्ता का गुणगान किया, किन्तु इस विषय में यह विचारणीय प्रश्न है, कि इस प्रकार की कविताओं में उनका हृदय कहाँ तक बोल रहा है। इस विषय में हमारा यह दृढ़ निश्चय है कि यदि उनकी इन कविताओं का ध्यानपूर्वक मनन किया जाये, तो उनमें सामयिक भाव विशेष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अंग्रेजों के राज्य में सुख के जो साज सजने प्रारम्भ हुए थे और देश के लिए उन्होंने रेल, तार और डाक आदि की जो व्यवस्था की थी, उसे देखकर राजभक्ति का भाव उमड़ना बहुत कुछ स्वाभाविक था। बस, भारतेन्दु जी की राजभक्ति इसी स्वभाविकता तक सीमित समझनी चाहिए। इस के अतिरिक्त नीलदेवी और भारत-दुर्दशा आदि नाटकों में यह देखा जा सकता है, कि विदेशियों

की प्रशस्तियाँ लिखने वाला यह कवि उनके राज्य का कितना खोखलापन दिखला रहा है। केवल नाटकों में ही नहीं अपितु प्रभु-भक्ति में भी भारतेन्दु जी की देश-भक्ति प्रत्यक्ष दिखायी दे रही है। निम्न पंक्तियों में देखिये वे अपने आराध्य से क्या पुकार रहे हैं—

> कहाँ करुणानिधि केशव सोए ?
> जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ॥
> एक दिन वह हो जब तुम छिन नहीं भारत हित बिसराए
> इनके पशु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ॥

और भारत का धन विदेश में जाता हुआ देखकर उन्हें कितनी वेदना हुई थी यह भी देखिये—

> अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
> पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥

इसी प्रकार के और भी कितने ही उदाहरण उनकी काव्य-निधि में से उद्धृत किये जा सकते हैं। इसलिए हमारी दृष्टि में यह आपत्ति निरर्थक है।

भारतेन्दु जी की काव्य-साधना की यह सबसे बड़ी विशेषता है, कि उन्होंने कविता का सम्बन्ध जीवन से स्थापित किया है और जीवन के सभी पक्षों को काव्य-रूप देने में वे सफल भी हुए हैं। अपने समय में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि सभी समस्याओं पर उन्होंने अधिकार पूर्ण लिखा है। वे केवल प्रेम और भक्ति के गीतों से ही सन्तुष्ट

नहीं हुए, अपितु जीवन सागर का अवगाहन कर मधुर से मधुर और कटु से कटु अनुभवों का मार्मिक चित्र उन्होंने खींचा है, जिससे उनकी कविता नव-जीवन की सन्देशवाहिनी बन कर आई, और उसने देश में, समाज में और जाति में राष्ट्रीय चेतना और विकास के पूर्ण भाव भरे। निःसन्देह उन की कविता में उस कलात्मकता का अभाव है जो कि उसे आगे चलकर प्राप्त हुई, किन्तु इसका बहुत कुछ कारण विषयों की नवीनता और जन साधारण की भाषा का चुनाव है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कोरे कल्पना लोक और भाव जगत् में ही न विचर कर जीवन के संघर्षों से जूझते हुए, जीवन की कटुता से त्राण पाने का नव-विधान प्रस्तुत किया है। इसलिए उनमें भावानुभूति की अपेक्षा विचारों की प्रधानता अधिक है, किन्तु ऐसा उनकी उन रचनाओं में ही देखने को मिलता है, जो उन्होंने इतिवृत्तात्मक रूप में किसी समस्या का चित्रण करते हुए लिखी है। वास्तव में उनकी कविता में जीवन के यथार्थ रूप का प्रकाशन अधिक हुआ है, जिस में स्वभावतः ही कोमलता की अपेक्षा कठोरता और सुन्दरता की अपेक्षा स्वाभाविकता की गुंजाइश अधिक रहती है।

जीवन की नाना घाटियों से हटकर भारतेन्दु जी का ध्यान प्राकृतिक छटा के ऊपर भी गया है। इन्होंने गंगा और यमुना आदि के वर्णन में कूलों पर खड़े हुए पादपों, जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्र-छटा, विकसित कमल और जल तरंगों में क्रीड़ा करती

हुई ब्रजाङ्गनाओं की छवि के बड़े मार्मिक चित्र खींचे हैं। इनके इन चित्रों में यह कमी अवश्य रह गई है कि इन्होंने प्रकृति के विविध रूपों को उनके स्वतन्त्र रूप में चित्रित न करके, उन्हें मानवीय घेरे में बन्द करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त इनकी दृष्टि मानव-निर्मित प्रकृति-अट्टालिकाओं और घाटों आदि पर ही अधिक गई है। प्रकृति के उन्मुक्त स्वरूप का दर्शन इन्होंने कम किया है, किन्तु यह कोई दोष नहीं है, नगर की शोभा का चित्रण भी काव्य का ही विषय है। इनका यमुना वर्णन प्राकृतिक छटा का स्वाभाविक चित्रण है। तट पर खड़े हुए तमाल वृक्षों, जल में पड़ी हुई शैवाल, उनके मध्य में विकसित कुमुदिनी और उन पर छिटकी हुई पूनम की चांदनी का बड़ा ही सुन्दर चित्र इन्होंने खींचा है। जल में क्रीड़ा करते हुए अनेक पक्षियों, कमलों पर गुंजार करती हुई भ्रमरावलियों और तट पर नाचते हुए मोरों की छटा भी इन्होंने बड़ी सुन्दर दिखलाई है। उदाहरण के लिए यमुना वर्णन की चार पंक्तियाँ देखिये:—

> तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
> झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहु सुहाये॥
> किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
> कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥

भारतेन्दु द्वारा लिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग सौ के पहुँचती है, जिनमें चालीस-पचास पद्य-ग्रन्थ हैं, जो ब्रज भाषा

में लिखे गये हैं। सरल से सरल और दुरूह से दुरूह भाषा का प्रयोग इन्होंने किया है। उर्दू के ढंग की कुछ गजलें भी इन्होंने लिखी हैं, जिनकी भाषा बिलकुल उर्दू ही है। उर्दू के प्रभाव से इनके प्रेम-वर्णनों में वेदना की मात्रा भी पर्याप्त आ गई है। इस आधार पर यदि हम भारतेन्दु जी को प्रेम का कवि कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। वास्तव में उनका प्रेमी मन ही हमें देश-भक्ति और कृष्ण-भक्ति आदि नाना उच्च रूपों में परिणत हुआ मिलता है।

पं० बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन—(संवत् १९१४-१९८५) ये भी भारतेन्दु जी के समान ही धनवान्, प्रेमी जीव और हँसमुख व्यक्ति थे। इन्होंने बहुत थोड़ी ही पद्य-रचनायें की हैं। इनकी कवितायें अधिकतर विशेष विशेष अवसरों पर लिखी हुई हैं। देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति और सामाजिक दुर्दशा पर इन्होंने भी बहुत कुछ लिखा है। दादाभाई नौरोजी को जब विलायत में काला कह दिया गया था तो इन्हें बड़ा क्षोभ हुआ था और इन्होंने लिखा था—

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥
कारे काम, राम, जलधर जल-बरसन वारे।
कारे लागत ताही सों कारन कों प्यारे॥

इनकी अधिकतर रचनायें ब्रज भाषा में ही हैं। अन्तिम दिनों में कुछ कवितायें इन्होंने खड़ी बोली में भी लिखी थीं।

इनकी कविताओं का संग्रह 'प्रेमघन-सर्वस्व' के नाम से प्रकाशित हुआ है। जिन-जिन विषयों का वर्णन भारतेन्दु जी ने किया है। उन्हीं का आभास हमें इनकी रचनाओं में भी मिलता है। ये भारतेन्दु जी के पूर्णतः सहगामी थे।

पं० प्रताप नारायण मिश्र—(संवत् १६१३-१६५१) ये भी भारतेन्दु काल के एक जगमगाते हुए नक्षत्र हैं। देश-ममता जाति-ममता और भाषा-प्रेम इनके भी जीवन का सर्वस्व था। इनकी सारी रचनायें इन्हीं भावनाओं से भरी हुई हैं। इन्होंने कुछ पुस्तकें तो बंगला से अनुवाद करके लिखी हैं और लगभग पन्द्रह-बीस पुस्तकें इनकी अपनी लिखी हुई हैं।

प्रताप-संग्रह, मानस-विरोध, मन की लहर, लोकोक्तिशतक ब्रैडला-स्वागत इनके पद्य-ग्रंथ हैं। इन्होंने ब्रजभाषा में ही अधिक लिखा है। देश की तत्कालीन स्थिति का स्वाभाविक चित्र खींचने में इन्हें भी अच्छी सफलता मिली है, हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान का राग इन्होंने भी भारतेन्दु की तरह ही जीवन पर्यन्त गाया था।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—सं० (१६१५-१६५७) ये अपने समय के बड़े अच्छे वक्ता थे। संस्कृत धारा-प्रवाह बोल सकते थे। संस्कृत में भी इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। ये आशु-कवि थे, समस्याओं की पूर्ति तुरन्त कर लेते थे। पटना कालिज में प्रोफेसर के पद पर वे आजीवन नियुक्त रहे। बिहारी की

सतसई पर इन्होंने कुण्डलियां लिखी हैं। इनकी कुछ अन्तिम कवितायें खड़ी-बोली में भी मिलती हैं। जिनमें अंग्रेजी-राज्य के प्रति तत्कालीन असन्तोष का स्वर बड़ी तीव्रता से सुनाई पड़ता है। अपने समय में ये भी भारतेन्दु के समान ही प्रसिद्ध थे। हिन्दी की सेवा भी इन्होंने गद्य और पद्य दोनों रूपों में की है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द-गुप्त, ठा० जगमोहन सिंह, नवनीत लाल चतुर्वेदी, रायबहादुर लाला सीताराम आदि भी इस काल के कवियों में उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भी अधिकतर ब्रजभाषा काव्य में ही अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। इनकी कविताओं के विषय भी वैसे ही हैं, जैसे कि हमने ऊपर अंकित किये हैं। इन कवियों की कविता में काव्य-सौन्दर्य यद्यपि कम है, तथापि जन साधारण के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवनके नवीन रूप को साहित्य का विषय बनाने में ये कवि पूर्णतः सफल हुए हैं। इन्होंने अपने समय की समस्त भावनाओं को साहित्य के रूप में सुरक्षित रखने का महान् प्रयत्न किया है। इनकी रचनायें क्या हैं? मानो इनके समय की विभिन्न समस्याओं, परिस्थितियों और विचार-धाराओं का लिपिबद्ध रूप हैं। इस दृष्टि से जीवन और साहित्य के संविधान में सचमुच ही इस काल के कवियों ने अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।

द्विवेदी-काल
राष्ट्रीवादी कवि
(संवत् १९५० से १९७५)

सामान्य-परिचय—भारतेन्दु काल में हिन्दी-कविता को नये-नये विषयों की ओर तो अवश्य मोड़ा गया, किन्तु उसकी भाषा और काव्य का माध्यम वैसा ही रहने दिया गया जैसा कि रीतिकाल में था। द्विवेदी-काल में पहुँचकर भाषा और प्राचीन काव्य-माध्यम का प्रबल विरोध प्रारम्भ हुआ। इस काल के कवि पद्य-क्षेत्र में भी खड़ी बोली के प्रयोग का समर्थन कर रहे थे। इस समय ब्रजभाषा लोकभाषा नहीं रह गई थी, इसलिये ब्रजभाषा में लिखी गई कविताओं का सम्मान जनता द्वारा नहीं होता था। खड़ी बोली का एक रूप उर्दू के नामसे शिष्टवर्ग की भाषा बन चुका था, जो बहुत कुछ अरबी-फारसी के रङ्ग में रङ्गा हुआ, विदेशी था। उत्तर-पश्चिम भारत में खड़ी बोली के इसी रूप का प्राधान्य था। उर्दू-शायरी के सन्मुख ब्रजभाषा की कवितायें बहुत पुरानी और समय के विपरीत सी जान

-पड़ती थीं। इस लिए दूरदर्शी विद्वानों ने हिन्दी कविता की इस विषमता को अनुभव कर लिया था। वे खड़ी बोली का समर्थन कर रहे थे, किन्तु दूसरी ओर ब्रजभाषा के प्रेमियों को खड़ी बोली में पद्य-भाषा की उपयुक्तता दृष्टिगोचर नहीं होती थी। उनका विचार था कि काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली सफल हो ही नहीं सकती।

हिन्दी साहित्य में भाषा का यह वाद-विवाद काफी समय तक चलता रहा, किन्तु धीरे-धीरे खड़ी बोली का पक्ष लेने वाले विद्वान् विजयी हुए। सन् १६०० में सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हो जाने से खड़ी बोली के प्रचार और विकास में बहुत वृद्धि हुई। इसका सारा श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी को हो है। खड़ी बोली को परिमार्जित, व्याकरणसम्मत, मुहावरेदार और काव्य-उपयोगी बनाने का प्रशंसनीय कार्य उन्होंने ही किया है। इनकी प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे कवियों ने खड़ी बोली में काव्य-रचना प्रारम्भ की भाषा की दृष्टि से इन कवियों का समय प्रयोगात्मक होने के कारण इस काल की रचनाओं में मधुरता का प्राय अभाव है। वैसे भी इन कवियों ने कविता से प्रचार का काम अधिक लिया है-समाज-सुधार, देश-रक्षा और जातीय प्रेम आदि विषयों को लेकर लम्बे चौड़े उपदेश की प्रवृत्ति इन कवियों में प्रारम्भ में बहुत

अधिक पाई जाती है, जिससे इनकी प्रारम्भिक रचनायें इतिवृत्तात्मक अथवा वस्तुप्रधान मात्र रह गई हैं।

पुराण अथवा इतिहास से कुछ आख्यान लेकर या सामयिक घटनाओं पर इस प्रकार के पद्य इन्होंने लिखे हैं कि जिनमें वर्णनात्मकता के ही दर्शन अधिक होते हैं। इनके इन पद्यों की भाषा में प्रवाह तो पर्याप्त है, किन्तु भावो व्यञ्जना की उनमें नितांत कमी है।

खड़ी बोली में लाक्षणिकता और अभिव्यञ्जना का समावेश तो द्विवेदी काल के अन्तिम वर्षों में होता है। किंतु विषय-वर्णन की उपयोगिता, प्रांजलता, संस्कृत और हिन्दी के छन्दों की अनुकूलता आदि विशेषतायें इस भाषा को इस काल के पूर्वार्ध में ही प्राप्त हो जाती है। जिनका सारा श्रेय द्विवेदी मंडल के कवियों को ही है. इन कवियों ने इस भाषा को इसके अनुकूल छन्दों में प्रयुक्त करके पूर्णतः काव्योचित सिद्ध कर दिया।

साहित्यिकता--भाषा के अतिरिक्त इस काल के कवियों ने संसार और जीवन के वास्तविक अनुभवों का समावेश भी हिन्दी कविता में अच्छा किया है। इन्होंने संसार को ही स्वर्ग का द्वार माना है. तथा जीवन के सुख-दुःख, पाप, पुण्य आदि इन्हें समान रूप से प्रिय लगे हैं। इन्हें अपने चारों ओर की वस्तुओं से ममत्व है तथा ये प्रत्येक वस्तु में चाहे उसका सम्बन्ध जीवन के किसी भी क्षेत्र से क्यों न हो, सुधार चाहते

हैं। इनके लिए जनता की सेवा, दीन-दुःखियों की सहायता, पीड़ितों की सुरक्षा और देश की स्वतन्त्रता ही ईश्वर-अर्चना है। ये भारत में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उत्थान देखने के लिये लालायित हैं। इनके लिए देश सर्वोपरि है। किसी भी प्रकार की दासता इन्हें सह्य नहीं है। आर्थिक-शोषण को इन्होंने अभिशाप के रूप में देखा है। दीन-हीन किसानों, मजदूरों और समाज द्वारा सताये हुए व्यक्तियों के प्रति इनकी पूर्ण सहानुभूति है। इनकी धार्मिकता मानव-मात्र के प्रति उदारता और सहिष्णुता के रूप में प्रकट हुई है। इनके प्रेम का दृष्टि-कोण अत्यन्त व्यापक है, जो विश्वबन्धुत्व, मानव-मात्र की सेवा और कर्तव्य-पालन के नाना रूपों में प्रकट हुआ है। जीवन में प्रति-दिन घटित होने वाली घटनाओं की ओर से ये आँखें बन्द करके नहीं चले, अपितु दैनिक घटना के आधार पर ही इन्होंने उच्च कोटि के जीवन का विधान किया है। ये कवि पूर्णतः शान्तिवादी हैं। एक प्रकार से गांधीवाद ने इनकी रचनाओं में साहित्यिक रूप लिया है। इनके प्रत्येक कार्य कलाप में आत्म-विश्वास की दृढ़ता और मंगलमयी आशा का संविधान है। सत्य पर इनका अटल विश्वास है। भारतेन्दु कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और देश-भक्ति सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियों को इन्होंने अपने काव्य में नवीन रूप में विकसित किया है। इनमें विषयों की विविधता, अनेकरूपता, भाषा और भावना की उच्चता और अपनी-अपनी

व्यक्तिगत विशेषताओं का सौन्दर्य आदि सब कुछ उच्च कोटि का है। श्रीधरपाठक मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालशरण सिंह, रामनरेश त्रिपाठी और मक्खन लाल चतुर्वेदी आदि कवि इस काल के स्रष्टा हैं। इन्होंने अपने समय की प्रायः सभी घटनाओं को लेकर सुधार-वादी काव्य का सृजन किया है। किन्तु फिर भी इनका मुख्य विषय राष्ट्रप्रेम रहा है, इनकी नाना काव्य प्रवृत्तियों की इतिश्री राष्ट्रवाद के ही प्रमुख स्वर में होती है। इसलिये हमने इन कवियों की राष्ट्रवादी कवियों की श्रेणी में रखना ही उपयुक्त समझा है।

प्रकृति-चित्रण—राष्ट्रवादी-साहित्य-सृजन के अतिरिक्त हिन्दी-कविता को प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण की ओर भी सर्वप्रथम ये कवि ही लाए हैं। प्रकृति को आलम्बन मान कर इन्होंने उसकी नाना क्रीड़ाओं का स्वतंत्र रूप में चित्रण किया है। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम स्थान श्रीधर पाठक जी का है। इन्होंने देहरादून, काश्मीर, हिमालय और मन्सूरी आदि स्थानों की प्राकृतिक छटा का चित्रात्मक स्वरूप अंकित किया है। इनके अतिरिक्त लोचनप्रसाद पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, नाथूराम शंकर, मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि कवि भी प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्र उतारने में पूर्ण सफल हुए हैं। समस्त हिन्दी काव्य में प्रकृति

चित्रण हमें चार शैलियों में मिलता है, जिनमें से प्रथम शैली प्रकृति के स्वतंत्र रूप-चित्रण की है। इस शैली के अन्तर्गत ऋतुवर्णन, नगर वर्णन, शैल-वर्णन, समुद्रतट वर्णन, अरण्य-वर्णन और प्रभातवर्णन आदि आते हैं। इस ढंग का प्रकृति-वर्णन संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों में हमको मिलता है। रीतिकाल में यह शैली बहुत कुछ लुप्तप्राय सी हो जाती है। इस काल में षट्ऋतु और बारहमासा के वर्णन नायक नायिकाओं की वासनाओं को उद्दीप्त करने के रूप में तो अवश्य हुये हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप से उनका कोई चित्रण नहीं हुआ। इस काल के कवियों में प्रकृति-वर्णन की यह प्रथम शैली हमें फिर विकसित हुई मिलती है।

प्रकृति-वर्णन की दूसरी शैली संवेदनात्मक शैली है। इस में मनुष्य पर पड़ने वाले प्रकृति के प्रभाव के साथ-साथ प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन किया जाता है। इस शैली को प्रकृति-वर्णन की भावोद्दीपन शैली भी कह सकते हैं। रीतिकाल के कवियों ने इस शैली का वासनावृत्ति जगाने के लिए ही अधिक प्रयोग किया है, किन्तु इस काल के कवियों में हमें प्रकृति-वर्णन की यह शैली भी अति संयत और विकसित रूप में देखने को मिलती है। इन कवियों ने प्रकृति को मानवीय रूपों में देखा है। मानव के सुख-दुःख हर्ष और उल्लास आदि की छाया इन्हें प्रकृति में भी पूर्णतः दिखाई दी है। अयोध्यासिंह उपाध्याय का प्रकृति-वर्णन इसी शैली का

है। इनके अतिरिक्त अन्य कवि भी प्रकृति को मानवीय भावनाओं के अनुरूप चित्रित करने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

तीसरे ढंग का प्रकृति-वर्णन प्रकृति के सूर्य चांद, नक्षत्र, किंशुक आदि नाना उपादानों और उदय-अस्त की अनेक अनेक क्रियाओं को उपमान और रूपक आदि के आलंकारिक रूप में चित्रित करने का है। प्रकृति का यह रूपचित्रण हमें प्रायः हिन्दीके सभी कालों में मिलता है। इस कालके कवियों ने भी इस शैली का प्रयोग किया है। अपनी काव्योक्तियों को प्रभावोत्पादिनी और सुन्दर बनाने के लिए इन्होंने प्रकृति का यह आलंकारिक प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया है। इनको यह विशेषता रही है कि इन्होंने केवल रूप साम्य को ही न लेकर प्रभाव साम्य का भी ध्यान रक्खा है। इन्होंने यह देखा है कि प्रातःकाल आदि किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा पदार्थ विशेष का मनुष्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। और फिर उसके वैसे ही प्रवाह को इन्होंने चुना है इनकी दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य के बीच बहुत कुछ समता है। मनुष्य की शैशव, यौवन और वृद्धावस्थाओं की सी प्रक्रिया इन्हें प्रकृति के नाना पदार्थों में दृष्टिगोचर हुई है। उदाहरणार्थ कलिका में शैशव, विकसित फूल में यौवन, उसके मुर्झाकर गिरने में वृद्धावस्था, और अन्त में जीवन की समाप्ति का चित्र इन्होंने देखा है। इसी प्रकार प्रकृति की अन्य प्रक्रियाओं में भी इन्होंने मानव-जीवन की नाना प्रक्रियाओं को देखा है। जिसके रूपक इन्होंने बड़ी सफलता के साथ उतारे हैं।

प्रकृति-वर्णन की चौथी शैली पृष्टाधार चित्रण की है। इस शैली के अन्तर्गत किसी घटना विशेष का चित्रण करने से पूर्व प्रकृति का चित्रण पृष्ट-भूमि के रूप में किया जाता है। इस शैली का प्रयोग हिन्दी के प्राचीन कालों में हम बहुत कम पाते हैं, किन्तु इस काल के कवियों ने इसका प्रयोग भी बड़ी सफलता के साथ किया है। प्रिय प्रवास के प्रायः सभी सर्गों के आरम्भ में हम प्रकृति का ऐसा ही वर्णन पाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद की काव्यमयी भावना का जो उदय हुआ उसकी रूपरेखा बहुत कुछ द्विवेदी काल में ही प्रस्तुत हो चुकी थी। क्योंकि प्रकृति देवी के स्वाभाविक रूप-चित्रण और नाना विधानों का जो आकर्षण ये कवि लेकर चले उसका सरस और सजीव रूप ही हमें छाया-वादी और रहस्यवादी कवियों में देखने को मिलता है। इस काल के कवियों में भाषा, वर्णन और शैली की जो नीरसता मिलती है, उसे हम प्रकृति-प्रेम के इसी अमृत द्वारा प्रसाद युग में पूर्णतः सरस हुआ पाते हैं। वैसे इन कवियों की प्रारम्भिक रचनायें ही वर्णनात्मकता प्रधान हैं। अपनी अन्तिम रचनाओं में ये भी पूर्णतः भावुक हो चले हैं। किन्तु फिर भी हिन्दी-साहित्य में इन कवियों को राष्ट्रवादी कवियों का ही स्थान प्राप्त होता है। छायावादी श्रेणी में ये नहीं आते।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी—इनका जन्म-संवत् १९२३ और मृत्युकाल-संवत् १९९५ हैं। आप संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। हिन्दी साहित्य की सेवा कवि के नाते से आपने उतनी नहीं की, जितनी कि आचार्य के नाते से की है। खड़ी बोली को परिमार्जित करने और काव्य भाषा का रूप देने का सारा श्रेय आपको ही है। खड़ी बोली को संस्कृत के छन्दों में लिखने का आपने पूरा समर्थन किया। इस विषय में आपने उस समय सरस्वती पत्रिका में कई लेख भी निकाले और स्वयं भी संस्कृत के छन्दों में कविता करके तत्कालीन कवियों को प्रोत्साहित किया। कवितासृजन करने की अपेक्षा कवि-सृजन करने का कार्य आपने कहीं महत्वपूर्ण किया है। मैथिली शरण गुप्त, गोपाल शरण सिंह और अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि जैसे कवियों के निर्माता आपही हैं। गुप्तजी तो उन्हें अपने गुरु रूप में मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं। आपकी लिखी हुई कुछ कवितायें मिलती अवश्य हैं, किन्तु उन में हमें उस कवि हृदय का अभाव मिलता है जो कि पाठकों को किसी अपूर्व तन्मयता से उन्मत्त बनाया करता है। वास्तव में द्विवेदी जी को आचार्य कहना ही अधिक उपयुक्त है, कवि कहना नहीं।

पं० श्रीधर पाठक—इनका जन्म-संवत् १९१६ और मृत्युकाल संवत् १९८५ है। आरम्भ में ये ब्रज भाषा में ही लिखा करते थे। फिर समय की आवश्यकता का अनुभव करके

इन्होंने संवत् १९३१ में लावनी के ढंग पर एकान्तवासी योगी की रचना की जो अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथकी रचना का अनुवाद है। यह खड़ी बोली का सब से पहला ग्रन्थ था। इसके बाद गोल्डस्मिथ के ट्रैवलर(Traveller) का अनुवाद शान्तपथिक और डेजेरटेड विलेज (Deserted Village) का अनुवाद उजड़ गाँव के नाम से इन्होंने प्रकाशित किया। उजड़ ग्राम की रचना इन्होंने ब्रज भाषा में की है। इसके अतिरिक्त भारत गीत के नाम से इनके राष्ट्रीय गीतों का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। हिन्दी कविता को नये नये छन्दों और प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में लाने का प्रशंसनीय कार्य सर्वप्रथम आपने ही किया था। काश्मीर, देहरादून और मंसूरी आदि प्राकृतिक स्थानों की छटा को चित्रित करने में आप पूर्ण सफल हुये हैं। प्रकृति का आलम्बन रूप में सजीव चित्रण जिस भावुकता और स्वभाविकता के साथ इन्होंने किया है, उसके आधार पर हम इन्हें प्रकृति का भावुक निरीक्षक बड़ी सरलता से कह सकते हैं।

इनके अनुवाद ग्रन्थों की यह विशेषता है कि उनमें पाठक को मौलिक रचना का सा आनन्द मिलता है। इनके उपर्युक्त तीनों अनुवादित ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की परमनिधि हैं। मौलिक ग्रन्थों में हमें इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उनमें ये हमें आदर्श समाज-सुधारक, अनन्य देश-प्रेमी और प्रकृति के परम भक्त आदि अनेक रूपों में दिखाई देते हैं। विश्वसंचालक की संगीत ध्वनि को भी इन्होंने

अपनी स्वर्गीय वीणा में सुना है। इनकी इस कविता में रहस्य-वादी भावना का पूर्ण समावेश है—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
कोई पुरंदर की किंकरी है कि किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोगतप्ता सी भोगमुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है॥

पाठक जी संस्कृत और अंग्रेजी-काव्य-साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। इसलिए इनकी कविता और भाषा दोनों में माधुर्य और स्वाभाविक उन्माद है। इनकी भाषा में पूर्णभावव्यञ्जना है। शब्दचयन, पदविन्यास और छन्द-प्रयोग भी इनके बड़े सरस और मार्के के हैं। इनके कवित्व के विषय में यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वह पाठक जी के भावुक, प्रतिभाशाली और सुरुचिसम्पन्न कवि हृदय की वस्तु है। नीचे संध्याटन का दृश्य देखिये—

प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द निभ नील सु—
विशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा,
दिव्य हिम वारि की गोद का लाल-सा।
था प्रकार भूख की वासना से रहित,
याचना—रहित रस-बिन्दु, अन्वेषणा-
शून्य वा क्रीड़ना लग्न, कृतार्थ शिशु,

स्वर्ग गजराज के भाल का साज, या
कर्ण—उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा।

अनुवादित ग्रन्थों की भी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

आज रात इससे परदेशी चल कीजे विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं॥
तृण-शय्या औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निन्द्रा को मेरा आशीर्वाद॥

+ × +

प्राण पियारे की गुन-गाथा, साधु! कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥

पं० नाथूराम शंकर शर्म्मा—इनका जन्म सं० १९१६ और मृत्यु काल सम्वत् १९८८ है। ये भी आरम्भ में ब्रज भाषा के कवि थे। किन्तु बाद में खड़ी बोली में कविता करने लगे थे। समस्या पूर्ति करने में भी ये बड़े कुशल थे। इनकी प्रारंभिक कवितायें प्राचीन कवियों की सी उद्भावनाओं से पूर्ण हैं। कथन की चतुराई, बारीकी और अनूठी सूझ-बूझ इनमें भी वैसी मिलती हैं जैसी कि शृङ्गार के कवियों में रहा करती थी। नीचे की पंक्तियों में नायिका की आँखों का रीतिकालीन कवियों से भी बढ़ा चढ़ा वर्णन इनका देखा जा सकता है। यहां इन्होंने मयंक, मीन, सरोज, मृग और खञ्जन आदि कवियों द्वारा कहे हुए आंखों के उपमानों को अपनी नायिका की आँखों के सामने उड़ता हुआ दिखलाया है—

तेज ना रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मंयक मन्द मंद पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायेंगे।
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे।

शंकर जी आर्य-समाजी थे। इसलिए इनकी उन कविताओं में जो इन्होंने सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक अन्धविश्वासों के विरोध स्वरूप लिखी हैं बड़ी उग्रता आगई है। गर्भरण्डा रहस्य नाम का एक प्रबन्ध काव्य इन्होंने विधवाओं की दुर्दशा और देव-मन्दिरों का अनाचार आदि दिखाने के लिये लिखा था। अंग्रेजी सभ्यता में रंगे हुए फैशन प्रिय भारतवासियों की भी इन्होंने खूब खबर ली है। इनकी कविता में हमें सुधारात्मक प्रवृत्ति अधिक मिलती है। शृंगारी कविताओं में ही हमें इनका कुछ कवित्व देखने को मिलता है, अन्यथा इनकी अधिकतर कवितायें उपदेशात्मक होने के कारण काव्य तत्व से शून्य ही हैं। देश-प्रेम सम्बन्धी कवितायें भी इन्होंने लिखी हैं। कुछ कवितायें इनकी ऐसी भी हैं, जिनमें हमें इनकी दार्शनिक बुद्धि का परिचय मिलता है।

महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध—इनका जन्म-संवत् १६२२ और मृत्यु-संवत् २००४ है ये निजामाबाद के नि-

वासी थे। संस्कृत और फ़ारसी के अच्छे विद्वान थे। पहले आप कानूनगो बने। फिर इस पद से पेन्शन पाने पर कुछ समय तक साहित्य-सेवा में लगे रहे। इस काल में इन्होंने बंगला और अंग्रेजी साहित्य का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। फिर ये हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में अवैतनिक रूप से अध्यापन कार्य करने लगे और इस सेवा में जीवन पर्यन्त लगे रहे। काव्य-चर्चा और साहित्य-सेवा इनके जीवन की पूंजी थी। हिंदी साहित्य की जो सेवा इन्होंने की है उसके आधार पर हम इन्हें हिन्दी का महाकवि कह सकते हैं।

साहित्य-सेवा—इन्होंने ठेठ हिन्दी का ठाठ चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, अधखिला फूल (उपन्यास) रसकलस, प्रिय-प्रवास, वैदेहीवनवास और पारिजात आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं। केवल काव्य-ग्रन्थ ही नहीं आलोचनात्मक ग्रन्थ भी इन्होंने कई लिखे हैं। किन्तु इनका अधिक महत्व कवि के नाते से ही है। आरम्भ में ये ब्रज-भाषा के कवि थे। रसकलस इन्होंने ब्रज-भाषा में नायिका भेद को लेकर लिखा था। इसमें इन्होंने उत्तम प्रकृति की नायिकाओं—यथा परिवार-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, व जन्मभूमि-प्रेमिका, लोक-सेविका और धर्म-प्रेमिका आदि का उल्लेख करके रीति-ग्रन्थों के लिए एक नवनिधि का सृजन किया है। इन नायिकाओं के चित्रण में भी हमें इनकी राष्ट्रवादी प्रकृति का अच्छा परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए इनकी देश-प्रेमिका का चित्रण देखिये:—

गौरवित भवत अतीत-गौरवों ते होति,
गुरुजन गुरुता है कहती कबूलती।
मुदित बनति अवनीतल में फैलि-फैलि
कीरति की कलित-लता को देखि भूलती।
'हरिऔध' प्रकृति अलौकिकता अवलोकि,
प्रेम के हिंडोरे पै है पुलकित भूलती।
भारत की भारती-विभूति ते प्रभावित ह्वै,
भामिनी भली है भारतीयता न भूलती।

अन्तिम दो पंक्तियों में 'भारत की भारती-विभूति ते प्रभावित ह्वै।' भामिनी भली है भारतीयता न भूलती, 'हरिऔध' जी की राष्ट्रवादिता पूर्णतः अपजित होती है। इससे भी बढ़कर इनका राष्ट्रवादी स्वर इनके प्रियप्रवास, वैदेही वनवास, पारिजात और फुटकल संग्रहों में सुनाई पड़ता है। इनकी प्रसिद्धि के मुख्य स्तम्भ तीन ग्रंथ हैं, जिन पर हम क्रमशः यहां विचार करेंगे:—

प्रिय-प्रवास—इनकी ख्याति का सर्व प्रथम स्तम्भ यही ग्रन्थ है। यह श्रीकृष्ण की ब्रज से मथुरा-गमन तक की यात्रा को लेकर लिखा गया है। इसमें कथा की अपेक्षा वर्णनों की प्रधानता है। कथा तो केवल इतनी ही है कि अक्रूरजी कंस के निमंत्रण का संदेश लेकर श्रीकृष्ण और बलरामको लेने के लिए आते हैं और वे सारे ब्रज मण्डल को बिलखता हुआ छोड़ कर मथुरा आ जाते हैं। वहां आकर कंसका वध करते हैं और फिर

राज्यव्यवस्था में लग जाते हैं। बाद में ब्रज की सुधि आने पर ऊधो को वहां के नर-नारियों को समझाने के लिए भेजा जाता है। कृष्ण स्वयं लोकोपकार के व्रत में निरत होने के कारण वृन्दावन नहीं जा पाते। इससे नन्द-यशोदा, गोप-गोपियां, सखा और सखियाँ सभी इनके प्रेम में व्याकुल हो उठती हैं, प्रेम के इस प्रकरण में राधा को विश्व-प्रेम की दिव्यमूर्ति के रूप में चित्रित किया गया है। समस्त कथा सत्रह सर्गों में विभाजित है और ग्रंथ-रचना महाकाव्य के ढंग पर की गई है। महाकाव्य के जो तत्व हमारे आचार्यों ने लिखे हैं, उन सबका समावेश हमें इनके इस ग्रंथ में मिलता है, कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, सर्ग-विभाजन छन्दों की विविधता, रस, उद्देश्य और शैली आदि की दृष्टि से हम प्रिय-प्रवास को महाकाव्य ही कहेंगे। इसमें इन्होंने वियोग-शृङ्गार और वात्सल्य रस को प्रधानता दी है तथा कृष्ण को एक लोकप्रिय नेता के रूप में चित्रित किया है। इनका कृष्ण रासलीला और प्रेमलीला आदि से बहुत दूर कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित महापुरुष है, जिसमें लोक-संग्रह, लोक-व्यवस्था और देश-रक्षा आदि की उच्च भावनायें हैं। वह भगवान् नहीं बल्कि एक आदर्श पुरुष है। इसी प्रकार राधा भी विश्व-प्रेम के रंग से रंजित आर्य ललना है। उसके हृदय में दुःखी-जनों के प्रति पूर्ण सहानुभूति और सेवा का भाव भरा हुआ है। वह कृष्ण को लोकप्राणेश के रूप में देखती है। उसका प्रेम व्यष्टि से समष्टि और

समष्टि से विश्व-प्रेम में परिणत होता है। वह कृष्ण के व्यक्तित्व से नहीं, अपितु उनके समष्टिगत परमात्मरूप से प्रेम करती है। परमात्मरूप का भी उसे व्यक्तरूप यह गोचर जगत् ही अधिक प्रिय है। इसकी सेवा को ही वह परमात्म-सेवा अथवा कृष्णाराधना समझती है। इस लिए अपने आपको लोक-सेवा में लगा देती है। वह समस्त विश्व को अपने प्रियतम कृष्ण में, और सारे-विश्व में अपने प्रियतम कृष्ण के स्वरूप को अवलोकती है तथा दीनों की भगिनी, अनाथों की जननी, ब्रज-वासियों की आराध्या और विश्व की प्रेमिका बन जाती है। कृष्ण-भक्तों की राधा और हरि औधजी की इस राधा में कितना अन्तर है, इसपर पाठक गण स्वयं विचार करें—

विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के,
सारे प्राणी, सरित्, गिरि, लता, वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न संमान सेवा,
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है।

❀ ❀ ❀

पाती हूँ विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण प्यारा,
ऐसे मैंने जगत्पति को श्याम में है विलोका।

❀ ❀ ❀

दीनों की थी भगिनि जननी थी अनाथाश्रितों की,
आराध्या थी ब्रजअवनि की, प्रेमिका विश्व की थी।

प्रकृति-चित्रण—प्रिय प्रवास में प्रकृति-चित्रण भी हरि-औध जी की एक महान् विशेषता है। यदि हम यह कहें कि प्रियप्रवास को इस प्रकृति-चित्रण ने ही सरस और सजीव बना दिया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। प्रत्येक सर्ग के आरंभ में पृष्ठ भूमि के रूप में तथा उद्धव की यात्रा के दृश्यों में आलम्बन रूप में चित्रित करके प्रकृति का सजीव स्वरूप-चित्रण करने की पूर्ण क्षमता हरि औध जी ने दिखलाई है। उनका नायक कृष्ण प्रकृति की गोद में खेल-खेलकर ही बड़ा होता है। प्रकृति के कुसुमित प्रांगणों में ही उनकी लीलायें भी होती हैं। इतना ही क्यों राधा की भी प्रकृति के साथ पूर्ण आत्मीयता है। हरे-हरे पादपों को विलोक कर वह भी आत्मविभोर हो जाती हैं। केवल इस आत्मीय रूप में ही नहीं उपदेशात्मक रूप में भी इन्होंने प्रकृति को चित्रित किया है। कहीं-कहीं पर वृक्षों की नामावली भी गिनवाई है। सारांश यह है कि प्रकृति को जितने रूपों में हमारे काव्यकारों ने अब तक चित्रित किया है, प्रकृति के वे सभी रूप हमें प्रियप्रवास में मिलते हैं। निस्सन्देह इनका प्रकृति-वर्णन उच्च कोटि का है तथा मानव-प्रकृति और मानवेतर प्रकृति दोनों का ही चित्रण इन्होंने सफलतापूर्वक किया है, किन्तु इनके प्रकृति-वर्णन में यह बात अधिक खटकने वाली है कि जैसे हरे-भरे पर्वतों और जिन वृक्षों का उल्लेख इन्होंने किया है, वैसे मथुरा और व्रज के आस पास नहीं मिलते। जिसके आधार

पर यह कहा जा सकता कि प्रकृति-चित्रण में हरिऔधजी ने स्वाभाविकता का ध्यान नहीं रक्खा, यह नहीं सोचा कि प्राकृतिक छटा की जो झांकी वे उतार रहे हैं, वह उस स्थान में सम्भव भी है या नहीं, जिसका कि उनके कथानक से सम्बन्ध है। कुछ भी हो हिन्दी-कविता को प्रकृति के खुले प्रांगण में ले जाने वाले अग्रदूत हरिऔधजी ही हैं। हिन्दी में संस्कृत काव्यों का सा प्रकृतिवर्णन सर्वप्रथम इन्हों ने ह किया है।

सफल महाकाव्य—प्रियप्रवास की रचना उस समय हुई थी जब कि हिन्दी में और विशेष कर खड़ी बोली में ऐसा कोई भी प्रबन्ध काव्य नहीं लिखा गया था, जिसे महाकाव्य की श्रेणि में रक्खा जा सके। खड़ी बोली और बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य का यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जो महाकाव्य की शैली पर लिखा गया है। ऐसी स्थिति में यह सम्भव ही था कि इस में महाकाव्य की दृष्टि से कुछ ऐसे अभाव लक्षित होते जो सफल महाकाव्य में नहीं हुआ करते। जहां तक प्रश्न चरित्रचित्रण, कथाचयन और छन्दों आदि का है वहां तक तो प्रिय प्रवास में हमें कोई विशेष अभाव लक्षित नहीं होता। विशेष बात हरिऔधजी की वर्णनात्मक शैली और कथा-निर्वाह की है, जिसके कारण इस ग्रन्थ में हमें महाकाव्य का सा कथा-प्रवाह नहीं मिलता। इसका बहुत कुछ कारण हरि-औधजी का एक ऐसे कथानक को चुनना भी है, जो अब तक मुक्तक-काव्यका ही विषय रहा है। कृष्ण की मथुरा-गमन-

यात्रा पर मुक्तक पद ही अधिक लिखे गये हैं। इतना ही नहीं कृष्ण का जीवन प्रबन्ध के रूप में इस ग्रन्थ में ही सर्व-प्रथम देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त यह कथानक कृष्ण के जितने जीवन से सम्बन्धित है, उसमें कृष्ण का वह लोको-पहितकारी रूप नहीं आता, जिसका चित्रण हरिऔधजी ने किया है। इसलिये हरिऔधजी को कृष्ण की उन बाललीलाओं का सहारा लेना पड़ा है, जो उन्होंने लोकहित की दृष्टि से वृन्दावन में रहते हुए की थीं। ये लीलाएँ अधिकतर वर्णन रूप में आई हैं। इसलिये इनसे कथा को स्वाभाविक प्रवाह नहीं मिल सका। जीवन के नाना रूपों की अभिव्यक्ति भी प्रियप्रवास में नहीं हो पाई। प्रधानतया जीवन का बाल और यौवन रूप तथा उस से सम्बन्धित लीलाएँ ही देखने को मिलती हैं। जीवन के उन रूपों पर इसमें प्रकाश नहीं डाला गया, जहां लोक-व्यवस्था, मर्यादा और समाज-सेवा आदि जीवन का अंग बन कर आते हैं।

इसलिये राधा और कृष्ण को लोक-सेवा आदि में प्रवृत्त करना कवि का प्रयत्न सा लगता है। रामचरित्र की सी स्वाभाविकता उनके चरित्रों से लक्षित नहीं होती।

राष्ट्रीयता—हरिऔध जी ने राधा और कृष्ण-प्रेम की भावना में जो क्रान्ति उत्पन्न की है, उसका बहुत कुछ कारण उनकी राष्ट्रीय-भावना ही है। कोई भी व्यक्ति अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, फिर

साहित्यिक तो अपने युग का निर्माता होता है। इसलिये उसे अपनी काव्य-रचनाओं में सामयिकता का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। हरिऔधजी ने भी यह ध्यान रखा है। वे राष्ट्रवादी युग के कवि हैं, इसलिये उन्होंने राधा और कृष्ण-हिन्दुओं के चिरपरिचित नायक और नायिका को बहुत कुछ राष्ट्रीय रूप में चित्रित करने का यत्न किया है। कृष्ण में अपनी जन्मभूमि के प्रति पूर्ण श्रद्धा है और राधा भी देशवासियों की सेवा को ही ईश-सेवा समझती है। राधा और कृष्ण के विषय में हरि औध जी ने लिखा भी है—

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम-जैसे,
राधा-जैसी सदय-हृदया विश्व के प्रेम-डूबी,
हे विश्वात्मा ! भरत भुव के अंक में और आवें ॥

हरिऔध जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ ही उनकी राष्ट्रीय-भावना की पूर्ण व्यजंना करती हैं। उन्होंने कृष्ण को समस्त अवनिजन और निज देश का सच्चा स्नेही तथा राधा को विश्व के प्रेम में डूबी हुई कहा है और विश्वात्मा से निवेदन किया है कि भारत भूमि की अंक में ऐसे नर-रत्न और सदय-हृदया देवियां और भी उत्पन्न हों। कवि की इस याचना में भारतभूमि के मंगल और उत्थान की तीव्र ध्वनि लक्षित होती है। इतना ही नहीं उन्होंने राधा और कृष्ण को क्रियात्मक रूप में भी देश-सेवा और जन्म-भूमि-मंगल के हेतु अनेक कार्यों में निरत हुआ चित्रित किया है।

वैदेही-बनवास—हरिऔध जी का दूसरा महाकाव्य यही ग्रन्थ है। इसका कथानक वही है जो कि भवभूति के उत्तर रामचरित नाटक का है। इसकी कथा अठारह सर्गों में विभाजित है। जिसमें दुर्मुख नाम के धोबी की घटना के आधार पर श्रीरामचन्द्र जी सीताजी को बनवास देते हुए दिखाये जाते हैं। बाद में राम भी पूर्ण साधना का जीवन व्यतीत करते हैं, ठीक वैसा ही जैसा कि सीता तपोवन-भूमि में राम के अश्व-मेध यज्ञ का वर्णन भी इसमें हुआ है। कथानक की दृष्टि से वैदेही-बनवास में प्रियप्रवास की अपेक्षा पर्याप्त गतिशीलता है, किन्तु भारतीय समाज में चिर-परिचित सीता के बनवास की इस घटना को भी हरिऔध जी ने बहुत कुछ नवीन रूप में चित्रित किया है। भवभूति के राम लक्ष्मण के द्वारा सीता जी को चुप-चाप जंगल में भिजवा देते हैं, किन्तु हरिऔध जी के राम ऐसा नहीं करते। वे पहले वशिष्ठ आदि गुरु-जनों, मन्त्रियों, भाइयों और प्रजा-जनों से मन्त्रणा करते हैं और जब सब का निर्णय सीता जी का त्याग कर देना ही होता है, तो वे उन्हें वाल्मीकि जी के आश्रम में भिजवा देते हैं। सीताजी को त्याग की यह सूचना जाने से पूर्व भवन में ही दे दी जाती है। इसी प्रकार के परिवर्तन हरिऔध जी ने इस कथानक में और भी किये हैं, जिससे कथानक पूर्णतः युक्ति-संगत और स्वाभाविक बन सका है।

इस ग्रन्थ की रचना में हरिऔध जी का क्या दृष्टिकोण रहा है ? इस विषय में उन्होंने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है—

'महाराज रामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम, लोकोत्तरचरित और आदर्श नरेन्द्र अथच महीपाल हैं, श्रीमती जनक नन्दिनी सती-शिरोमणि और लोक-पूज्या आर्यबाला हैं। इनका आदर्श आर्य-संस्कृति का सर्वस्व है, मानवता की महानीय विभूति है, और है स्वर्गीय-संपत्ति-सम्पन्न। इसलिए इस ग्रन्थ में इसी रूप में इसका निरूपण हुआ है सामयिकता पर दृष्टि रखकर इस ग्रंथ की रचना हुई है। अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धिसंगत बनाने की चेष्टा की गई है।'

हरिऔध जी का यह दृष्टिकोण हमें वैदेही-बनवास में पूर्णतः चरितार्थ हुआ मिलता है। राम और सीता के चरित्र द्वारा उन्होंने एक आदर्श प्रजापति और आदर्श महारानी का चरित्र उपस्थित किया है। राजा का देश और जनता के प्रति क्या कर्तव्य है तथा किसी देश की महारानियों में कितनी सहनशीलता, और कितनी कर्तव्य-परायणता होनी चाहिये इसका चित्र उन्होंने राम और सीता के त्याग और साधनामय जीवन द्वारा अंकित किया है। हरिऔध जी की इस सीता में भी उतनी ही कर्तव्य-परायणता और त्याग की भावना है जितनी कि राम में। वे पतिव्रत को पूरा करने के लिए परित्यक्ता का जीवन व्यतीत करना वह हृदय से स्वीकार करती हैं। लोक-आराधना के लिए वे कितनी उत्सुक हैं, इसका पता निम्न पंक्तियों से लगता है—

सदा करेगा हित सर्व भूत का,
न लोक-आराधन तजेगा।
प्रणय-मूर्ति के लिये मुग्ध हो,
आर्त-चित्त आरती सजेगा ॥

उधर राम भी लोक-आराधना को ही राजा का प्रमुख कार्य मानते हैं। गुरुदेव वशिष्ठ ने भी राम को अपना मत देते हुये समान-नीति और लोक-आराधना को राजनीति और नृप को गौरवित करने वाली कहा है—

समाननीति का मैं विरोध कैसे करूँ,
राजनीति को वह करती है गौरवित।
लोकाराधन ही प्रधान-नृप-धर्म है,
किन्तु आपका मत विलोक मैं हूँ चकित।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरि औध जी ने वैदेही-वनवास में अपने समय की राजनैतिक समस्या का कितना समाधान किया है ? वैदेही-वनवास की रचना के समय भारत में अंग्रेजों का राज्य था, जिसके विरुद्ध भारतीय जनता विद्रोह कर रही थी। उस विद्रोह को अंग्रेजी सत्ता आतंक से दबा देना चाहती थी। हरि औध जी ने महाराज राम के रूप में एक आदर्श नरेश का चित्रण कर तत्कालीन शासकों के सन्मुख राजा का एक आदर्श रूप उपस्थित किया था तथा भारतीय जनता को यह दिखलाया था कि जिस राम और सीता

को वे केवल भगवान् और उसकी शक्ति समझे बैठे हैं वे आदर्श नरेश और महारानी भी थे।

सफल महाकाव्य--हरि औध जी का यह ग्रन्थ प्रिय प्रवास की अपेक्षा महाकाव्य की विशेषतायें अधिक लिये हुए है। यद्यपि कथानक इसमें भी हरि औध जी ने ऐसा ही चुना है कि जहाँ राम के जीवन का लोक रूप बहुत कम रह जाता है। राम के पूर्व चरित में जीवन की सर्वांगीणता के जितने दर्शन होते हैं, उतने उत्तर-चरित में नहीं होते। तथापि फिर भी हरिऔध जी ने इस कथानक में ऐसे स्थल ढूँढ निकाले हैं कि जिनमें हमें राम और सीता के उत्तर चरित की झलक के साथ-साथ जीवन-मयी-लोकोपयोगिता के भी पूर्ण दर्शन होते हैं। इसके साथ ही उत्तर-राम चरित के उस कारुण्य स्वर को भी हरि औध जी ने पूर्णत: सुरक्षित रक्खा है, जिसकी गूँज हमें भवभूति के उत्तर राम--चरित-नाटक में सुन पड़ती है। हरिऔध जी का यह कारुण्य विप्रलंभ श्रृंगारजनित कारुण्य की श्रेणी में आता है। राम और सीता को उन्होंने आदर्श दम्पति के रूप में भी चित्रित किया है। इस लिये सीता के त्याग पर वियोग की वह ध्वनि भी हमें सुनाई पड़ती है, जो कि पति-पत्नी के बिछुड़ जाने पर स्वभावत: हृदय की टीस बन कर हुआ करती है, किन्तु स्मरण रहे हरि औध जी ने वियोग के इस चित्रण में भी बड़ी संयत, गम्भीर और आदर्श शैली का

अनुसरण किया है। राम और सीता के मर्यादापूर्ण जीवन की महिमा को वे किसी स्थल पर भी नहीं भूले।

प्रकृति-वर्णन भी वैदेही-वनवास में वैसा ही उच्चकोटि का है जैसा कि उन्होंने प्रियप्रवास में किया है। इस में भी प्रकृति को आलम्बन, उद्दीपन, पृष्ठाधार और संवेदनात्मक आदि कई रूपों में चित्रित किया गया है। प्रत्येक सर्ग के आरंभ में पृष्ठाधार के रूप में प्रकृति के मनोहारी दृश्य इस ग्रंथ में भी उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से चित्रित किये हैं।

विशेषता—इस ग्रन्थ की रचना प्रियप्रवास की तरह संस्कृत के अतुकान्त वर्णिक वृत्तों में न होकर हिन्दी में प्रचलित-मात्रिक और तुकान्त छन्दों में हुई है। भाषा भी प्रियप्रवास की तरह संस्कृत गर्भित न हो कर सरल हिन्दी है। निःसन्देह खड़ी बोली के बृहदाकार-ग्रन्थों में वैदेही-वनवास का एक महत्व-पूर्ण स्थान है, किन्तु सफल महाकाव्यों की श्रेणी में हरिऔधजी के इस ग्रंथ को भी नहीं रखा जा सकता।

पारिजात—यह ग्रंथ हरिऔध जी की हिन्दी-साहित्य को अन्तिम देन है। हरिऔध जी ने इसे आध्यात्मिक और आधिभौतिक-विविध-विषय-विभूषित एक महाकाव्य कहा है, किन्तु इस ग्रन्थ को महाकाव्य कहना महाकाव्य की एक नवीन रचना शैली को जन्म देने के समान है। क्योंकि महाकाव्य की जो कसौटी हमारे यहाँ अब तक निर्धारित है, उसकी दृष्टि से तो यह महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। न इसमें कोई कथा

है न नायक-नायिका आदि ही। वास्तव में यह ग्रन्थ दृश्य जगत् अन्तर्जगत् , सांसारिकता, स्वर्ग, कर्म-विपाक, प्रलय-प्रपञ्च, सत्य का स्वरूप और परमानन्द आदि शीर्षकों में लिखित-स्फुट विषयों का एक संग्रह मात्र है। इसमें हरिऔध जी दार्शनिक, धर्मप्रचारक और कहीं-कहीं पर राजनैतिक वक्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। विश्व-प्रेम, लोक-हित की व्यापक भावना और देश-प्रेम आदि विषयों को लेकर कहीं-कहीं पर इस ग्रंथ में सामयिकता का समावेश भी हरिऔध जी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। प्रकृति-चित्रण जो हरिऔध जी के काव्य की प्रमुख विशेषता है। इस ग्रन्थ में भी पूर्णतः मिलता है। प्रभात और प्रभाकर आदि शीर्षकों में प्रकृति का अच्छा वर्णन हुआ है। मातृभूमि-प्रेम अथवा देश-वन्दना भी हरिऔध जी का वर्ण्य विषय इस ग्रन्थ में रहा है। छन्दों की दृष्टि से इसमें वर्णिक और मात्रिक दोनों ही तरह के छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा भी मिश्रित है, कहीं वह सरल हिन्दी का रूप लिए हुए है तो कहीं पर पूर्णतः संस्कृत का।

ऊपर वर्णित ग्रंथों की अपेक्षा फुटकर काव्य-ग्रन्थों में हरिऔध जी का राष्ट्रीय रूप अधिक देखने को मिलता है। वसन्तादि प्राकृतिक दृश्यों तथा भारत के नव युवकों को संबोधित करते हुए अपनी कुछ फुटकर रचनाओं में हरिऔध जी ने देश-प्रेम, विश्व-जागृति जातीय-महिमा और भारतीयता आदि राष्ट्रीय-विषयों का सुन्दर वर्णन किया है। इनकी राष्ट्र-

वादिता वर्तमान राष्ट्रवादिता तो नहीं कही जा सकती, क्योंकि वर्तमान राष्ट्रवादिता में तो जातीयता की भावना को तुच्छ समझा जाता है। हरिऔध जी जातीय-गौरव को प्रधान मानकर चले हैं। वास्तवमें वे हिन्दू संस्कृति और भारतीय राष्ट्र के समर्थक कवि हैं। उन्होंने देशप्रेम को महत्ता दी है और जाति के मूल्य को समझने का प्रवचन किया है—

जाम-हित देश-प्रेम-रविच्योति, आंख की मिज भावों की खोल।
त्याग करके निजता- अभिमान, जाति-ममता का समझो मोल॥

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त—इनका जन्म संवत् १९४३ चिरगांव जिला झांसी में हुआ था। संवत् १९६३ से इनकी कवितायें सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित होने लगी थीं। संवत् १९६६ में इन्होंने रंग में भंग नाम का एक छोटा सा प्रबन्ध काव्य लिखा था। इसके बाद प्रबन्ध-काव्यों की रचना की ओर इनका ध्यान सदैव रहा है और अब तक ये तीस पैंतीस प्रबन्ध और काव्य मुक्तक-काव्य लिख चुके हैं। जिनमें इनका राष्ट्रवादी स्वर सर्वप्रधान रहा है। इसी आधार पर हिन्दी का प्रतिनिधि राष्ट्रवादी कवि इनको ही कहा जाता है। इनकी रचनाओं को श्रीधर्मेन्द्र जी ने निम्नलिखित तालिका में विभाजित किया है—

संख्या	स्रोत श्रेणी	रचनाएं
१	राष्ट्रीय, जातीय या सामाजिक	भारत-भारती, स्वदेश-संगीत वैतालिक, किसान
२	रामचरित-मूलक	साकेत, पंचवटी
३	कृष्णचरित-मूलक	द्वापर
४	बौद्ध संस्कृत-मूलक	यशोधरा अनघ
५	हिन्दू संस्कृति-मूलक	हिन्दू, विकट-भट, रंग में भंग पत्रावली
६	सिक्ख संस्कृति-मूलक	गुरुकुल
७	पुराण-मूलक	चन्द्रहास, शकुन्तला तिलोत्तमा, शक्ति
८	महाभारत-मूलक	जयद्रथ-वध, सैरन्ध्री बक संहार वन-वैभव, नहुष
९	विविध संग्रहात्मक	मंगल घट, झंकार

उपर्युक्त तालिका के अतिरिक्त गुप्तजीने सिद्धराज(मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति मूलक) काबा और कर्बला, (मुस्लिम संस्कृति-मूलक कुणाल आदि रचनायें और लिखी हैं जिनमें पाठक देखेंगे कि गुप्त जी की काव्यधारा का स्रोत हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख और मुसलमान आदि सभी संस्कृतियों से प्रस्फुटित हुआ है तथा उन्होंने पौराणिक ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, आदि सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। और प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। इतना ही नहीं

उन्होंने बंगला से नवीनचन्द्र सेन के 'प्लासी का युद्ध' माइकेल मधुसूदन दत्त के विरहिणी ब्रजांगना और मेघनाथ वध, संस्कृत से भासके 'स्वप्नवासवदत्ता,' फारसी से उमर खैयाम के रुबाइयात-उमर खैयाम' आदि ग्रन्थों के सफल अनुवाद भी किए हैं। निस्सन्देह गुप्त जी ने आधुनिक हिन्दी-पद्य-साहित्य को जितना सम्पन्न और शक्तिशाली बनाया है, उतना कोई अन्य कवि नहीं बना सका। जब हम यह देखते हैं कि गुप्त जी ने गीति-काव्य और महाकाव्य आदि काव्य की सभी प्रौढ़ शैलियों में पूर्ण क्षमता के साथ लिखा है, तथा राम और कृष्ण के जीवन को फिर से भारतीय काव्य-भूमि की वस्तु बनाया है तो हमारे सामने तुलसी और सूर की प्रतिभा सी खड़ी हो जाती है। वैसे गुप्त जी को हम राम-काव्य धारा का ही कवि कहेंगे। क्योंकि इन्होंने राम के जीवन को ही अधिक श्रद्धा और तल्लीनता के साथ गाया है। इतना ही नहीं जैसे तुलसी ने कृष्ण की मोहिनी छवि के सामने अपना सिर झुकाने में असमर्थता प्रकट की थी—

कहा कहौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥

वैसे ही गुप्त जी ने भी अपने ऊपर राम के अतिरिक्त श्याम का रंग चढ़ने में अपने हृदय की स्पष्टता का प्रकाशन द्वापर लिखते समय किया है —

धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग।

किन्तु श्याम के सम्मुख मस्तक न नवाते हुए भी जैसे तुलसी ने श्याम के ऊपर लिखा था, वैसे ही गुप्त जी ने भी कृष्ण-चरित्र पर लिखा अवश्य है, किन्तु उनका हृदय राम के चरित्र में ही अधिक लीन हुआ है। इस दृष्टि से आधुनिक काल का तुलसी यदि हम गुप्त जी को कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। वैसे गुप्त जी में समन्वय भावना की प्रधानता है। उनका दृष्टि-कोण व्यापक और गंभीर है। धर्म अथवा जाति की संकीर्णता से वे दूर हैं। वे उच्चता के चितेरे हैं और यह उच्चता उन्हें व्यक्ति, समाज, देश, जाति अथवा धर्म आदि में, जिस स्थान पर भी दृष्टिगोचर हुई है, उसे वहीं से समेट कर इन्होंने हिन्दी काव्य की विभूति बनाया है। हिन्दू-मुसलमान, छूत-अछूत ऊँच-नीच आदि का ध्यान इस विषय में इन्होंने किया ही नहीं। किन्तु फिर भी वे हिन्दू जाति और हिन्दू-संस्कृति के कवि हैं, उनके जीवन में जो हिन्दुत्व और भारतीयता है, वही हम उनके काव्य ग्रन्थों में भी पाते हैं। उन्हें अपने देश, भाषा, संस्कृति और जाति पर गर्व है। उन्होंने अपने काव्य ग्रन्थों में प्राचीन और नवीन की अद्भुत झाँकियाँ दिखाई हैं रामायण-काल, महाभारत-काल, बौद्ध-काल और राजपूत-काल आदि इतिहास के अतीत खण्डहरों में से ऐसे २ कथानक वे ढूँढ कर लाये हैं कि जहाँ पर हमारे भारतीय जीवन की पूर्ण गरिमा जगमगा रही है, और हमारे वर्तमान समय की नाना समस्याओं की प्रतिछाया भी झलक रही है। उनके काव्य

ग्रंथों को पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि उन्होंने जीवन की उन नाना विधाओं पर कलात्मक छींटे डाले हों जो कि मानव को समय-समय पर उत्थान और पतन की ओर ले जाती रही हैं। उनकी रचनाओं में जीवन है, कर्तव्य की प्रेरणा है और मंगल की ऊँची भावना है। उन्होंने कला को जीवन के लिये संजोया है और ऐसे काव्य का सृजन किया है, कि जो किसी काल में भी फीका न पड़ सके। उनकी प्रतिभा समयानुगामिनी है। लकीर का फकीर होने और अन्धानुकरण करने का विरोध उन्होंने बड़े प्रबल शब्दों में किया है। वर्तमान और अतीत के अनेकों प्रमाण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वही व्यक्ति, राष्ट्र अथवा समाज अपने आपको विश्व में सुरक्षित रख सकता है, जो अपना निर्माण समय की आवश्यकतानुसार कर सके।

भारत के अतीत गौरव आदि का जो चित्रण उन्होंने किया है, वह अधिकतर इसी दृष्टि से कि हम अपने अतीत से प्रेरणा प्राप्त करें। उनकी दृष्टि में पीछे प्रमाण न खोजकर स्वयं प्रमाण बनना श्रेयस्कर है। द्वापर में उनका बलराम इसी प्रकार के विचार प्रकट करता है:—

> खोजो तुम न प्रमाण खोजते, बनो प्रमाण स्वयं ही,
> पीछे मिलते पृष्ठ-पोषक हैं, पर भविष्य तो आगे।
> यदि अपना परिणाम न देखें, तो हम व्यर्थ अभागे॥

काव्य-साधना—गुप्त जी ने तीस पैंतीस ग्रंथ लिखे हैं पाठकों को उन सब में काव्यत्व नहीं मिलेगा। उनमें से

अधिकतर ग्रन्थ पद्य-बद्ध प्रबन्ध-काव्य हैं, जिनमें कोई आदर्श जीवन-चरित्र अंकित किया गया है। पञ्चवटी से पहले की रचनायें प्रायः इसी श्रेणी की हैं, जिनमें हमें गुप्तजी की प्रबन्ध पटुता के दर्शन तो होते हैं, किन्तु काव्यत्व के नहीं। वैसे काव्यत्व पूर्ण रचनायें गुप्त जी की पांच-सात ही हैं। जिनमें पञ्चवटी, यशोधरा, साकेत और द्वापर उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में हमें गुप्त जी की काव्य-कला और जीवन-कला दोनों का सुन्दर समन्वय मिलता है। इन ग्रन्थों पर संक्षेप में यहां प्रकाश डाला जायेगा—

पञ्चवटी—यह गुप्त जी का एक खण्ड काव्य है। इसमें राम, सीता और लक्ष्मण के उस जीवन की झलक दिखाई गई है, जो निर्वासित काल में इस छोटे से परिवार ने पञ्चवटी में व्यतीत किया था। प्रकृति के स्वच्छ प्रांगण में हृदय की निर्मलता और जीवनकी शुद्धता के साथ एक छोटा सा परिवार शान्तिमय वातावरण में रह रहा है, जिसकी शान्ति भंग करने के लिये शूर्पणखा प्रवेश करती है और नाक-कान कटवा कर असफल होती है। इसमें गुप्त जी ने प्रो० धर्मेन्द्र जी के शब्दों में हृदय की विषादमयी अनुभूति पर विजयप्राप्त करने वाली आनन्दानुभूति का अमर सन्देश अंकित किया है। वह इसलिये कि गुप्त जी ने इसमें लक्ष्मण सीता और बहुत कुछ राम को भी हास-परिहास-पूर्ण रूप में चित्रित किया है। कुछ आलोचकों ने पंचवटी की सीता और लक्ष्मण

पर आधुनिक भाभी-देवर के चरित्रकी छाप पड़ने की आपत्तिभी इस लिए उठाई है, जो बहुत कुछ ठीक है। क्योंकि जिस लक्ष्मण को तुलसी ने सीता के गले के आभूषण तक पहचानने में असमर्थ चित्रित किया है, वह पंचवटी में सीता जी से प्रेम-मूलक विषयोंको लेकर परिहास करते हुये दिखलायागया है। सीता भी इस क्षेत्र में कम नहीं है। शूर्पणखा और लक्ष्मण का पारस्परिक सम्वाद सारी रात चलता रहता है, जिसमें लक्ष्मण अपने पथ से विचलित नहीं होते। किन्तु प्रातः काल होने पर सीता पहले लक्ष्मण से और फिर उस नवागन्तुका रमणी से कहती है:—

कब से चलता है बोलो यह,
नूतन शुक-रम्भा-संवाद।

\+ + +

अजी खिन्न तुम न हो, हमारे ये देवर हैं ऐसे ही,
घर में ब्याही बहू छोड़ कर यहां भाग आये हैं वे।

उद्धृत पंक्तियां व्यंग्य की जिस दिशा में ले जाती हैं, वह सचमुच ही उस सीता और लक्ष्मण के जीवन की वस्तु नहीं है जो भारतीय परम्परागत प्रसिद्ध रहे हैं। हाँ बीसवीं सदी की सीता और लक्ष्मण की जीवन-झाँकी इनमें अवश्य है। वास्तव में पंचवटी का कवि अधिक कलामय हो गया है। यहाँ पर कवि ने प्रबन्धता की विगत नीरसता को छोड़ कर काव्य के सुललित क्षेत्र में प्रवेश किया है। इसीलिये पंचवटी का महत्त्व कलात्मक दृष्टि से ही अधिक समझा जा सकता है।

नैतिकता से नहीं । गुप्त जी की महत्वपूर्ण विशेषता इसमें प्रकृति-वर्णन की रही है । पंचवटी की प्राकृतिक चित्रपटी का अंकन गुप्त जी ने इसमें अत्यन्त सुन्दर किया है।

यशोधरा—यह गुप्त जी का चम्पू काव्य है। इसमें गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा के जीवन की झाकी अंकित की गई है। यशोधरा को महात्मा बुद्ध महाभिनिष्क्रमण के समय सोती हुई छोड़ कर चले गये थे। बाद में यशोधरा ने उनके लौटने की अवधि का कुछ निश्चय न होने पर भी दर्शन की अभिलाषा को हृदय में संजोकर, अपने पुत्र राहुल के लिये वात्सल्य-स्रोत और स्वामी-स्मृति की निराशामयी वेदना में अश्रु धारा प्रवाहित की थी। यशोधरा के आँसू और वात्सल्य की धारा ही एक प्रकार से इस ग्रन्थ की कथा है। गुप्त जी ने इस ग्रन्थ में गोपा के लिये दो पंक्तियां इतनी मार्मिक लिखी हैं कि उनमें नारी जीवन का सर्वस्व समा गया है।—

> अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी-
> आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

इस में गुप्तजी ने नारी के नारीत्व और मातृत्व दोनों रूपों को चित्रित किया है। यह सारा ग्रन्थ छन्दोबद्ध कविताओं में न लिखा जाकर गद्य और गीति का सहारा लेकर भी लिखा गया है। शास्त्रीय दृष्टि से ऐसी रचना चम्पूकाव्य कहलाती है। हिन्दी में सफल चम्पू-काव्य यशोधरा ही है।

द्वापर—यह गुप्त जी की कृष्ण-चरित्र-मूलक रचना है। इस में सर्गों का विभाजन पात्रों के नाम पर यथा—श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, बलराम, देवकी और कंस आदि से हुआ है। विधृता नाम की अविख्यात नारी को गुप्त जी इसमें प्रकाश में लाये हैं विधृता को उसके कामी पति ने बलपूर्वक कृष्ण-दर्शन करने से रोक लिया था, उसे उसके चरित्र पर संदेह हुआ था, किन्तु वह विशुद्धहृदया थी इस लिए यह कह कर फूट पड़ी—

अविश्वास हा ! अविश्वास ही, नारी के प्रति नर का।
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का।
उपजा किन्तु अविश्वासी नर, हाय तुम्हीं से नारी।
जाया होकर जननी भी है, तू ही पाप पिटारी।

× × ×

नर के बांटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
मां बेटी या बहन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?

गुप्त जी की इन पंक्तियों में हम वर्तमान समय की नारी-समस्या का समाधान पाते हैं आज का पुरुष जो नारी के केवल वासनात्मक रूप की तरफ दौड़ रहा है, उसे उसके माँ, बहिन और बेटी आदि पावन स्वरूपों को देखने की भी आवश्यकता है या नहीं, इसे पाठक स्वयं विचारें।

द्वापर के सभी पात्रों को हम, वर्तमान युग की अनेक समस्याओं का समाधान करते हुए पाते हैं। कृष्ण, राधा और बलराम आदि के चरित्र भी गुप्त जी ने बड़े महत्त्वपूर्ण चित्रित

किये हैं। चरित्रचित्रण भी क्रियाकलापों के द्वारा न होकर आत्म-प्रकाशन के द्वारा हुआ है। इसमें प्रत्येक पात्र एक कविताबद्ध प्रवचन सा देती है, जिसमें उसका चरित्र, मंगलमय अतीत, संघर्षप्रधान वर्तमान और आशापूर्ण भविष्य सब कुछ एक साथ व्यक्त हो जाते हैं।

नहुष—इसमें गुप्त जी ने नहुष के इन्द्रासन प्राप्त करने और फिर पतित किये जाने की कथा ली है। यह कथा अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण है। राजा नहुष को स्वर्ग की राजगद्दी उस समय दी गई थी, जब कि इन्द्र को ब्राह्मण कुलोत्पन्न, किन्तु असुर वृत्र के संहार के दण्डस्वरूप कुछ समय तक जल में छिपकर रहना पड़ा था। इन्द्रासन प्राप्त करते ही महाराजा नहुष स्वर्गपुरी की अलौकिक छटा और शची की रूप माधुरी को देखकर विचलित हो गये। उन्होंने शची से प्रणय-याचना की। शची को जब कानून के बन्धन के अनुसार नहुष से बच निकलने का कोई उपाय न सूझा तो उसने अपनी सुन्दरता के गर्व का सहारा लेकर नहुष से कहलाया कि यदि वे सप्त ऋषियों द्वारा उठाई हुई पालकीमें बैठकर आयें तो मैं उन की प्रणय-याचना स्वीकार कर लूंगी। नहुष तो कामान्ध हो ही चुके थे। उन्होंने अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए ऋषियों को पालकी उठाने के लिये विवश किया। जब ऋषि लोग कामान्ध नहुष को पालकी में बिठाये मंद-मंद गति से लिये जा रहे थे, तब कामातुर नहुष ने उनसे कहा सर्प! सर्प! (शीघ्र

चलो! शीघ्र चलो!)। इतना ही नहीं, धीमी चाल चलने वाले प्रमुख ऋषि अगस्त्य को पाद-प्रहार से उत्तेजित करने की धृष्टता भी नहुष ने की जिससे अगस्त ऋषि उत्तेजित तो हुए, किन्तु उन्होंने अधिकारोन्मत्त महाराज नहुष को शची के पास पहुँचाने की अपेक्षा मर्त्यलोक में पहुँचा दिया।

यह कथानक जितना काव्योचित और मार्मिक है, काव्य की उतनी मार्मिकता हम गुप्त जी के इस ग्रंथ में नहीं पाते। गुप्त जी की विशेषता इस में यही है कि वे महाभारत के खण्डहरों में पड़े हुए इस कथानक को हिन्दी-जगत में ले आये हैं तथा उन्होंने अन्त में नहुष के मुख से निम्न पंक्तियाँ कहलवाकर कथानक का अन्त उस आशामय बिन्दु पर किया है, जो आत्मग्लानि के रूप में व्यक्त होकर अधिकार का समुचित रूप में पालन करने और पतित होकर भी उठने की प्रेरणा से पूर्ण है—

चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं; मुख्य है संभलना,
फिर भी उठूंगा और बढ़कर रहूंगा मैं,
नर हूं, पुरुष हूं मैं, चढ़ के रहूंगा मैं!

साकेत—गुप्त जी को महाकवि की उपाधि से सुशोभित करने वाली यही रचना है। इसकी कथावस्तु वही है जो वाल्मीकि की रामायण अथवा तुलसी के रामचरित मानस की है। किन्तु गुप्त जी की इसमें एक विशेषता रही है। उन्होंने राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम-भरत

मिलाप तक की कथा को तो वैसे ही लिया है कि जैसे वाल्मीकि और तुलसी ने, किन्तु बाद में नौ और दस दो सर्ग उर्मिला के विरह-वर्णन में रंगे हैं, जिन में राम-विवाह के पूर्व की घटनायें भी उर्मिला के द्वारा, स्मृति रूप में वर्णित हुई हैं, फिर वनवास के पश्चात् की कुछ कथायें तो हनुमानजी और शत्रुघ्न द्वारा कहलाई गई हैं और कुछ वशिष्ठजी ने योगबल से सब अयोध्यावासियों को दिखला दी हैं।

"उर्मिला को प्रधानता देने के लिये गुप्त जी ने अपना केन्द्र बिन्दु साकेत को ही रक्खा है। क्योंकि इस ग्रन्थ में अधिकतर घटनाएं वे ही ली गई हैं, जिनका संबन्ध उर्मिला से है अथवा जो साकेत में घटित हुई हैं। यदि साकेत में घटित नहीं भी हुईं तो उन्हें पात्रों के मुख से साकेत में ही कहलवाया गया है। इसलिये गुप्तजी ने अपने इस ग्रन्थ का नाम नायक नायिका के ऊपर न रखकर साकेत ही रक्खा है। क्योंकि इसमें महत्ता साकेत नगरी अथवा वहां निवास करने वाली उर्मिला को दी गई है, उसके ही जीवन को प्रकाश में लाने का प्रयत्न भी गुप्त जी ने किया है। ऐसा करने में यद्यपि गुप्तजी बहुत कुछ सफल हुए हैं तथापि परम्परा से प्रचलित राम-जीवन का यह कथानक सीता और राम के जीवन से इतना सम्बन्धित है कि इसके जिस ओर को भी कोई छूता है, वहीं पर वह युगलमूर्ति स्वतः आ विराजती है। फिर उर्मिला को प्रकाश में लाने के लिये कथानक का विस्तार अत्यन्त आवश्यक है।

किन्तु लक्ष्मण का राम और सीता से पृथक् कुछ व्यक्तित्व है ही नहीं, इसलिये साकेत के नायक और नायिका लक्ष्मण और उर्मिला न रह कर राम और सीता ही रहे हैं। कवि का हृदय भी इस युगल-मूर्ति के चित्रण में ही अधिक समाया हुआ है। जैसा कि साकेत के मुखपृष्ठ पर अंकित पंक्तियों से लक्षित भी होता है।

राम ! तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

इसलिये साकेत को रामजीवन का ही काव्य समझना चाहिये, उर्मिला-लक्ष्मण-जीवन का नहीं।

महाकाव्य—निःसन्देह साकेत एक सुन्दर महाकाव्य है। इसकी कथा-वस्तु, शैली, चरित्र-चित्रण, छन्द-विधान, प्रकृति-वर्णन आदि सब कुछ महाकाव्यों का सा है। इसमें गुप्तजी ने सीता-राम के प्रति भारतीय जनता की भक्ति-भावना को सुरक्षित रखते हुये उन्हें मानव रूप में चित्रित किया है। उनके राम स्वर्ग का संदेश लेकर नहीं आते बल्कि इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने के लिए आते हैं तथा उनके ही ऊंचे आदर्श का संदेश देकर नरको ईश्वरता प्राप्त कराते हैं—

"संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल ही को स्वर्ग बनाने आया।"

× × ×

"मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।"

× × ×

"भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,

नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।"

इसी प्रकार सीता भी शक्ति का रूप न होकर आदर्श आर्य-बाला और सुख-दुःख में साथ देने वाली सद्जीवन-संगिनी है, जो बनवास काल में भी राजभवन का सा सुख अनुभव करती है। वह पूर्णतः पतिपरायणा और आत्मबल पर विश्वास करने वाली भारतीय रमणी है—

"मेरी यही महा मति है,

पति ही पत्नी की गति है।"

× × ×

"यदि अपना आत्मिक बल है,

जंगल में भी मंगल है।"

उर्मिला का तो कहना ही क्या? उसके मूक स्वर को यद्यपि दो सर्गों में वियोग की नाना अन्तर्वृत्तियों के रूप में गुप्तजी ने मुखरित किया है तथापि फिर भी वह शान्ति, सहनशीलता और साधना की ही प्रतिमा रही है। अपने आराध्य देव के द्वारा याद कर लेने मात्र में ही उसे जीवन का सर्वस्व मिल जाता है—

"आराध्य-युग्म के सोने पर। निस्तब्ध निशा के होने पर।

तुम याद करोगे मुझे कभी। तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

चरित्र-चित्रण में इससे भी बढ़कर विशेषता गुप्तजी ने कैकेयी के चरित्र में दिखलाई है। चित्रकूट में जब वह अपने

हृदय के उद्गार प्रकट करती हुई परिताप-प्रदर्शन करती है तो सचमुच ही उसका सारा कलंक धुल जाता है, उसका मातृत्व पुकार उठता है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'

❀ ❀ ❀ ❀

थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझ से
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझ से ?

राष्ट्रीय कवि होने के कारण गुप्त जी की यह विशेषता साकेत में भी रही है, शुक्लजी के शब्दों में उन्होंने "रामायण के भिन्न-भिन्न पात्रों की परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आन्दोलनों की भावनाएँ जैसे-किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्ध-प्रथा की मीमांसा, राज्य-व्यवस्था में प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्व-बन्धुत्व, मनुष्यत्व आदि-कौशल के साथ झलकाई गई हैं।" गुप्त जी की राष्ट्रीयता का यह स्वर सचमुच ही समस्त साकेत में प्रस्फुटित हुआ है। राम-सीता के इस कथानक द्वारा वे आदर्श प्रजापति का चित्र उतारने में अत्यन्त सफल हुए हैं।

राष्ट्रीयता—गुप्त जी राष्ट्रवादी कवि हैं और उनकी यह राष्ट्रवादिता हमें उनके सभी ग्रंथों में लक्षित होती है। भारत-

भारती तो उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का एक साकार रूप ही है। उधर स्वदेश-संगीत और किसान भी इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। कुणाल में भी गुप्त जी की राष्ट्रीय भावनायें लक्षित हुई हैं। इस क्षेत्र में गुप्त जी की अधिक प्रसिद्धि भारत-भारती के द्वारा ही हुई है। यह ग्रन्थ इन्होंने उस समय लिखा था, जब कि भारत को अपना कहना भी अपराध समझा जाता था। गुप्त जी ने इसमें उन भावनाओं को भरा है, जो कि देश अथवा जाति में राष्ट्रीयता का पूर्ण संचार करने वाली हैं। आरम्भ में गुप्त जी की राष्ट्रीयता बहुत कुछ जातीयता का रूप लिए हुए थी, किन्तु जैसे-जैसे कवि का विकास हुआ और भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय होता गया है, वैसे ही वैसे गुप्त जी जातीयता के संकुचित क्षेत्र को छोड़ कर राष्ट्रीयता के विशाल क्षेत्र में अवतीर्ण होते गए हैं। इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को कुछ आलोचकों ने हिन्दू-संस्कृति मूलक कहा है वह इस दृष्टि से कि राष्ट्रीयता की नूतन परिभाषा में हिन्दू-संस्कृति का नाम लेना संकुचित दृष्टि-कोण कहा जाता है। किन्तु गुप्त जी की राष्ट्रीयता में हिन्दू-संस्कृति का स्वर वहीं तक मुख्य रहता है, जहाँ तक कि उनका सम्बन्ध ऐसे कथानकों अथवा विषयों से है, जिनमें कि हिन्दुत्व का रहना स्वाभाविक है जहाँ वे राष्ट्रीयता के व्यापक क्षेत्र में आकर कुछ कहते हैं, वहाँ उनकी राष्ट्रीयता बिलकुल नूतन ढंग की ही है:—

कोई काफिर कोई म्लेच्छ, हो जो होता रहे कलेच्छ।
हिन्दू-मुसलमान की प्रीति, मेटे मातृभूमि की भीति॥

*　　　*　　　*

मातृभूमि का नाता मान, हैं दोनों के स्वार्थ समान।

*　　　*　　　*

भारत माता का यह मन्दिर, नाता भाई-भाई का।
समझे मां की प्रसव-वेदना वही लाल है माई का॥

प्रकृति-वर्णन—द्विवेदी-काल के सभी कवियों में प्रकृति-वर्णन की विशेषता पाई जाती है। मानवेतर प्रकृति का चित्रण इस काल के कवियों की विशेषता रही है। गुप्त जी इस क्षेत्र में पर्याप्त सफल हुए हैं। पञ्चवटी, साकेत और यशोधरा आदि ग्रन्थों में उन्होंने प्रकृति-वर्णन की दृश्य-विधानमयी, उपदेशमयी उत्प्रेक्षाशील आदि सभी शैलियों में प्रकृति का मनोहारी चित्रण किया है प्रकृति के साथ इनकी पूर्ण तादात्म्यता है। झंकार में हमें गुप्त जी की छायावादी प्रवृत्तियों का भी सुन्दर चित्रण मिलता है। यह ग्रंथ गुप्तजी की आध्यात्मिक भावनाओं का प्रकाशन है। जिसमें से हमें छायावादी और रहस्य-वादी कवि के रूप में देखने को मिलते हैं। प्रकृति का सहारा लेकर कहीं-कहीं पर इस ग्रन्थ में भी मधुर भावनाओं की सरस धारा प्रवाहित की गई है।

गुप्त जी और हरि औध—ये दोनों कवि इस युग के सूर और तुलसी कहे जा सकते हैं। गुप्त जी की जो आस्तिकता

रामचरित से है, वही आत्मीयता हरिऔध जी की कृष्ण-चरित से है। दोनों ही कवि हिन्दी के महाकवि हैं तथा दोनों का अपने-अपने क्षेत्र में व्यापक महत्व है। दोनों की समता और विषमता का बहुत कुछ अध्ययन पाठक उनके पृथक्-पृथक् विवेचनमें कर सकते हैं। इस विषय में हमारा मत यह है कि गुप्त जी में सरलता, राष्ट्रीयता, और समय के अनुसार चलने की क्षमता अधिक है। हिन्दी साहित्य में इनके युग में राष्ट्र-प्रेम रहस्यवाद, छायावाद, और प्रगतिवाद आदि भावनाओं की जो लहरें उठी हैं, उन सब में ही इन्होंने अपना स्वर पूर्ण सफलता के साथ मिलाया है। उनके समय की राजनैतिक, सामाजिक, और धार्मिक समस्याएँ, किसान-मजदूर आन्दोलन, छूत-अछूत, नर-नारी ऊँच-नीच और धनी-निर्धनी आदि प्रश्नों की गूँज तथा उनके समाधान का स्वर हमें गुप्तजी के साहित्य में अधिक खुल पड़ता है। इस दृष्टि से गुप्त जी राष्ट्रीय-प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत हरिऔध जी पूर्णतः साहित्यिक कोटि के कवि हैं। समय के अनुसार बदल जाने की क्षमता उनमें नहीं है। इन्होंने अपने समय की समस्याओं का स्वर अपने काव्य में भरा अवश्य है, किन्तु उसमें प्रधानता काव्यत्व की रही है। इनमें कवित्व अधिक है, राष्ट्रीयता, सामयिकता अथवा नाना समस्याओं की समाधान-की शक्ति कम। इन्होंने कला को जीवन के दृष्टिकोण से देखा अवश्य है, किन्तु उसे बिलकुल जीवन ही नहीं बना [illegible]

है। इन्होंने एक साहित्यिक के रूप में अपना सुधारवादी दृष्टिकोण उपस्थित किया है, जबकि गुप्त जी ने साहित्यिक होते हुए भी उपदेशवक्ता का रूप ले लिया है। जैसा कि उनकी निम्न पंक्तियों से व्यक्त है—

> केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
>
> उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

रामनरेश त्रिपाठी—इनका जन्म-संवत् १९४६ है। इन्हों ने मिलन, पथिक और स्वप्न नाम के तीन खण्ड-काव्य लिखे हैं, जिनमें इन्होंने कोई पौराणिक अथवा ऐतिहासिक आख्यान न लेकर स्वकल्पित नूतन कथाओं की उद्भावना की है। तीनों कथाओं में मानव-जीवन को ऐसे मर्मस्पर्शी रूपों में ढाला गया है, कि जो मानव-मात्र के लिए ग्राह्य बन गये हैं। देश-भक्ति, प्रकृति का स्वच्छ व रमणीय-प्रसार, जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति, कर्म और प्रेम क्षेत्र का मार्मिक-चित्रण आदि त्रिपाठी जी के इन ग्रंथों की विशेषताएँ हैं। अपने उच्च आदर्शों और स्वदेश-भक्ति का चित्रण इन्होंने उपदेशक के रूप में न करके ऐसे पात्रों की सृष्टि द्वारा किया है कि जिनका जीवन और उद्देश्य ही इन विषयों का प्रेरक है। देश-प्रेम में पगे हुए युवक-हृदय के नैसर्गिक उद्वेग का स्फुरण करने में और देश-भक्ति को रसात्मक रूप देने में इनको महत्वपूर्ण सफलता मिली है। प्रकृति-चित्रण तो इनका इतना स्वाभाविक, सजीव, मार्मिक और व्यापक है कि जिसमें भारत-भूमि के दक्षिण प्रांत, उत्तर

खण्ड और काश्मीर आदि की रम्य दृश्यावलियाँ साकार हो उठी हैं। इनके प्रकृति-चित्रण में इनकी सभी प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। भाषा की सफाई, काव्य के प्रसाद गुण और माधुर्य का ध्यान भी इन्होंने खूब रक्खा है। इनका रहस्यवादी और छाया-वादी स्वर भी हमें इनकी रचनाओं में सुनने को मिलता है—

प्रिय की सुध सी ये सरिताएँ, ये कानन कांतार सुसज्जित।
मैं तो नहीं, किंतु है मेरा हृदय किसी प्रियतम से परिचित।
जिसके प्रेम पत्र आते हैं प्रायः सुख-संवाद-सन्निहित॥

डा० गोपालशरण सिंह—इनका जन्म-संवत् १९४८ है। इनकी रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जिन में माधुरी, संचिता, मानवी, ज्योतिष्मती, कादम्बिनी और सुमना आदि उल्लेखनीय हैं। कादम्बिनी में इनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। इसमें इन्होंने जीवन के सुखद रूप और प्रकृति की सजीव झाँकियों का अच्छा चित्रण किया है। समस्त प्रकृति और संसार में इन्हें एक सनातन उल्लास का आभास मिला है। मानवी में इन्होंने नारी-जीवन के नाना रूपों की अच्छी समीक्षा की है। सुमना में गांधीवाद की महत्ता दरसाई गई है ज्योतिष्मती में इनके छायावादी भावों का चित्रण हुआ है। अनन्त के साथ सम्बन्ध जोड़ने की उत्कंठा इनको भी हुई है—

तू अनन्त तू [illegible] प्रकाश है मैं हूँ अखिल अँधेरा,
[illegible] है, [illegible] मेरा।

उदय अस्त तक तेरा साथी मैं ही हूँ इस जग में,
मैं तुझ में ही मिल जाता हूँ, होता जहाँ सवेरा ॥

सियारामशरण गुप्त---- इनका जन्म-संवत १६५८ है। इन्होंने कथात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार की काव्य-रचनाएँ लिखी हैं। आर्द्रा इनकी कथात्मक कविताओं का संग्रह है। विषाद में इनकी भावप्रधान कविताएँ हैं। अपने अग्रज मैथिलीशरण गुप्त की भाँति ये भी गांधीवाद से पूर्णतः प्रभावित हुए हैं। अपनी बापू नाम की पुस्तक में इन्होंने गांधी जी पर बहुत सुन्दर स्तुतियाँ लिखी हैं। उन्मुक्त नाम की पुस्तक में एक कल्पित युद्ध का वर्णन करते हुए इन्होंने विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध की भीषणता का अच्छा चित्रण किया है, जिसमें अहिंसा को ही हिंसा का प्रत्युत्तर इन्होंने कहा है—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल।

❀ ❀ ❀

हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर ॥

राष्ट्रीय भावनाओं के साथ २ रहस्यवादी, छायावादी और प्रगतिवादी भावनाओं का समावेश भी इनकी कविताओं में अच्छा हुआ है। घड़े पर लिखी हुई इनकी कविता में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का अच्छा प्रकाशन हुआ है। उधर आजकल की लिखी हुई कुछ कविताओं में प्रगतिशीलता के भी अच्छे दर्शन होते हैं। निम्न कविता

में इन्होंने तट पर स्नान करती हुई ग्रामवधूटी का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र खींचा है—

बांया पैर नीचे लटकाये नील नीर पर,
दांया पैर रक्खे हुए सीढ़ी के प्रतोर पर,
अपने नुकीले नेत्र नीचे किए,
पत्थर की बट्टी हाथ में लिए,
एड़ी मलती थी वह बार बार पानी डाल।

माखन लाल चतुर्वेदी---- इनका जन्म-संम्वत् १६४५ है। हिन्दी-साहित्य में ये एक भारतीय आत्मा के नाम से प्रसिद्ध हैं। साहित्य-सम्मेलन के हरिद्वार-अधिवेशन पर इनको रुपयों से तोला गया था। ये कोरे कवि ही नहीं हैं, अपितु राजनैतिक कार्य-कर्त्ता और पत्रकार भी हैं। राष्ट्रीय जीवन का इन्हें निजी अनुभव है। इसलिए ये अपनी कविताओं में राष्ट्रीय भावना भरने में अत्यन्त सफल हुए हैं। इनकी राष्ट्रीयता शुष्क नहीं है। इनकी कविताओं में कोमलता और रसाद्रता दोनों साथ साथ मिलती हैं। पुष्प की अभिलाषा नाम की इनकी कविता हिन्दी जगत् में बहुत प्रसिद्ध हुई है। इसमें इन्होंने एक फूल के रूप में मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जाने वाले वीरों के पथ में बिछ जाने की अमर अभिलाषा प्रकट की है—

मुझे तोड़ लेना बन माली।
उस पथ में देना तुम फेंक॥

मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने ।
जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

'हिमकीटिनी' के नाम से इनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है । जिसमें इनके भावुक हृदय का भी अच्छा पता लगता है ।

बालकृष्ण शर्मा नवीन—इनका जन्म-संम्वत् १९६१ है। इनकी राष्ट्रीय भावनायें बड़ी उग्र हैं । इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह कुंकुम के नाम से छपा है । इनकी 'विप्लवगान' नाम की कविता बहुत प्रसिद्ध हुई है, जिसमें ये अपने समय की राजव्यवस्था और समाजव्यवस्था से क्रुद्ध होकर अपने कवि से ऐसी तान सुनने के इच्छुक हैं कि जिससे सब जगह प्राणों के लाले पड़ जायें और त्राहि ! त्राहि ! का शब्द आकाश तक गुंजायमान हो जाये । अपने इस गान में ये पाप, पुण्य, सद्-असद् आदि सब कुछ भस्मसात् हो जाने की लालसा प्रकट करते हैं—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ-जिसमें उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये ।
प्राणों के लाले पड़ जाएं—त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए ।

+ + +

बरसे, आग जलद जल जाए, भस्मसात भूधर हो जाएं,
पाप, पुण्य, सदसद भावों की, धूल उड़ उठे दाएं बाएं ।

स्व० सुभद्रा कुमारी चौहान---- राष्ट्रवादी कवियों में इन क्षत्राणी महिला का भी महत्वपूर्ण स्थान है । इनकी झांसी

की रानी पर लिखी हुई कविता बहुत प्रसिद्ध हुई है। इनकी कवितायें बड़ी सरल और मधुर हैं। कुछ कवितायें तो इनकी त्रिधारा नाम के संग्रह में भारतीय आत्मा और केशव प्रसाद ठाकुर के साथ प्रकाशित हुई हैं और मुकुल नाम से इनका एक अपना स्वतंत्र संग्रह भी निकला है।

इनकी कविताओं में दाम्पत्य-भाव, वात्सल्य-भाव और राष्ट्र-भक्ति की अद्‌भुत त्रिवेणी देखने को मिलती है। नारी के नारीत्व को जितने सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से चित्रित करने में ये सफल हुई हैं, उतनी ही सफलता इन्हें वात्सल्यभाव के चित्रित करने में भी मिली है। आधुनिक कवियों में बाल-स्वभाव चित्रण की यह क्षमता हमें इनमें ही देखने को मिलती है। 'मेरा नया बचपन' और 'बालिका का परिचय' इनकी इस विषय की सुन्दर कविताएँ हैं। राष्ट्र-भक्ति तो एक प्रकार से इनका प्राण रही है। पराधीन भारत की समस्त व्यथा को हम इनकी कविता में सजीव रूप लिया हुआ पाते हैं। स्वतंत्रता की बलिवेदी पर शीश कटाने वाले वीरों की स्मृति में इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। नीचे इनकी कुछ कविताएँ देखिये—

मैं सदा रूठती ही आई प्रिय, तुम्हें न मैंने पहिचाना।
वह 'मान' बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना॥

× × ×

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,

गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहिचानी थी,

दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,

* * *

कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को अपने आंगन में देखो।

कौशल्या के मातृ-मोद को अपने ही मन में लेखो॥

सोहनलाल द्विवेदी—वर्तमान राष्ट्रवादी कवियों में द्विवेदी जी भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी राष्ट्रीय-भावनायें गांधीवाद से अधिक प्रभावित हुई हैं, इनकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। भैरवी, वासवदत्ता इनकी कविताओं के अच्छे संग्रह हैं। कुणाल पर भी इन्होंने एक अच्छा काव्य लिखा है। इनकी भाषा सरल और प्रवाहमयी है। ओज गुण इनकी कविताओं की विशेषता है।

राष्ट्रवादी कवियों में स्व० लाला भगवान दीन (संवत् १९२३-१९८७; काव्य ग्रंथ-वीरक्षत्राणी, वीरबालक और वीर पञ्चनद, तथा पं० गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही आदि के नाम और प्रसिद्ध हैं। वर्तमान समय के प्रगतिशील साहित्य के लेखकों और कवियों में भी हम इसी राष्ट्रवादी काव्य-धारा का प्रवर्तन हुआ पाते है, जिसका उल्लेख आगे चलकर होगा।

प्रसाद-काल

छायावादी-रहस्यवादी कवि

(१६७५—२०००)

सामान्य परिचय—यह काल आधुनिक काव्य-धारा का तृतीय उत्थान माना जाता है। प्रथम दो उत्थानों (भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल) में हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय जागृति का जो रूप रहा, उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। द्विवेदी-काल के कवियों में हमने भारतीयस्वतन्त्रता से पूर्व तक की राष्ट्रीय जागृति को लिया है। अब देश के स्वतन्त्र हो जाने पर हमारी राष्ट्रीयता की रूपरेखा क्या होगी, यह यद्यपि अभी तक भविष्य के गर्भ में है तथापि हमारे गण-राज्य की स्थापना जिन मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर हुई है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय शब्द को अब व्यापक रूप में देखा जायेगा। सम्भवत: व्यापकता की यह परिमिति केवल देश तक ही सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा मानववाद का रूप धारण करले या परोक्षोन्मुख हो जावे। ऐसा हम इस

आधार पर और भी कह सकते हैं कि आज समस्त विश्व की प्रवृत्ति इसी ओर परिलक्षित हो रही है। मनुष्य के जीवन में समय-समय पर ऐसे क्षण उपस्थित हो रहे हैं कि जब वह अपने चारों ओर के संघर्षों से घबराकर शान्ति की ओर अग्रसर हुआ है और सर्वप्रथम उसने इस शांति को जीवन में अथवा मानव में खोजने की ही चेष्टा की है तथा वहाँ न मिलने पर वह ईश्वरोन्मुख हुआ है। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर भी इस युग के मानव ने इस शांति की खोज मानव में करने का प्रयत्न किया था, किन्तु जब वह इसमें असमर्थ रहा तो उसकी संवेदनशीलता तीव्र हो उठी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निराशा के दर्शन उसे होने लगे। उसे ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे वह किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने में असमर्थ है, इसकी प्रतिक्रियास्वरूप उसमें प्रकृति से तादात्म्यता की भावना का उदय हुआ, उसे मानव की अपेक्षा प्रकृति में अधिक आत्मीयता दृष्टिगोचर हुई। उसने अनुभव किया कि जैसे दिगन्त के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ में एक ही जीवन तत्व का संचार हो रहा है तथा चेतन की अपेक्षा जड़ पदार्थों में अधिक शांति स्थिरता और गतिशीलता है। इस रहस्य को जानने के लिए वह स्थूल जगत् को छोड़कर सूक्ष्म जगत् की ओर प्रवृत्त हुआ। सूक्ष्म जगत की इस अभिव्यक्ति में उसने जिस आनन्द का अनुभव किया वह स्थूल जगत् की अपेक्षा कहीं अधिक भव्य

और जीवनोपरि था। स्थूल के प्रति सूक्ष्म की यह क्रांति ही प्रसाद-काल के काव्य का प्राण है, जो बहुत कुछ द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता (वस्तुप्रधानता) के कारण हिन्दी में हुई थी। इसी क्रांति को छायावाद और रहस्यवाद का नाम भी दिया गया है। ये दोनों वाद हिन्दी में पूर्णतः अपने मौलिक रूप में विकसित हुए हैं।

वैसे ये वाद हमारे साहित्य में अंग्रेजी और बंगला-साहित्य की देखा-देखी आरम्भ हुए। किन्तु इन साहित्यों से ये, प्रेरणा मात्र ही हमारे कवियों ने ग्रहण की है। मूलभूत सिद्धांतों का आधार उन्होंने अपना रक्खा है। सूक्ष्म की यह अभिव्यक्ति हमारे यहाँ बहुत समय तक दर्शन का विषय रही है। इस दृष्टि से शुक्ल जी के शब्दों में उपनिषदों में आए हुए आत्मा के पूर्ण आनन्द स्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानन्द की अपरिमितता को समझाने के लिए स्त्री-पुरुष सम्बन्ध वाले दृष्टान्त या उपमायें, योग के सहस्र दल कमल आदि की भावनाओं में भी कुछ विद्वानों ने इन वादों को दिखाने का प्रयत्न किया है। पर वे सब साधनात्मक हैं, प्रकृत भाव-भूमि या काव्य-भूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं।

❀ ❀ ❀

विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप हमें संहिताओं और उपनिषदों के बहुत काल पश्चात् वाल्मीकि रामायण में मिलता है। संहिताओं और उपनिषदों को कभी काव्य-ग्रंथ

नहीं माना गया। उनमें इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है, वह कर्मकाण्ड, दार्शनिक चिन्तन, गुह्य-साधना, मन्त्र-तन्त्र और जादू-टोना आदि बहुत सी बातों में उलझा हुआ है। अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर बाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक संस्कृत के किसी भी कवि ने प्रियतम नहीं बनाया और न ही उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम व्यञ्जना ही की है। हमारे यहां सर्वप्रथम कबीरदास ज्ञानवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले थे। उसी भावात्मक रहस्य-परम्परा का आविर्भाव नूतन भाव-भंगी और लाक्षणिकता के साथ छायावाद को भी समझना चाहिए।

छायावाद का सामान्यतः अर्थ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुतत का कथन माना जाता है। इस शैली के अन्तर्गत कवि शब्दों का प्रतीकवत प्रयोग करते हैं। सुख आनन्द और प्रफुल्लता आदि को दिखाने के लिये वे ऊषा प्रभात और मधु-काल आदि का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार प्रेमी के लिये मधुकर, प्रेमिका के लिये मुकुल, मानसिक क्षोभ के लिये झंझा, भावतरंग के लिये झंकार अथवा लहर, शुभ्रता के लिये मोती अथवा चमेली, विषाद के लिये पतझर, दुःख के लिये अन्धकार, जीवनस्फूर्ति के लिये ऊषा और अवसान के लिये सन्ध्या, टीस के लिये बिजली आदि के प्रयोग छायावादी कवियों ने बहुत अधिक किये हैं। शब्दों का

यह प्रतीकवत् प्रयोग एक प्रकार से प्राचीन काव्य की उपमान योजना का एक नवीन रूप है। पहले कवि उपमा देते समय रूपसाम्य और धर्मसाम्य का ध्यान अधिक रखते थे, किन्तु इस काल के कवि प्रभाव साम्य पर अधिक ध्यान देते हैं। वे देखते हैं कि किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा पदार्थ का मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है, फिर उस प्रभाव को व्यक्त करने के लिये वे वैसे ही पदार्थ अथवा दृश्य को चुन लेते हैं। यह शैली एक तरह से शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग के अन्तर्गत समझनी चाहिये हमारे पहले कवि रूपकातिशयोक्ति अलंकार के अन्तर्गत बहुत कुछ इसी शैली का प्रयोग करते थे, किन्तु वहाँ उपमान में उपमेय का निगरण (अध्यवसान, या छुपाव) रहता था। यहाँ किसी भाव या परिस्थिति विशेष का अध्यवसान रहता है। जैसे प्रसाद की निम्न पंक्तियों में झंझा में संघर्ष का बिजली में वेदना का और नीरदमाला में अश्रुओं का निगरण हो गया है—

> झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला।
> पाकर इस शून्य हृदय को सब ने आ डेरा डाला॥

इसी प्रकार महादेवी के निम्न गीत में निदाघों के दिन, पावस की रात, सुधा का मधु, और अतृप्ति की आग आदि को लेकर जलन, करुणा, शीतलता, मादकता, पीड़ा और असन्तोष आदि भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

दृगों में सोते हैं अज्ञात
निदाघों के दिन पावस रात।
सुधा का मधु, हाला का राग
व्यथा के घन, अतृप्ति की आग,

छायावाद शब्द का दूसरा अर्थ रहस्यवाद के अर्थ में लिया गया है। इस दृष्टि से छायावादी कवि उस अज्ञात प्रियतम को आलम्बन मान कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में उसकी प्रेम की व्यञ्जना करते हैं। इनकी चित्रमयी भाषा अधिकतर शब्दों के उसी लाक्षणिक विधान अथवा प्रतीकवत् प्रयोग को लेकर चलती है, जिसका कि उल्लेख ऊपर किया गया है। छायावादी कवि प्रकृति में स्वात्मा की छाया का अनुभव करता है। वह देखता है कि जैसे समस्त प्रकृति में उसके अपने सुख और दुःख समाए हुए हैं। उसकी यह अनुभूति दिन पर दिन तीव्र होती जाती है, तथा वह विश्व के सुख और दुःख की झलक प्रकृति में देखने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि जड़ और चेतन सभी पदार्थों में एक ही प्राण का संचार हो रहा है। उसकी यह अनुभूति यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती अपितु, वह स्वात्मा, विश्वात्मा और समस्त प्रकृति में विश्वेश्वर के दर्शन करने लगता है। इस स्थिति में पहुँच कर वह रहस्यवादी बन जाता है तथा उस अज्ञात के रहस्य को काव्य का रूप देने लगता है, जिसे कबीर ने निरंजन जायसी ने 'पीव' और मीरा ने 'नटवर, कह कर अपनी वाणियों, कथाओं और गीतों में व्यक्त किया था।

उस अज्ञात प्रियतम से मिलने की लालसा रहस्यवादी कवियों को भी उसी प्रकार रहती है, जैसे कि ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी कवियों को रहा करती थी, किन्तु वहाँ पर यह शैली आत्मा और परमात्मा के रूप में आध्यात्मिकता का विषय बनी हुई थी तथा धार्मिक भावनाओं का रूप मानी जाती थी। किन्तु छायावादी कवियों में यह भावना प्रकृति और पुरुष के रूप में प्रेम-भावना का रूप बनकर प्रकट हुई है। सामाजिक बन्धनों से पीड़ित और लोक-प्रेम से असन्तुष्ट होकर ये कवि अध्यात्म-प्रेम की ओर अग्रसर हुए हैं, जिससे इनके प्रेम-वर्णन में अतृप्ति, निराशा और विवशता अधिक दिखाई देती है। इन कवियों की अधिकतर कवितायें प्रकृति पर ही लिखी गई हैं तथा इन्होंने प्रकृति को उस प्रेयसी के रूप में चित्रित किया है, जो सदा अपने प्रियतम (पुरुष) के लिए आकुल रहती है। कहीं-कहीं प्रकृति को सहचरी, सजनी और रानी मानकर भी ये कवि चले हैं किन्तु ऐसे स्थलों पर इन कवियों ने निम्न-कोटि के वासनात्मक चित्र ही अधिक खींचे हैं। इनका विशुद्ध प्रकृति-वर्णन वहीं देखने को मिलता है, जहाँ इन्होंने प्रकृति के साथ किसी आध्यात्मिक सम्बन्ध का अनुभव किया है। वास्तव में प्रकृति के ऐसे चित्रण ही रहस्यात्मक कोटि में आते हैं, ऐसे स्थलों पर इन्हें प्रकृति किसी अज्ञात का संकेत करती हुई सी जान पड़ती है, जिसका चित्रण इन कवियों ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छायावाद और रहस्यवाद दोनों एक वस्तु नहीं हैं। छायावाद का क्षेत्र स्वात्मा और विश्वात्मा की चर्चा तक ही परिसीमित है। जब कवि की स्वात्मा और विश्वात्मा का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, केवल विश्वेश्वर ही रह जाता है और वह उस विश्वेश्वर को नाना रूपों में चित्रित करने लगता है, उसके विरह और मिलन के राग प्रकृति का सहारा लेकर गाने लगता है तो तब वह रहस्यवाद के क्षेत्र में पहुँच जाता है। यह रहस्य-वाद भावमूलक और ज्ञानमूलक दो प्रकार का है। भाव-मूलक रहस्यवाद हृदय की वस्तु है, उसका सम्बन्ध भाव से है, तथा वह कविता का विषय है। ज्ञान-मूलक रहस्यवाद का सम्बन्ध बुद्धि से है, वह मस्तिष्क की वस्तु और दर्शन का ही विषय रहा है। भावमूलक रहस्यवाद सन्तों, प्रेममार्गी कवियों मीरा तथा प्रसाद युग के कवियों की रचनाओं में ही देखने को मिलता है। कवि जयशंकर प्रसाद, पन्त और निराला आदि कुछ कवियों ने वैसे ज्ञानमूलक रहस्यवाद को भी लिया है किन्तु इनमें वह काव्य का रूप ही अधिक लिए हुए है।

छायावादी और रहस्यवादी श्रेणी का काव्य अधिकतर मुक्तक और प्रगीति काव्य का ही विषय रहा है। प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में प्रसाद जी ने इन वादों को ले आने का एक सफल प्रयत्न किया था जो उनके कामायनी महाकाव्य में देखने को मिलता है, किन्तु उनके बाद छायावाद और रहस्यवाद की

प्रबन्धात्मक शैली का अनुसरण नहीं हुआ । अधिकतर मुक्तक काव्य ही इस विषय के लिखे गए हैं। मुक्तक के क्षेत्र में इन वादों ने निश्चय ही हिन्दी में महत्वपूर्ण प्रगति की है। इस कोटि का काव्य भाषा, भाव, शैली और अभिव्यञ्जना आदि की दृष्टि से बहुत ऊंचा लिखा गया है। जीवन का स्वर कम रहने के कारण यद्यपि यह वाद हमारे साहित्य में शीघ्र ही पलायन कर गये तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं, कि जितना भी साहित्य इन वादों को लेकर लिखा गया है, वह कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही दृष्टि से उच्चकोटि का है तथा उसमें वह स्थायी तत्व (काव्यत्व) विद्यमान है जो कि काव्य अथवा साहित्य के लिए प्राण माना जाता है। इस दृष्टि से छायावादी काव्य-धारा को आधुनिक हिन्दी-साहित्य की, काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च प्रगति कह सकते हैं ।

जयशंकर प्रसाद—इनका जन्म काशी में संवत् १९४६ में और देहावसान संवत् १९९४ में हुआ। इनके पितामह शिवरत्न साहू बड़े उदार और धर्मात्मा थे। जो काशीमें सुंघनी साहू के नाम से प्रसिद्ध थे। व्यापारी होते हुए भी, इन्हें कवियों और विद्वानों से मिलने का बड़ा चाव था। प्रसाद जी के पिता देवी प्रसाद जी भी बड़े दानी और विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे विद्वानों और गुणवानों का सम्मान वे भी बहुत करते थे। ११ वर्ष की आयु में ही प्रसादजी अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर और पुष्कर आदि की यात्रा करते गये थे इस यात्रा

में इन्हें प्राकृतिक दृश्यों के देखने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था, किंतु बाद में १२ वर्ष की आयु में पिता और १५ वर्ष की आयु में माता की मृत्यु हो जाने के कारण इनके ऊपर से स्नेह का हाथ उठ गया। स्कूली-शिक्षा भी इन्होंने केवल ७ वीं श्रेणी तक ही प्राप्त की। पिता की अपार सम्पत्ति का अकेला मालिक होने के कारण इनके सम्बन्धियों ने इन्हें बहुत परेशान किया, किन्तु वे कभी घबराये नहीं तथा संस्कृत और अंगरेजी का अध्ययन घर पर ही करने में भी वे निरंतर लगे रहे। भारतीय संस्कृति का उन्होंने पूर्णतः अध्ययन किया। कविता की रुचि इनमें आरम्भ से ही थी। पहिले वे ब्रजभाषा में ही लिखा करते थे। किन्तु द्विवेदी-काल में जब काव्य-भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ तो इन्होंने भी खड़ी बोली का समर्थन किया। इनकी कविताओं में आरम्भ से ही नवीनता थी। जो उस काल के साहित्यिकों की दृष्टि में दोष समझी जाती थी। इसलिये इनकी खड़ी बोली की रचनाओं को सरस्वती में स्थान नहीं दिया जाता था। इसलिये इन्होंने अपने भानजे से इन्दु नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित करवाया था जिसमें इनकी रचनाएँ निरन्तर निकला करती थीं। इनका जीवन बड़ा गम्भीर और शान्त था। कटु से कटु आलोचना को भी वे सह लेते थे। इनमें आत्मसम्मान का भाव विनम्रता के साथ था, अध्ययनशील बहुत थे, प्रतिदिन ५-६ घण्टे अध्ययन करते थे। पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रंथों में इनकी विशेष

रुचि थी। वास्तव में ये एक मूक-साधक थे, आजीवन सरस्वती की आराधना में लगे रहे। जो बहुमुखी प्रतिभा इनमें थी वह हमें इस काल के अन्य कवियों में नहीं मिलती। इन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक और काव्य आदि में सभी ओर प्रगति की थी। इनकी अन्य विशेषताओं पर गद्य-काल में यथा स्थान लिखा जा चुका है। यहां पर हम इनकी काव्य-साधना की विवेचना करेंगे।

साहित्य-सेवा——प्रसादजी ने चित्राधार, काननकुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर और कामायनी नाम के नौ काव्य ग्रंथ लिखे हैं। जिनमें आंसू, लहर और कामायनी का ही अधिक महत्त्व है। शेष ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचनाओं के संग्रहमात्र हैं। कोई विशेष काव्य-कौशल उनमें दृष्टिगोचर नहीं होता। उनकाकवित्व आँसू, लहर और कामायनी में ही क्रमशः विकसित हुआ है—

आँसू——इसमें प्रसाद जी ने विप्रलम्भ शृङ्गार का सहारा लेकर वेदना और विरह की गहरी अनुभूतियों का चित्रण किया है। इसमें कहानी कोई नहीं है, कहानी का आभास अवश्य मिलता है। ऐसा लगता है जैसे कवि ने किसी को प्रेम किया और प्रेम-पात्र ने उसे अपनाना छोड़ दिया। जिससे मिलन-सुख की सभी तरंगें विरह की तप्त झंझा में परिवर्तित हो गईं प्रेम का यह प्रसंग अध्यात्म-पक्ष की ओर भी आसानी से लग

सकता है। इसलिए इनके 'आंसू' को आध्यात्मिक प्रेम की वस्तु माना जाता है। किन्तु वास्तव में यह सांसारिक प्रेम-व्यापारों का वियोगात्मक आख्यान है। इसमें प्रसाद जी का कवित्व बहुत ही ऊंचा हो गया है। यदि हम यह कहें कि इसमें प्रसाद जी का प्रेमी हृदय काव्य का रूप लेकर सजीव हो उठा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। मानवीय भावनाओं, प्रेम का रहस्य, कोमल भावों की अभिव्यक्ति आदि प्रसादजी के इस ग्रन्थ की विशेषतायें हैं। इस ग्रन्थ के विषय में नन्ददुलारे वाजपेई ने लिखा है—"आँसू" में प्रसाद जी ने यह निश्चित रूप से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट् प्रकृति को भी सजा-सजा कर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता के विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है।

'आँसू' के तीन संस्करण प्रसादजी के समय तक निकले थे। पहले संस्करण में यह ग्रन्थ विशुद्ध लौकिक प्रेम का काव्य था, किन्तु दूसरे और तीसरे संस्करणों में प्रसाद जी ने इसमें नये छन्दों को जोड़कर इसे आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार वर्तमान आँसू क्या है उसे हम डा० मदान के शब्दों में यूँ कह सकते हैं—'आंसू' एक ऐसा स्मृति काव्य है, जिसमें विरह व्यक्ति के हृदय से निस्सृत होकर विश्वमानव के हृदय को छूने की ओर उन्मुख है। भौतिक-सौन्दर्य की ओर उसका खिंचाव है और उसके पश्चात् उसमें निराशा के कारण जो तीव्रता आ

गई है। वह तीव्रता पीछे चलकर कहीं-कहीं आध्यात्मिक संकेत भी पा गई है।

लहर—यह प्रसाद जी के २६ प्रगीति-काव्यों का संग्रह है। इसमें प्रसाद जी ने मानव मन में उठने वाली तरंगों के घात प्रतिघात का चित्र खींचा है। इसमें कवि अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी जीवन की दोनों दिशाओं में बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है यहां संगीत और कल्पना के सम्मिश्रण द्वारा छायावादी और रहस्यवादी भावनाओं का सम्बन्ध प्रकृति, जीवन और इतिहास के साथ स्थापित करने में प्रसादजी को पूर्ण सफलता मिली है। प्रकृति को आलम्बन मानकर उसकी नाना क्रीड़ाओं और दृश्यों को सजीव रूप देने में तथा प्रकृति की वीणा में से अज्ञात की प्रेम रागिनी सुनाने में प्रसाद जी ने अपनी पूर्ण कुशलता प्रकट की है। यहां प्रसाद जी रहस्यवाद की भूमि पर पूर्णतः प्रतिष्ठित हुए जान पड़ते हैं—

देख न लूँ, इतनी ही तो इच्छा है, लो सिर झुका हुआ
कोमल किरन-उँगलियों से ढक दोगे यह दृग खुला हुआ
फिर कह दोगे, पहचानो तो मैं हूं कौन बताओ तो
किन्तु उन्हीं अधरों से पहले उनकी हँसी दबाओ तो
सिहर-भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो
बेला बीत चली है चंचल बाहुलता से आ जकड़ो

❀ ❀ ❀ ❀

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ,
इस में क्या है धरा सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो

कामायनी—प्रसाद जी की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रचना यही है। इनकी यह पुस्तक केवल हिन्दी साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व की समस्त भाषाओं के साहित्य में अद्वितीय है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना और लज्जा आदि मनोवृत्तियों को काव्यमयी भाषा में कविता का रूप लिये हुए हम किसी भी साहित्य में नहीं पाते। केवल मनोवृत्तियों का चित्रण ही इस ग्रंथ की विशेषता नहीं है, अपितु इसमें प्रसाद जी ने आदि मानव मनु की जीवन-कथा को लेकर मानव सृष्टि के विकास की कहानी भी कही है। ऐसा करने के लिये उन्होंने ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् आदि से भी कुछ सामग्री ली है। यह ग्रन्थ पन्द्रह सर्गों में विभाजित एक सफल और महत्वपूर्ण महाकाव्य है, जिसमें उस आदि मानव की कथा कही गई है कि जिसका जीवन रामचरित की तरह स्वयं ही काव्य नहीं था, बल्कि कवि ने उसे काव्य का रूप दिया है। भारतीय इतिहास में मनु को ही वर्तमान मानव सृष्टि का अधिष्ठाता माना जाता है। मनु से पूर्व यहां देव-सृष्टि थी जिसका विनाश प्रलय द्वारा हुआ, उस प्रलय में से मनु शेष रह गये जिन्होंने काम-बाला श्रद्धा

(कामायनी) का मधुर प्रेम पाकर इस सृष्टि-क्रम को फिर रचा, किन्तु जब श्रद्धा पुत्रवती होने को हुई तो वे अधिक सुखों की लालसा में उसे निर्जन में अकेली छोड़ कर सारस्वत नगर में चले आये। यहाँ इस नगर की रानी इड़ा ने उन्हें आश्रय दिया। वे सारस्वत नगर के प्रजापति बन गये, उन्होंने अपना एक ऐसा राज्य बना लिया कि जिसकी प्रगति वर्तमान समय के किसी उन्नतिशील राज्य से कम नहीं थी, किन्तु मनु इससे सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने इड़ा को अपनी रानी बनाना चाहा। जब वह न मानी तो मनु ने उसे बलपूर्वक अपनी भुजाओं में बन्दी कर लेना चाहा। जिसका परिणाम हुआ—संघर्ष। प्रजापति के इस अत्याचार को जनता ने सहन नहीं किया। प्रजा और राजा का घोर युद्ध हुआ जिसमें मनु मूर्छित होकर गिर पड़े। बाद में श्रद्धा अपने पुत्र मानव को साथ लिये मनु की खोजती हुई उस स्थान पर पहुँची, जहां वे मूर्छित पड़े हुए थे और पास में बैठी हुई इड़ा विचारों की अग्नि-शिखा में धधक रही थी। श्रद्धा का कोमल स्पर्श पाते ही मनु में नव-प्राण का संचार हो गया। वे होश में आ गये, किन्तु प्रातः काल होने से पूर्व ही वे सब को सोता हुआ छोड़ कर शांति की खोज में निकल पड़े। श्रद्धा भी मानव को इड़ा को सौंपकर मनु की खोज में फिर निकल पड़ी। उसने मनु को पा लिया और वह उन्हें हिमालय के उच्च शिखर पर ले गई जहाँ वे मानसरोवर पर रहकर आत्म-कल्याण और सृष्टि-मंगल के लिए साधना करने लगे। इन के दर्शन करने के

लिए फिर इड़ा भी मानव और सारस्वत नगर के यात्रियों का एक दल साथ लेकर वहां पहुँची। उसने श्रद्धा से अपने अपराध की क्षमा माँगी। और अपने आप को कुटुम्बी कहा। तब मनु ने मुस्कराकर कैलाश पर्वत की ओर संकेत करते हुए उत्तर दिया—

हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

इसके पश्चात् मनु ने प्राण-सत्ता के सृष्टि-क्रम की व्याख्या की तत्पश्चात श्रद्धा के मधुर अधरों की स्मिति-रेखायें चारों ओर फैल गईं, जिससे सारा तपोवन रागमय हो गया, एक क्षण में ही सब कुछ परिवर्तित सा हो गया। विश्व सुन्दरी नये साज से सज उठी। समस्त हिमवती और पाषाणी प्रकृति सजीव हो गयी। सुन्दरता ने साकार रूप ले लिया तथा जड़ और चेतना आनन्द की समान लहरों से तरंगित हो उठे।

वास्तव में प्रसाद जी का यह ग्रंथ रूपक है। इसमें मनु मन श्रद्धा मन की विशुद्ध रागात्मक प्रवृत्ति, और इड़ा बुद्धि का प्रतीक है, जिनका समन्वय मानव इतिहास का अंग रहा है। इसमें कथा उतनी नहीं जितना कि चित्रवृत्तियों का प्रकाशन है। कल्पना और अनुभूति का सहारा लेकर प्रसाद जी ने चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा और ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियों का सजीव चित्र इसमें अंकित किया है। प्रत्येक सर्ग का विभा-

जन भी इन चित्तवृत्तियों के नाम पर ही हुआ है। पुस्तक पढ़ते हुए ऐसा लगता है, जैसे कि चिन्ता और आशा आदि का रूप लिए कोई अभिनेत्री आती है तथा अपना हाव भाव-पूर्ण सवाक् अभिनय करके चली जाती है। इस पुस्तक के विषय में श्री रामनाथ सुमन के ये विचार हैं—विलासप्रधान देव-संस्कृति की स्थापना का इसमें चित्र है। इसमें सामाजिक प्रयोगों के दर्शन तो होते ही हैं पर उस तत्व-ज्ञान की भी एक झलक मिलती है, जिसको लेकर ही मानव की आनन्द साधना चल सकती है। 'कामायनी' की कथा जहां एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रयत्न की कथा है वहां वह सम्पूर्ण मानवता के चिरंतन द्वन्द्व की भी कथा है। इस कथा के मूल में जिस रूपक का आभास हमें मिलता है उसकी एक श्रेष्ठ दार्शनिक पृष्ठभूमि है और उसके कारण 'कामायनी' को सम्पूर्ण मानवता के काव्य का गौरव प्राप्त हुआ है।

वास्तव में छायावादी और रहस्यवादी युग की समस्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला ग्रन्थ प्रसाद जी की कामायनी ही है। इसमें हम छायावाद और रहस्यवाद को मानव जीवन के आख्यान और विकास के साथ पूर्णतः सम्बन्धित पाते हैं। प्रलय से प्रताड़ित मनु प्रकृति की प्रशान्त गोद में ही अपनी रक्षा कर पाते हैं। प्रकृति की उदय और विकास-लीला ही उनके मनमें जीवन का संचार करती है। धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब, उर्मिल सागर, गम्भीर चन्द्रिका निधि, मित्र और अरुण बालाओं (दिवा-रात्रि) का शृङ्गार और पुलकित

समीर ही उन्हें किसी को अपनी जीवन कथा सुनाने के लिए आकुल कर देता है। चन्द्रमुख से घूंघट उठाकर मुस्कराती हुई रजनी तथा अम्लान गति से विचरण करते हुए मरुत, सोम और पूषा आदि ही उनमें वह संवेदना उत्पन्न कर देते हैं, जो कि छायावादी और रहस्यवादी कवि के लिए प्राणस्वरूप है तथा जो उसे यह जानने के लिए विवश कर देती है कि प्रकृति की इस अपार रूपराशि में कौन छुपा हुआ बैठा है—

सुन्दरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?

* * *

मेरी अक्षय निधि! तुम क्या हो,
पहचान सकूंगा क्या न तुम्हें ?
उलझन प्राणों के धागों की,
सुलझन का समझूं मान तुम्हें।

'कामायनी' के ऐसे स्थलों में प्रसाद जी पूर्णतः रहस्यवादी कवि हैं तथा उनका यह रहस्यवाद दर्शन और रहस्य की चाह-भूमि को पार करता हुआ आनन्द के उस शिखर पर पहुँचता है, जहाँ उन्हें जड़ और चेतन समस्त पदार्थ समान चेतना-शक्ति, समरसता और आनन्द की समान तरंगों से तरंगित दिखाई देते हैं—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था।

सफल महा-काव्य—सफल महा-काव्य की जो कसौटी हमारे यहां प्रचलित है तथा जिसके आधार पर हमने रामचरित मानस, प्रियप्रवास और साकेत आदि को परखा है, उनके आधार पर कुछ आलोचकों ने कामायनी के सफल महाकाव्य होने में शंकायें उत्पन्न की हैं, जो अधिकतर जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति, कथावस्तु और लोकोपयोगी दृष्टि-कोण को लेकर हुई हैं। उन आलोचकों की ये शंकायें निराधार तो नहीं कही जा सकतीं, हां तथ्यपूर्ण दृष्टिकोण का अभाव उनमें अवश्य है। रामचरित पर लिखे गये तुलसी के महाकाव्य को लेकर हमारे आलोचकों का एक दृष्टिकोण सा बन गया है कि जिसमें रामचरित की सी सर्वांगीण-जीवनाभिव्यक्ति हो वही सफल महाकाव्य है, किन्तु जीवन की अभिव्यक्ति को ही हम लें तो वह केवल बाह्य ही नहीं, अपितु आंतरिक भी होती है। बाह्य जीवन, जिसका सम्बन्ध परिवार, समाज और देश आदि से है; सचमुच ही कामायनी में कथा रूप में नहीं मिलता। वैसे अपने बिखरे हुए रूप में जीवन का यह पक्ष भी उसमें पर्याप्त है। इसका कारण है, मनु का वह जीवन कि जिसका विकास प्रकृति के सहारे पर्वतमालाओं, जगमगाते शिखरों, उर्मिल-सागर, लोहित-वसना संध्या, नील रजनी और स्वर्णिम ऊषा आदि के बीच में ही अधिक हुआ था, जिसमें जीवन के बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष का ही विकास संभव रहता है। हमारा आन्तरिक जीवन भाव-

भावनाओं का विश्लेषणात्मक रूप मात्र है। इसके विकास में मन, हृदय और बुद्धि का पूर्ण सामंजस्य अथवा इच्छा, ज्ञान और कर्म का समन्वय वांछित है। बिना इस समन्वय के मानव का विकास असम्भव है। इच्छा, ज्ञान और कर्म की यह मधुमती भूमिका ही उसे उस आनन्द-लोक में पहुँचाती है, जो अपने चिरन्तन रूप में पुरातन पुरुष में ही माना जाता रहा है। तथा जिसकी प्राप्ति भारतीय संस्कृति का अंग रही है। इस दृष्टि से जब हम कामायनी पर विचार करते हैं तो वह हमें मानव के आन्तरिक जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति के रूप में मिलती है। कामायनी में वर्णित इच्छा, कर्म और ज्ञान लोक विश्व की त्रिगुणमयी सत्ता के तीन बिन्दु हैं, जो अपनी विषमता के कारण अलग-अलग पड़े हुए हैं। इन तीनों लोकों के निवासी भी माया, संघर्ष और अस्ति-नास्ति के भेद में पड़े हुये जीवन के प्राप्य (मोक्ष या आनन्द) से वंचित हैं। कवि ने इस त्रिपुर की संधि-श्रद्धा (विशुद्ध रागात्मक मनोवृत्ति) की मधुर मुस्कान से करवाई है। उसकी दृष्टि में श्रद्धा ही मानव-को जीवन में शान्ति का अनुभव कराने वाली है। वही उसे निर्विशेष आनन्द धाम तक पहुँचाती है। बुद्धि को कवि तर्क-वितर्क और निर्मम कर्म-जाल अथवा उस विज्ञानमयी शान्ति में लिप्त करने वाली मानता है, जहाँ सन्तोषपूर्ण आनन्द का अभाव है। मन, हृदय और बुद्धि के इस रहस्य का उद्घाटन प्रसाद जी ने मनु, श्रद्धा और ईड़ा तीनों पात्रों का

आधार लेकर किया है। मनु को श्रद्धा ही लौकिक सुखों का अनुभव कराती हुई आनन्द के शिखर पर ले जाती है। इड़ा का सहयोग प्राप्त करके तो मनु भौतिक सुखों में ही लिप्त हो जाते हैं, जिनका परिणाम केवल संघर्ष अथवा विषमता ही रहता है, मनु भौतिक उन्नति तो करते हैं, किन्तु उनका हृदय श्रद्धा-विहीन हो जाता है। अतएव जितनी वैज्ञानिक उन्नति वे करते जाते हैं उतनी ही अतृप्ति उनमें और बढ़ती जाती है। तृप्ति का आधार उन्हें इड़ा का बलात्कार अथवा बुद्धि का दुरुपयोग दिखाई देता है, जिसे वे अपनी पूर्ण शक्ति के साथ करते हैं, किन्तु फिर भी विजयी नहीं होते। उनकी यह पराजय विज्ञान की पराजय है, जिसके ऊपर प्रसाद जी ने श्रद्धा की मंगलमयी विजय का भवन निर्माण किया है। यह विजय भारतीय-संस्कृति और विचारधारा की विजय है, जिसमें श्रद्धा को अधिक प्रश्रय दिया जाता है। इस दृष्टि से कामायनी भौतिक-वादियों और पाश्चात्य जीवन-दर्शियों के लिये एक अमर सन्देश है। इसके अतिरिक्त इसमें भाव-भावनाओं के वे चित्र अङ्कित हैं, जो किसी जाति अथवा देश विशेष की वस्तु न होकर मानव-मात्र की वस्तु हैं। इस दृष्टि से कामायनी मनु के जीवन का आख्यान न होकर मानवता के इतिहास की कुञ्जी है। इसमें लोकपक्ष का चित्रण भले ही महाकाव्यों की सी प्रचलित शैली में न हुआ हो, किन्तु फिर भी वह लोकहित की चिरंतन भावना को लिये हुए है। यह हम अधिकारपूर्वक कह

सकते हैं कि कामायनी में जीवन के वे तत्त्व निहित हैं जो किसी भी काल देश अथवा जाति में पहुँचकर कुण्ठित नहीं हो सकते। इसलिए हमारी दृष्टि में कामायनी प्रसाद जी का सफल महाकाव्य है।

सुमित्रानन्दन पंत—इनका जन्म सम्वत् १९५७ में कूर्मांचल के सुन्दरतम प्रदेश कौसानी जिला अलमोड़ा में हुआ था। स्कूली-शिक्षा के प्रति आरम्भ से ही इन्हें कोई विशेष रुचि नहीं थी। छोटेपन से ही इन्हें प्राकृतिक दृश्यों को निहारने का बड़ा चाव रहा है। स्कूली-शिक्षा तो इन्होंने एफ० ए० में ही छोड़ दी थी। किन्तु वैसे बंगला संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओं का गम्भीर अध्ययन इन्होंने किया है। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही इन्होंने 'हार' नाम का एक उपन्यास लिखा था। इनकी सबसे पहली कविता 'स्वप्न' सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। इन्होंने वीणा, ग्रन्थी, पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना, (नाटक) युगांत, युगवाणी, पल्लविनी ग्राम्या स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, युगपथ और उत्तरा नाम काव्य-संग्रह लिखे हैं। जिनका विवेचन नीचे किया जाता है—

वीणा—इसमें पंतजी की प्रारम्भिक कवितायें संग्रहीत हैं। इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजली का बहुत कुछ भाव लक्षित होता है। प्रकृति प्रेम, वाणी वन्दना, प्रेम की आकुलता और सौन्दर्य आकर्षण आदि की भावनायें इसमें गीति-काव्य का सुन्दर रूप लेकर अभिव्यक्त हुई हैं। इसकी कवितायें

अधिकतर भाव प्रधान हैं। इसमें कवि की कल्पना जैसे पंख-फड़फड़ाना सीख रही है। किन्तु उनकी रंजित काव्य कला का आभास हमें उनकी इस प्रथम पुस्तक में ही मिल जाता है भाषा में लाक्षणिकता और अभिव्यञ्जना का अच्छा समावेश हुआ है।

ग्रन्थि——यह पंतजी के असफल प्रेम की कहानी है। इसमें एक नवयुवक की प्रेम कथा को लेकर प्रेम की तीव्र अनुभूतियों का परिचय दिया गया है। दो अनुकूल पात्रों में स्वभावतः उठा हुआ प्रेम समाज के द्वारा कैसे कुचल दिया जाता है। इसकी मार्मिक व्यञ्जना पंतजी ने इस पुस्तक में की है। अतुकान्त कविताओं में सुन्दर अलंकार विधान के सहारे प्रेम के जिन भावों का चित्रण इन्होंने किया है तथा प्रेयसी के शृंगार का जो चित्र खींचा है, वह अत्यन्त स्वाभाविक और हृदय-स्पर्शी है।

पल्लव——यह इनकी सर्व प्रथम प्रौढ़ रचना मानी जाती है। इसमें पन्तजी हमें एक प्रौढ़ और मननशील कलाकार के रूप में दिखाई देते हैं। इस पुस्तक में यौवन के वे राग है, जिनमें उच्छ्वास, आँसू, आकुलता, उन्माद, अनुभूति, माधुर्य आदि सब कुछ हैं। यहाँ कवि में कल्पना शक्ति का भी पूर्ण विकास मिलता है। चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य और अप्रस्तुत विधान आदि काव्य की सभी विशेषतायें इसमें मिलती हैं। इसमें कवि केवल छायावादी ही न रहकर रहस्यवादी भी हो

गया है व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों में उसे किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव होने लगा है। उसने प्रकृति से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ लिया है। केवल सौन्दर्य और कल्पना के ही लोक में विहार न करके कवि ने सृष्टि और जीवन के परिवर्तन की ओर भी इसमें ध्यान दिया है। चित्रमयी लाक्षणिक भाषा और रूपक आदि का सहारा लेकर परिवर्तन का बड़ा ही व्यापक चित्र पंत जी ने इसमें खींचा है। इस कविता के विषय में डाक्टर नरेन्द्र ने लिखा है—

परिवर्तन में भिन्न २ वर्णों के चित्र हैं। कहीं श्रृङ्गार का अरुण राग है तो कहीं बीभत्स का मौला रंग है। एक ओर यदि स्वर्ण मृगों के मन्द विहार हैं तो दूसरी ओर वासुकि सहस्र फन को शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार हैं। कवि की भाषा की इतनी प्रबल शक्ति अन्यत्र कम दिखाई देती है। जिस प्रकार मानव जीवन के सिनेमा-गृह में मनोहर और भयंकर चित्र प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, ठीक इसी प्रकार परिवर्तन के चित्र, पल में रम्य और पल में भयानक होते रहते हैं।

गुंजन—इसमें पन्त जी जीवन और जगत् के प्राकृत क्षेत्र में पूर्णतः उतर आये हैं। कवि को सुख दुख के मधुर मिलन से परिपूर्ण जीवन प्रिय लगने लगा है। इसलिये वह मानव-जीवन में सुख-दुख के बंटवारे का इच्छुक हो चला है—

सुख-दुःख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हों घन।

❀ ❀ ❀

जग पीड़ित है अति दुःख से जग पीड़ित रे अति सुख से ;
मानव जग में बंट जावे दुःख सुख से औ सुख दुःख से ॥

रहस्य की स्वाभाविक भावना के साथ-साथ गुंजन में आकर पन्त जी दार्शनिक भी हो गये हैं। जीवन के परमार्थ तत्व को ढूंढने के लिये अन्तर्मुखी बन कर गहरी डुबकी लगाने की अपेक्षा नाना लहरोंमय जीवन के तट पर बैठ कर उस तत्व रूपी मछली की छवि देखना उन्हें अधिक प्रिय लगता है—

सुनता हूं इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है, भाती तट की जल–माली।
आएगी मेरे पुलिनों पर वह मोती की मछली सुन्दर।
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूंगा उसकी छवि जी भरकर ॥

युगान्त—इस ग्रन्थ रचना से पन्त जी ने एक प्रकार से छायावादी और रहस्यवादी युग के अन्त का संकेत किया है। इससे पहिले ज्योत्सना (नाटक) और पाँच कहानियाँ भी पन्तजी लिख चुके थे। उनमें भी हम इन्हें काल्पनिक क्षेत्र को छोड़ कर मानव जीवन की मंगलमयी कल्पना में निरत हुआ पाते हैं। युगान्त में तो वे पूर्णतः वर्तमान जीवन में उतरे हुए दिखाई देते हैं। श्रमजीवियों की दशा, परिवर्तन की आकांक्षा, जीवन के साथ-साथ बढ़ने की ललकार, बापू के प्रति श्रद्धांजलि और जगत् के नवनिर्माण की कल्पना में हम पन्त जी को यहां तत्पर हुआ पाते हैं। पन्त की रचनाओं का क्रमिक विकास दिखाते हुए युगान्त के कवि के विषय में शुक्लजी ने लिखा है—

'पल्लव, में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बंधा हुआ, गुंजन में कभी-कभी उसके बाहर और युगान्त में लोक के बीच दृष्टि फैलाकर आसन जमाता हुआ दिखाई पड़ता है। 'गुंजन' तक वह जगत् से अपने लिए सौन्दर्य और आनन्द का चयन करता प्रतीत होता है, 'युगान्त' में आकर वह सौन्दर्य और आनन्द का जगत में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौन्दर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है। अब तक कवि लोक-जीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को बचाता-सा आता रहा, अब उसने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है कि उस पर उसकी गति-विधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी के हृदय का वह प्रेम जो प्रकृति और मानवीय आकर्षण के रूप में 'गुंजन' तक काव्य का विषय बना रहा, वह 'युगान्त' में आकर विश्व-प्रेम में परिवर्तित हो गया। अब कवि की दृष्टि कान्ता विषयक भाव-भंगियों और सुकुमारता का चित्रण न करके पीड़ित संसार की ओर अग्रसर हुई। प्रकृति को भी अब कवि ऐसे रूपों में चित्रित करने लगा कि जो विश्व के मंगल में सहायक हो सके। अब प्रकृति अपने यथार्थ रूप में ही कवि के आकर्षण का विषय बन गई। उस पर भाव-भावनाओं का रंग चढ़ाना कवि ने छोड़ दिया। जिस कवि को कभी जीवन में मधुरिमा, हास, विलास, स्नेह, सुख, पुलक और मोद ही प्रिय था वही अब कुरूप कुत्सित और प्राकृत से प्यार करने लगा।

हे कुरूप, हे कुत्सित, प्राकृति, हे सुन्दर हे संस्कृत सस्मित,
आओ जग-जीवन, परिचय में परिचित से बाँह भरें।

इस प्रकार देश की विषम परिस्थितियों ने कवि को सहसा बदल दिया। कवि को ऐसा विदित हुआ जैसे कि उसकी रचनायें समय की वास्तविकता से बहुत दूर हैं तथा जिस सौन्दर्य जगत् में वह अब तक विचरण करता रहा है, वह लोक को सुन्दर रूप देनेमें कभी सफल नहीं होगा। भावना और कल्पना का कवि वस्तुस्थिति के लिए चिन्तनशील हो उठा तथा उसने युगवाणी की रचना की।

युगवाणी—में सब कुछ कवि के अपने युग (समय) का चित्रण है। वर्तमान समय के सभी वादों यथा समाजवाद गाँधीवाद आदि का निदर्शन उन्होंने किया है। वह संसारका द्रष्टा न रह कर कर्म क्षेत्र में उतरे हुए लोगों के साथ-साथ चल रहा है। उस के हृदय में नर-नारी और अत्याचार से पीड़ित जन समुदाय के प्रति तीव्र क्षोभ उत्पन्न हो गया है। जीवन-पथ के चारों ओर बिखरी हुई भीषण विषमताओं को देखकर कवि आतुर हो उठा है—

वन्हि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर,
कैसे रह सकता है, कोमल मनुष्य कलेवर।

पल्लविनी—यह पंतजी की युगान्त तक की सब रचनाओं में से चुनी हुई कविताओं का संग्रह है। युगांत के पश्चात् कवि कल्पना के लोक से उतरकर जीवन के क्षेत्र में

आजाता है। पल्लविनी का महत्त्व इसी में है कि इसमें कवि की उस युगतक की श्रेष्ठतम कवितायें एकत्रित हो गई हैं जहाँ तक कि वह कल्पना, भावना और यौवन के माधुर्य का कवि रहा है।

ग्राम्या—इस पुस्तक में कवि का समाजवादी रूप देखने को मिलता है। युगवाणी में जो कवि गाँधीवाद को जन-मंगल का हेतु समझ कर गांधी जी की प्रशस्ति लिख रहा था, वहीं ग्राम्या में साम्य-योजना को सामूहिक जीवन के विकास का हेतु मान रहा है—

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद॥

किन्तु कोमल प्राण कवि पंत साम्यवादी सिद्धान्तों को लेकर जीवन के संघर्ष से अधिक समय तक नहीं भिड़ सका। स्वर्णधूलि और स्वर्ण किरण में वह सहसा आध्यात्मिक क्षेत्र में आजाता है। ऐसा लगता है जैसे कि कवि युगवाणी और ग्राम्या में मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन का अनुभव प्राप्त करके अतिभौतिकतावाद की कटुतासे थक गया है। तथा स्वाभाविक संवेदन से चोट खाकर आध्यात्मक सत्य की ओर अग्रसर हुआ हो। किन्तु पंत का कवि जिस आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हुआ है वह धार्मिक अथवा रहस्यवादी न होकर वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक है। कवि के इस विचार परिवर्तन में उसका तीन चार वर्ष तक रुग्ण रहना बहुत कुछ कारण बना

है। मृत्युशैय्या से बचकर जब कवि ने स्वास्थ्यलाभ प्राप्त किया तो स्वभावतः उसमें उस चेतन सत्ता के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ, जो मानव-जीवन का परिचालन करने में समर्थ है। उस चेतन सत्ता का चित्र पंत ने इस प्रकार खींचा है—

वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रजतन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ, अध्यात्मवाद हो जिसका हृदयगंभीर चिरन्तन।

पंत में यह आध्यात्मिक मनोवृत्ति युगान्त की रचनाओं से ही आरम्भ हो गई थी, किन्तु युगवाणी और ग्राम्या में उनकी चिन्तन-प्रवृत्ति बहिर्मुखी हो जाने के कारण वह कुछ लुप्त सी हो गई थी। लम्बी रुग्णावस्था में तपकर पंतजी पुनः अंतर्मुखी हो गये, जिससे स्वर्णधूलि और स्वर्णकिरण चिन्तनप्रधान काव्य का रूप लिये हुए हैं।

युगपथ—इस पुस्तक के दो भाग हैं। पहिले भाग में 'युगान्त' ज्यों का त्यों है। दूसरे भाग में 'युगान्तर' शीर्षक के अन्तर्गत बापू के देहावसान के बाद लिखी हुई कुछ कवितायें हैं।

उत्तरा—यह पंत जी की हाल ही में प्रकाशित हुई रचना है इस में उनकी कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती और युग-जीवन संबन्धी और कुछ प्रकृति तथा वियोगशृङ्गार विषयक कवितायें और कुछ प्रार्थना गीत संग्रहीत हैं।

काव्यसाधना—पंतजीने प्रायः मुक्तक-काव्य ही हिन्दी संसार को अब तक दिये हैं। केवल 'ग्रंथि' में ही कुछ कथा मिलती

हैं, किन्तु उसका भी आधार काल्पनिक तथा साधारण प्रेम-कोटि का ही है। इनके मुक्तकों पर यदि विषय की दृष्टि से विचार किया जाये तो उनमें प्रेम, सौन्दर्य, यौवन का उभार, जीवन की कारुण्य और उल्लास तरंग, प्रकृति संघर्ष, यथार्थता साम्य, आध्यात्मिकता आदि सभी कुछ निहित है। कवि के रचनाक्रम का क्रमिक विकास देखते हुये ऐसा लगता है जैसे कि उसने भूतल और नभतल से सम्बन्धित सभी विषयों की ओर दृष्टि डाली है भावना और कल्पना के जगत् में विहार करता हुआ कवि का हृदय जहाँ प्रेम के राग गाता है वहीं वह जीवन के यथार्थ लोक में उतर कर नाना संघर्षों पर भी दृष्टि डालता है तथा चिंतन-क्षेत्र में प्रवेश कर अध्यात्म के उस लोक में पहुँचता है जो भारतीयता का मुख्य अङ्ग रहा है। स्वर्णधूलि, स्वर्ण किरण और उत्तरा में हम पंतजी को पूर्णतः दार्शनिक हुआ पाते हैं। कवि को अब जीवन और सृष्टि का सत्यरूप अधिक प्रिय लगने लगा है। वर्तमान भौतिकवाद जो मानव-जीवन में कितने ही क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर रहा है, वह मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक अवस्थाओं में भी कितने ही आंतरिक रूपान्तर उपस्थित कर रहा है। इसकी परख पंत ने युगवाणी और ग्राम्या में भली प्रकार की है। कवि को यह विश्वास हो चला है कि आज के मानव की अन्तर्चेतना में भी युगान्तर होना चाहिये—यह नवीन चेतना ही अब पंतकी काव्यसाधना का मुख्य विषय है। कवि का कथन है

कि वर्तमान जनयुग के संघर्ष में मानवयुग के उद्भव की आशाप्रद प्रेरणा, उद्बोधन और स्वप्न-सूचनायें इसकी आजकल की कविताओं का विषय हैं। उत्तरा के एक गीत में कवि ने लिखा है—

मेरे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
आगे आयेंगे तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण।

इन पंक्तियों में कवि ने अपने आपको उन्मन मधुकर का रूप दिया है, जो इस विश्व कमल में शोभा की स्वप्निल गुंजार भर रहा है। इस उक्ति से कवि की काव्य-साधना का पूर्ण परिचय मिलता है। कवि जो कुछ भी कर रहा है, वह सब कुछ इस विश्व को शोभनतम बनाने के लिये, किन्तु कवि ने अपनी गुंजारों को स्वप्निल कहा है। स्वर्णिम मधुकण वितरण करने वाली नहीं। इसकी पूर्ति की आशा कवि ने आगे आने वाले तरुण भृंगों से की है। इस कथन से कवि की विनम्रता तो प्रकट होती है, किन्तु साथ ही नवीन चेतना की लोकोत्तरता पर अटूट विश्वास भी झलकता है जैसा कि उसने भूमिका में स्वयं स्वीकार भी किया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—इनका जन्म संवत् १९५५ में जिला मेदिनीपुर (बंगाल) में हुआ। इनकी शिक्षा बंगाल में ही हुई। और वहीं पर ये पले भी थे। इसलिये बंगला एक प्रकार से इनकी मातृभाषा रही है। हिन्दी पढ़ने की रुचि इन्हें [illegible] थी। इन्होंने बंगला, अंग्रेजी और

संस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया है। स्वामी रामकृष्ण परम हंस और स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों का इन्होंने २२ वर्ष की आयु में ही अच्छा मनन कर लिया था। हिन्दी जगत् में इनका प्रवेश कलकत्ता से निकलने वाले 'मतवाला' पत्र के साथ हुआ। ये इस पत्र के संपादकीय विभाग में कार्य करते थे। इनका निराला नाम भी उसी समय प्रकाश में आया। आरम्भ से ही ये फक्कड़ प्रवृत्ति के प्राणी रहे हैं। यौवन काल में ही ये विधुर हो गये थे। और तब से अब तक विधुर-जीवन बिताते रहे हैं। पत्नी का वियोग ही नहीं, पुत्री का वियोग भी इन्होंने सहन किया। जो विवाह के थोड़े दिन पश्चात ही चल बसी थी। अब इनका एक पुत्र है जो संगीत कला में विशेष निपुण है। किन्तु निराला जी सदा अकेले ही रहे हैं। साहित्य-साधना ही उनका एक मात्र ध्येय रहा है। निराला जी अपने जीवन में कवि कलाकार, दार्शनिक, सहृदय-मानव, और पहलवान सब कुछ रहे हैं। और अब संन्यास भी ले लिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका निराला नाम बिलकुल सार्थक है, जो उनके जीवन और व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं, अपितु कवित्व में भी पूर्णत: दिखाई देता है। जैसे वे स्वयं निराले हैं वैसे ही उनकी कविता भी निराली है। उन्होंने कहानी, उपन्यास और कविता आदि सभी कुछ लिखा है, जिनमें हर दृष्टि से उनका निरालापन है। वे छायावादी, रहस्यवादी और प्रगतिशील कवि

ही नहीं अपितु युगस्रष्टा भी हैं। उन्होंने हिन्दी कविता को शैली विषय, भाव, और विचारों की अनेक वीथियों में घुमाया-फिराया है। ये कभी किसी के स्वर से स्वर मिलाकर नहीं चले उन्होंने सदैव अपने ढंग से अपने स्वर में और अपनी ही सज-धज के साथ गाया है। यही कारण है कि उनके स्वच्छन्द स्वर को अधिकतर आलोचक बेसुरा राग कहते रहे हैं, किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह बेसुरा राग किसी सीखतर के गले का बेसुरा राग नहीं है बल्कि यह पक्के गवैये के सधे हुए कण्ठ से निकली हुई तान है, जिसमें मूर्छनाओं का वह कंपन है कि जो उसके समझने वालों को उन्मत्त बना देता है। तथा जिसमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाने की पूर्ण क्षमता है। उनमें दुरूहता अवश्य है किन्तु वह निरभिप्राय नहीं। कवि का शब्द-भण्डार इतना विशाल और अधिकारपूर्ण है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार उनका प्रयोग करता है। उनकी पद-विन्यास शैली कितनी सुन्दर, परिमार्जित और अलंकृत है, यह उनके गद्य में भली भाँति देखा जा सकता है, किन्तु कविता में निराला जी का शब्दचयन कुछ विचित्रता लिए हुए है, जिसका कारण है छंद-बंधन की मुक्ति। कवि छंद और तुकों की परंपरागत रूढ़ियों को तोड़कर लय विशेष में झूमने लगा है। मात्रा और वर्णों की गणना पर ध्यान न देकर वह उस संगीत-मयी ध्वनि में बहता हुआ पद-रचना करता है, जहाँ वर्ण अपना अस्तित्व खो देते हैं।

साहित्य-सेवा—निराला जी ने काव्य, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, नाटक, जीवनी, निबन्ध, आलोचना, अनुवाद और नाना फुटकर विषयों पर लगभग ५० पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से काव्यग्रंथ--अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका नवीन, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा, वर्षागीत आदि हैं। इनमें से प्रमुख काव्य-ग्रंथों पर यहाँ विचार किया जायगा।

अनामिका—यह इनकी प्रारम्भिक रचनाओं का सर्व-प्रथम संग्रह है। निराला जी की छंद-विहीन अतुकांत प्रवृत्ति का श्री गणेश यहीं से होता है। दार्शनिकता का अभ्यास भी कवि का यहीं से आरम्भ होगया है। प्रेम, दर्शन और धर्म इन तीनों का स्वर ही इस पुस्तक में प्राय: प्रधान रहा है। 'तुम और मैं' तथा 'जूही की कली' अनामिका की ये दो कविताएँ हिन्दी संसार में बहुत प्रसिद्ध हुई हैं। इन कविताओं में निराला जी ने जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम की आँखमिचौनी का सुन्दर चित्रण किया है—

> तुम तुंग हिमालय-शृंग और मैं चंचल गति सुर सरिता,
>
> तुम विमल हृदय उछ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता।
>
> तुम प्रेम और मैं शान्ति,
>
> तुम सुरा-पान-घन-अन्धकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।

परिमल—परिमल निराला जी की प्रौढ़ काव्य-रचना है। इसमें वे सब कुछ नवीनतम और मौलिक लेकर आते हैं।

प्रसाद जी का आँसू और पंत जी का पल्लव जैसे क्रमशः उन्हें छायावादी श्रेणी का प्रौढ़ कवि बनाने वाली रचनायें हैं, वैसा ही स्थान निराला जी के परिमल का भी समझना चाहिये. इसमें निराला जी काव्य के प्रसाद गुण की ओर अधिक झुके हुए हैं। विषय इसमें कोई एक प्रधानता नहीं ले सका है. प्रकृति, प्रेम, भक्ति-भावना, दार्शनिकता, अध्यात्म-प्रेम, देश-प्रेम और नारी-सौंदर्य आदि सभी विषयों पर परिमल में कवितायें मिलती हैं। इस पुस्तक की सबसे अधिक महत्ता उस समय की दृष्टि से यही रही है कि इसमें हिन्दी-कविता ने प्रथमबार दीन-हीन और दरिद्र मानवभूमि की ओर देखा था। इस पुस्तक की निम्न कविता ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की है—

वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक, चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

गीतिका—यह निरालाजी की प्रगीतियों का संग्रह है इसके गीत अधिकतर रहस्यवादी हैं जिनके विषय में श्री नन्ददुलारे बाजपेई का यह कथन है—परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूति से उनके गीत रंजित हैं। रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्ति की जो बहुविधि चेष्टाएं आधुनिक हिन्दी में की गई हैं, उनमें निराला जी की कृतियां

विशेष उल्लेखनीय है। कुछ कवियों ने तो रहस्यपूर्ण कल्पनायें ही की हैं, किन्तु निराला के काव्य का मेरुदण्ड रहस्यवाद है। उनके अधिकांश पदों में मानवीय जीवन के चित्र हैं सही, किन्तु वे सबके सब रहस्यानुभूति से अनुरंजित हैं।

गीतिका में जीव-ब्रह्म-विषयक रहस्यवाद, प्राकृतिक रहस्यवाद, आध्यात्मिक रहस्यवाद, देशभक्ति, प्रेम और नारी-सौंदर्य आदि विषयों पर गीत लिखे गये हैं। यहां पर कवि ने जीवन के सभी क्षेत्रों से उपकरण लिये हैं। कवि केवल कल्पना में ही नहीं घूमता रहा है, बल्कि अपने चारों ओर की भूमि पर भी उसने दृष्टि डाली है। प्रेम और नारी-सौंदर्य का चित्रण करते हुये कवि स्थूलता की ओर अधिक ध्यान नहीं देता। देह के विलास की अपेक्षा मानसिक प्रेम-विलास उसे अधिक प्रिय है और वह भी उसने नर नारियों की स्थूल क्रीड़ाओं में चित्रित न करके, प्रकृति के सहारे छायावादी शैली में चित्रित किया है।

अनामिका—इस नाम के दो संग्रह निरालाजी के निकले हैं प्रथम अनामिका का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। दूसरी अनामिका निराला जी की अन्य कविताओं का संग्रह है। इसमें निराला जी केवल छायावादी रहस्यवादी कवि न रह कर प्रगतिशील कवि भी हो चले हैं। इसमें उन्होंने सरोजस्मृति नाम की कविता अपनी पुत्री सरोज की अकालमृत्यु की वेदना से पीड़ित होकर लिखी है, जिसमें निरालाजी के अपने जीवन

की बड़ी करुणापूर्ण व्यंजना हुई है। निरालाजी के स्वस्थ, कठोर, और सदय व्यक्तित्व की पूर्ण झलक इस कविता में मिलती है। 'किसान की नई बहू की आंखें' ठूँठ, खुला आसमान और तोड़ती पत्थर इन कविताओं में निरालाजी की प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं। इन कविताओं से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि कवि कल्पना और सौन्दर्य के संसार को छोड़ कर पीड़ितों, क्षुद्रों और अपाहिजों के लिये सहृदयता बहाने चला हो। 'तोड़ती पत्थर' इस कविता में निराला जी दोपहरी में इलाहाबाद की सड़क पर पत्थर तोड़ती हुई एक मजदूरनी को देखकर सदय हो उठे हैं—

> चढ़ रही थी धूप, गर्मियों के दिन।
> दिवा का तमतमाता रूप, उठी झुलसती हुई लू।
> रुई ज्यों जलती हुई भू, गर्द चिनगी छा गई।
> प्रायः हुई दुपहर, वह तोड़ती पत्थर।

तुलसीदास—यह निराला जी का सौ छन्दों का एक खंड-काव्य है, जिसमें महाकवि तुलसीदास को मनोविज्ञान के प्रकाश में ऊपर उठता हुआ दिखलाया गया है। इसके पहले छन्दों में कवि ने यह दिखलाया है कि मुगलों के आक्रमणों और राज्य से हिन्दु-संस्कृति और सभ्यता को कितना धक्का पहुँचा और मुस्लिम संस्कृति के चन्द्रमा का कैसे उदय हुआ ? जिसके शीतल आलोक में महाकवि तुलसी ने जन्म लिया। एक दिन वह मित्रों के साथ चित्रकूट गये। वहां के प्राकृतिक

सौंदर्य को देख कर उन्हें चैतन्य का अनुभव हुआ। प्रकृति ने उन्हें जड़ता से चेतनता की ओर बढ़ने का संदेश दिया। माया के जिस पर्दे में सत्य छुपा हुआ है, उसका उन्हें आभास सा होने लगा, उनका मन ऊर्ध्वगामी हो गया, उन्होंने देखा कि भारत की सभ्यता एक जाल में फंसी हुई है। जिसका नाश करने के लिये उनके प्राण व्याकुल हो उठे, किन्तु उसी तरह आकाश में विचरण करते हुये उनके मनको अपनी पत्नी के दर्शन हुए जिसके मोह से उनका मन भूतल पर उतर आया और सारी प्रकृति को उन्होंने अपनी पत्नी के रंग में रंगा हुआ देखा। इसके बाद तुलसी अपने घर लौट आये, घर आकर उन्होंने देखा उनकी पत्नी (रत्ना) को उसका भाई लिवाने आया है। वे रत्ना को भेजने के इच्छुक नहीं थे, किन्तु उसका भाई उनकी अनुपस्थिति में उसे लिवा लाया। तुलसी जब बाजार से लौटे तो रत्ना को घर न देख कर बड़े व्याकुल हुए और अपनी सुसराल को चल दिये। रास्ते में सारी प्रकृति उन्हें रत्ना के प्रेम में ही रंगी हुई दिखाई देती थी।

रात्रि में जब रत्ना तुलसी से मिली तो उस समय उन्होंने उसका नवीन रूप देखा—सारी भारत की सभ्यता को पुनर्जीवन देने के लिये ही मानों रत्ना उनकी स्त्री बनी हो, किन्तु उसने विकराल रूप धारण किया हुआ था उसके केश खुले थे, आँखों से ज्वाला निकल रही थी। उसकी अन्तर ज्वाला ने उसके रूप को जैसे भस्म कर दिया था। पत्नी की इस अरूपता को देख

कर तुलसीदासजी सहम गये। पत्नी के मुख से निकले हुये मार्मिक शब्द उनकी अन्तर-आत्मा में पैठ गये और वे अज्ञात के पथ की ओर चल दिये। रत्ना आँखों में आंसू भर लाई, किन्तु अब तुलसी के लिये लौटना असम्भव था।

इस कथा में तुलसी के मनोवैज्ञानिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व और आध्यात्मिक उड़ान को निरालाजी ने जिन रंगों और भाव-भङ्गिमाओं से रंजित किया है, वह इस पुस्तक को पढ़ कर ही जाना जा सकता है। निराला जी ने इसमें चरित्र-चित्रण घटना-विस्तार आदि को न लेकर तुलसीदासजी की मनोभूमि के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया है। वर्तमान युग मनो-विज्ञान का युग है। घटनावैचित्र्य से आज का मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता। वह उन चित्तवृत्तियों का अध्ययन चाहता है, जो किसी मनुष्य को महान या पतित बना देती हैं। तुलसी के गृह-त्याग में कोई स्थूल घरेलू समस्या नहीं थी, उनके जीवन की दिशा को पत्नी के 'लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ' इन शब्दों ने ही बदल दिया था। निरालाजी ने तुलसी के गम्भीर व्यक्तित्व की इसी मनोवैज्ञानिक भूमिका को अपनी इस पुस्तक में अनुप्राणित किया है। उनकी यह पुस्तक मनुष्यत्व के श्रेष्ठतम आदर्श पर वर्तमान युग के बहुत कुछ अनुरूप लिखी गई है, यह निःसन्देह कहा जा सकता है। कवि की शैली दुरूह अवश्य है किन्तु उसका एकमात्र कारण मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता को कथाबद्ध शैली में काव्य का रूप

देना है। जहाँ जीवन की स्वाभाविकता को स्थान मिला है, उन स्थलों पर कोई दुरूहता नहीं मिलती। नीचे की पंक्तियों में भाई के हृदय की कितनी स्वाभाविकता है, देखिये—

" हो गई 'रतन' कितनी दुर्बल, चिन्ता में बहन तू गई गल ?
माँ, बाबूजी भाभियाँ सकल पड़ोस की, हैं विकल देखने को सत्वर,
सहेलियाँ सब ताने देकर, कहती हैं बेचा वर के कर, आ न सकी !
तुझसे पीछे भेजी जाकर, आईं वे कई बार नैहर ;
पर तुझे भेजते क्यों श्री वर जी डरते ? हम कई बार आ-आकर
घर लौटे पाकर झूठे उत्तर, क्यों बहिन, नहीं तू सम उनपर, बल करते ?

निराला जी अपने समस्त जीवन में एक क्रान्तिकारी साहित्यिक रहे हैं। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने हिन्दी को नई कला, नई शैली और नई विचारधाराओं में घुमाया-फिराया है। वे सदा अपने ताल और स्वर के अनुसार चले हैं। उनके नये दृष्टि-कोण की आलोचकों ने सदा खिल्ली उड़ाई है, किन्तु निराला जी ने उनके कटु प्रहारों, उपहास-पूर्ण व्यंग्यों और छीछालेदर की कभी चिन्ता नहीं की। वे हिन्दी में छन्दों के बन्धन को तोड़ कर चले हैं तथा स्वतंत्र छन्दों में इतना ऊँचा साहित्य उन्होंने प्रस्तुत किया है कि छन्दों का अनुसरण करने वाले कवि भी उनकी स्वतंत्र शैली से प्रभावित होकर छन्द-विहीन रचना करने लगे। साहित्य में विचारों की क्रान्ति भी निराला जी ने ऐसी ही की है। काव्य की परम्परागत रूढ़ियों में बँध कर न निराला जी ने कभी

सोचा है और न लिखा है। उनका जीवन-दर्शन और दृष्टिकोण सर्वथा नवीन और प्रगतिशील रहा है। इतिहास, राजनीति, समाज, धर्म, प्रेम, प्रकृति और सौन्दर्य आदि काव्य के जिस विषय पर भी इन्होंने दृष्टि डाली है उसी को अपनी प्रतिभा से नवप्राणित कर दिया है। जीवन के वास्तविक क्षेत्र में भी निराला जी जिस दृष्टिकोण और आदर्श को लेकर प्रविष्ट हुये हैं, उसमें भी उनका अपनापन है। तुलसीदास के बाद की उनकी नई रचनाओं के सभी संग्रह उनकी सामयिक परिस्थितियों के क्रांतिकारी चित्रण हैं। इन रचनाओं में कवि का हृदय दीन-हीन मजदूर, किसान और दलित मानववर्ग की समस्याओं को लेकर क्रान्ति कर उठा है। अपनी इन रचनाओं में वे असुन्दर, साधारण, पर महत्वपूर्ण के लिये विकल हो उठे हैं। इन रचनाओं में हम उनके समाजवादी अथवा प्रगतिशील विचारों का सजीव चित्रण पाते हैं। छायावाद और रहस्यवाद की मधुर वीणा को छोड़ कर इन रचनाओं में निराला जी ने प्रगतिवाद का शंखनाद किया है। निःसन्देह इन रचनाओं में वह सौन्दर्य नहीं जो कि हमें उनकी पहिले की रचनाओं में मिलता है, किन्तु इन रचनाओं में कवि ने जीवन की यथार्थता, मानव की भूख, परिस्थितियों की विषमता और पूंजीवाद के विकरालरूप का जो चित्र खींचा है, वह सर्वथा साहित्य की पूंजी रहेगा। क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह उनकी आंखों देखी और अनुभूत वस्तु है। राजनीति के ठेकेदारों,

साम्यवादियों, कांग्रेसियों, किसानों, मजदूरों, युगनेताओं और पूंजीपतियों पर निराला जी ने जो व्यंग्य लिखे हैं, उन में साहित्य हो अथवा न हो, किन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि जीवन में क्रान्ति लाने की क्षमता उनमें अवश्य है। निराला जी की ऐसी रचनायें कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला और नयेपत्ते आदि हैं। इन में उन्होंने गीत गजलें और कजरी आदि बिलकुल सरल और व्यंग्यपूर्ण भाषा में लिख कर क्रान्ति का नव स्वर फूंका है। 'नयेपत्ते' नाम की रचना में इतिहास-चेतना, सामाजिक और राजनैतिक व्यंग्य लिख कर निराला जी ने यह संदेश दिया है, कि अपनी मुक्ति का मार्ग मनुष्य को स्वयं ढूंढना चाहिये, नेताओं की ओर ध्यान लगाना व्यर्थ है।

काव्य-साधना—निराला जी की काव्य-साधना के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने लोहे के चने चबाये हैं। और अपने जीवन के कण-कण को विषमताओं की भट्टी में तपा कर काव्य का रूप दिया है। अपने व्यक्तिगत जीवन में उनको जितनी कठोर साधना और संघर्ष का सामना करना पड़ा है, उतना ही तप उन्होंने हिन्दी–कविता को रूढ़ियों में से मुक्त करने के लिये भी किया है। उनकी इस तपस्या के विषयमें हम श्रीमती महादेवी जी वर्मा की कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हैं, 'कवि श्री निराला जी उस छाया युग के कृती हैं जिसने जीवन में उमड़ते हुए विद्रोह को संगीत का स्वर और भाव का मुक्त-

सूक्ष्म आकाश दिया। वे ऐसे युग का भी प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जो उस विद्रोह का परिचय, कठोर धरती पर विषम कंठ में ही चाहता है।

उनकी आत्मा नई दिशा खोजने के लिये सदा से विकल रही है, और यह खोज तीन दशक पार कर चुकी है। अतः यदि उनकी रचनाओं में रंग रेखाओं का सम-विषम मेल मिले तो आश्चर्य नहीं। एक ओर उनका दर्शन उन रहस्यमय सूक्ष्म तत्वों का साथ नहीं छोड़ना चाहता जो युग-युगों का अर्जित अनुभूत-वैभव है और दूसरी ओर उनकी पार्थिवता धरती के उस गुरुत्व से बंधी हुई है जो आज की पहली आवश्यकता है। एक ओर उनकी सांस्कृतिक दृष्टि पुरातन की प्रत्येक रेखा में उजले रंग भरती है और दूसरी ओर उनकी आधुनिकता व्यंग की ज्वाला में तपा-तपा कर सब रंग उड़ाती रहती है। कोमल मधुर गीतों की वंशी से ओज के शंख तक उनकी स्वर साधना का उतार चढ़ाव है। उनका अनुकरण किसी के लिये सुकर नहीं रहा, इसी से उनके स्वर को अनेक प्रतिध्वनियों का जाल नहीं घेर सका। उनका व्यक्तित्व अव्यवस्था में दुर्बोध है, इसी से आलोचक अपने अनुमानों के विरामों से उसे बाँध नहीं सके। वे अकेले और उनका स्वर अकेला है।

महादेवी वर्मा—इनका जन्म संवत १९६४ में हुआ। ये वर्तमान समय की मीरा मानी जाती हैं। इनका जीवन भी 'मीरा' की तरह ही साधनामय रहा है। केवल अन्तर इतना

है कि 'मीरा' कृष्ण को अपना पति मानती थी तथा उसके प्रेम के गीत साधु—सन्तों में बैठ कर गाती थी। किन्तु महादेवी जी का प्रियतम अज्ञात है, इसलिये उसके रहस्यमय गीतों को भी वे जीवनकी एकान्त घड़ियों में खोकर ही गाती हैं। महादेवी जी का विवाह वैसे ग्यारह वर्ष की छोटी सी आयु में ही हो गया था, किन्तु वैवाहिक जीवन उन्हें अधिक प्रिय नहीं रहा है। आरम्भ में तो उनका विचार बौद्ध-भिक्षुणी बन जाने का था, किन्तु ऐसा वे कर न सकीं। तथापि फिर भी पति से अलग रह कर ही उन्होंने अपना अब तक का जीवन व्यतीत किया है। वे प्रयाग महिलाविद्यापीठ की प्रधान आचार्या के रूप में वर्षों से अवैतनिक कार्य कर रही हैं। उनका कथन है—मेरा अधिकतर समय विद्यापीठ के कामों में व्यतीत होता है। इस दृष्टि से हम उन्हें रचनात्मक कार्यकर्त्री कह सकते हैं। उनका रहन-सहन अत्यन्त सरल और गम्भीर है। नारी-जाति का गौरव उन्होंने केवल कवितायें लिखकर ही नहीं बढ़ाया, अपितु वे समय-समय पर ग्रामों में जाकर दीन-दुःखियों की सहायता भी करती हैं। कविवर निराला जी को इन्होंने सदा भाई के समान माना है। निराला जी का भी यह कथन है कि उन्हें जीवन में सब से अधिक सजीव स्नेह देवी जी से ही मिला है।

महादेवी जी को चित्रकला और संगीत से भी बड़ा प्रेम रहा है। संगीत की मधुरता, चित्रकला की रंगीनता, बौद्ध धर्म की कारुण्यधारा, सेवा-भावना, दार्शनिक चिन्तन, सरलता

और एकाकीपन की मूकता ने मिलकर महादेवी जी के जीवन को कविता का रूप दे दिया है। उनका काव्य क्या है, मानों उनके जीवन की सजीव मकरुण और मधुर अभिव्यक्ति है।

साहित्य-सेवा—महादेवी जी के नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा नाम के काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। सांध्यगीत तक की रचनाओं का एक संग्रह यामा के नाम से भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार यामा और दीपशिखा नाम के दो वृहद काव्य-संग्रह इनके प्रकाशित हुए हैं। जिनमें कविताओं के भावों को व्यक्त करने वाले चित्र भी दिये गये हैं। अतीत के चल चित्र, स्मृति की रेखायें, शृंखला की कड़ियाँ, विवेचनात्मक गद्य आदि उनकी गद्यकी रचनायें हैं जिन में वे हमें कहानीकार निबन्ध लेखिका और आलोचक के रूप में दिखाई देती हैं। वेदों के कुछ प्रमुख अंशों के अनुवाद भी इन्होंने किए हैं, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुये। इनकी प्रकाशित रचनाओं का भावात्मक क्रम दरसाते हुए प्रोफेसर मानव ने लिखा है—'नीहार' में आकर्षण और पीड़ा की अनुभूति, 'रश्मि' में दार्शनिक सिद्धान्तों, 'नीरजा' में विरह-व्यथा 'सांध्य गीत' में आत्म-तोष और 'दीपशिखा' में साधना की गति का प्रतिपादन है।

महादेवी जी की रचनाओं का यह भावात्मक क्रम तो है ही, इसके साथ ही जिस क्रम से उन्होंने अपनी रचनाओं के नाम रक्खे हैं वे भी अपने में एक गूढ़ रहस्य छुपाये हुए हैं।

उनकी यामा नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत इन पृथक्-पृथक् नामों से प्रकाशित चार पुस्तकों का संग्रह है। नीहार कुहरे को कहते हैं, कुहरे के आच्छादन को पार करती हुई स्वर्ण रश्मियां (प्रातः काल की किरणें) विश्व कमल पर छा जाती हैं, जिनसे सृष्टि का मानस कमल खिल उठता है। तत्पश्चात दोपहर के घोर ताप से तापित सृष्टि को विश्राम की आशा दिलाती हुई, संध्या आती है, जिस में दीपशिखा नाना आतुर हृदयों के लिए प्रकाश बनकर जलती है। इस क्रम से महादेवी जी की ये रचनायें जहाँ एक ओर जगती के विभिन्न अवसरों के वातावरण की चित्रपटी को अपने में छुपाये हुये हैं। वहां वे कवयित्री की जीवन-साधना की सरल मीमांसा का भी प्रकाशन करती हैं। उनकी भावनायें रहस्यात्मक हैं। वे अज्ञात की साधना के पथ पर अपने जीवन के नीहार (करुणा) को पार कर रश्मियों की तरह प्रकाशित हुई हैं, तथा उनका जीवन नीरजा की भांति विकसित होकर विरह-ताप में तपता हुआ सांध्यगीत गाने लगा है। उनके समस्त गीतों में विरह की तीव्र वेदना, मिलन की आशा और प्रतीक्षा की आतुरता है। उनकी विरहिणी आत्मा दीपशिखा बन कर जलती है, उनके लिये रात—विरह निशा, अन्धकार—प्रेम पीड़ा, संसार—शलभ झंझा—जीवन का अवसान और विघ्न, आन्तरिक स्नेह—तेल, सुधि—लौ, प्रकाश—धुंधले पथ की आशा और प्रभात—मिलन की वेला बन गये हैं। वे अपने प्राणों के दीपक को जला कर

अज्ञात के पथ को आलोकित करती हैं मिलन को आशा में तिल-तिल कर जलती रहती है और अपने प्रियतम को स्वप्न में बाँधने में भी असमर्थ है--

स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे!
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे!
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रति पल मेरे स्पन्दन रे!
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे!

* * *

तुम्हें बांध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा--
लेती उस छोटे क्षण अपने में।

काव्य साधना-- महादेवी जी की काव्य-साधना का प्रधान स्वर करुणा है। उन्होंने अपने जीवन में पीड़ा को अधिक महत्व दिया है उनका कथन है--"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद आंसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सब को बाँट कर--विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिलजाता है, कवि का

मोक्ष है।" देवी जी के इस कथन के अनुसार हम जीवन के नाना दुःख और कष्टों को ही उनकी काव्य-साधना का विषय बना पाते हैं। रहस्यवादी कवयित्री होने के कारण उन्होंने करुणा की साधना को ही अपना दृष्टि-बिन्दु बनाया है। वे अमरों के लोक को ठुकरा कर भी अपने मिटने के अधिकार को सुरक्षित रखना चाहती हैं, उन्हें जितनी चिन्ता प्रियतम के पीड़ा के राज्य में अन्धकार छा जाने की है, उतनी चिन्ता अपने प्राणों के दीपक के बुझजाने की नहीं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो देव ! अरे यह, मेरा मिटने का अधिकार ॥

❀ ❀ ❀

चिन्ता क्या है, हे निर्मम, बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अन्धेरा ॥

किन्तु देवी जी की इस करुणा को दीनता-जन्य करुणा नहीं समझना चाहिए, उनकी इस करुणा में विरहिणी आत्मा का मूक चीत्कार है, जो उनकी प्रथम रचना 'नीहार' से लेकर 'दीपशिखा' तक की समस्त रचनाओं में मुखरित हुआ है। ठीक उसी तरह जैसे मीरा अपने आराध्य देव कृष्ण के लिये आकुल रहती थी, देवीजी भी किसी अपरिचित, सुन्दर, निष्ठुर और अज्ञात के लिये आतुर रहती हैं, किन्तु मीरा का प्रियतम साकार था और देवीजी के प्रियतम की कोई रूप-रेखा नहीं है। वह बहुत कुछ कबीर के निरंजन पीव हैं और जायसी के निर्गुण

जैसा है। जिसकी रूप छवि का आभास प्रकृति में ही इन्हें कभी-कभी मिलता है। इस दृष्टि से जो माधुर्य-भावना हमें कबीर और जायसी में मिलती है, उसी को अत्यन्त परिमार्जित, स्वाभाविक और विशुद्ध रूप में हम देवी जी के गीतों में भी पाते हैं। उनकी आत्मा का भी परमात्मा से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि जायसी और कबीर आदि रहस्यवादी कवियों ने व्यक्त किया है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध के विषय में देवी जी ने एक स्थान पर लिखा है—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम, तू असीम मैं छाया का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय ! प्रेयसी प्रियतम का अभिनय क्या ?
तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?

इस प्रकार देवी जी प्रियतम को अपना परिचय देने में असमर्थ हैं, उनका कथन है कि जैसे सिन्धु के बनते और बिगड़ते वीचि-विलास (बुद्-बुदे) उसे अपना परिचय नहीं दे सकते, क्योंकि वे तो उसी के हैं। वैसे ही उनके प्राणों की सृष्टि और विनाश का क्रम भी उसी महासमुद्र (ब्रह्म) में से होता, और उसमें ही समाता रहता है—

सिन्धु को क्या परिचय दें देव, बिगड़ते वीचि-विलास ?
हैं मेरे बुदबुद प्राण, तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।

देवी जी की विरहिणी आत्मा स्वकीया की भांति उस अज्ञात प्रियतम के पथ में जहां आंखें बिछाये रहती है तथा

करुणा पीड़ा और वेदना को ही अपनी चिर संपत्ति समझ कर शान्ति का अनुभव करती है, वहां हम उसे मिलन का सुखद अनुभव करते हुए भी पाते हैं। प्रिय के आने की प्रतीक्षा में वह जितना तपती है उतना ही सुख उसे उसके मिलन संकेत का अनुभव करने में भी होता है। नीचे की पंक्तियों में चिर प्रतीक्षा की घड़ियों में प्रतापित विरहिणी की उस स्थिति का चित्र जो कि प्रियतम के आने की आहट को सुन कर हो जाया करती है, देवी जी ने बड़ा ही मार्मिक, स्वाभाविक और सजीव खींचा है :—

नयन श्रवण-मय श्रवण नयन-मय आज हो रही कैसी उलझन,
रोम-रोम में होता री सखि! एक नया उर का सा स्पन्दन,
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं
मुस्काता संकेत भरा नभ आली! क्या प्रिय आने वाले हैं?

इतना ही नहीं देवी जी ने निम्न पंक्तियों में चिरविरह की रात को मिलन का प्रात कह कर रहस्यात्मक भावना के उस चरम बिन्दु की व्यञ्जना भी की है, जहां पहुँच कर उपास्य और उपासक एकाकार हो जाते हैं तथा सर्वत्र मधुरता का ही एक मात्र राज्य रह जाता है:—

चिर विरह की रात को अब, तू मिलन का प्रात रे कह

+ + + +

मधुर मुझको हो गये सब, मधुर प्रिय की भावना के

संक्षेप में हम महादेवी जी को अन्तर्मुखी भावनाओं की चितेरी कह सकते हैं। उन्होंने अधिकतर प्रगीति काव्य ही लिखे हैं, जिनमें हम उनके नारी-हृदय की पूर्ण स्वभाविकता कोमलता, मधुरता, वेदना और तीव्रता का चित्रण पाते हैं। भक्त-कवियों में नारी सुलभ विरह-वेदना का स्वाभाविक चित्रण कर जैसी सफलता मीरा ने प्राप्त की थी वैसी ही सफलता इस युग के छायावादी और रहस्यवादी कवियों में महादेवी जी को मिली है। प्रसाद पन्त और निराला आदि कवियों ने भी यद्यपि अपने आपको विरहिणी आत्मा के रूप में चित्रित किया है, तथापि उनकी विरहानुभूतियां आतुरता और उत्सुकता उतनी स्वाभाविक और तीव्र नहीं है, जितनी की देवी जी की हैं। वास्तव में प्रेम नारी के हृदय की ही वस्तु है, चाहे वह लौकिक हो अथवा अलौकिक। लौकिक क्षेत्र में जहाँ हम नारी को पुरुष से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा पाते हैं, वहाँ अलौकिक क्षेत्र में भी उसकी ही सत्ता अधिक महत्वपूर्ण है। इस कथन की पूर्ति हम महादेवी जी के गीतों में पूर्णतया पाते हैं। देवी जी के शब्दों में गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुखात्मक अनुभूति से ही रहा है और रहेगा' किन्तु यह रागात्मिका वृत्ति जितनी हमें नारी में मिलती है, उतनी पुरुष में नहीं। इसलिये प्रेम की भांति गीत भी नारीके ही मधुर कंठ की वस्तु है। गीत के गाने में जैसी सर सता नारी के कण्ठ से बरसती है वैसी पुरुष के कण्ठ से नहीं।

इसलिये गीतोंके लिखने में भी नारी ने ही पुरुषसे अधिक विशेषता प्राप्त की है। इसका प्रमाण श्रीमीरा के पदों की भांति ही देवीजी के गीतों से भी पूर्णतया मिलता है। उनके गीत हृदय की स्वाभाविक गति और भाव-प्रक्रिया से अद्‌भुत भावों के ऐसे निर्झर हैं कि जो स्वत: कल-कल गान करते हुये बह निकले हैं। उनमें कृत्रिमता, बनाव श्रृंगार और पालिश का आभास तक नहीं सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को शब्दचित्र और रेखांकित भाव चित्रों का रूप देने में जो सफलता इन्हें प्राप्त हुई है वैसी हिन्दी के अन्य कवियों को नहीं। वास्तव में इनकी काव्य-कला की अमूर्तता रेखा, रेखा और रंग के सहारे सजीव हो उठी है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

भगवती चरण वर्मा—इनका जन्म संवत् १९६० है। छायावादी कवियों में इन्होंने भी अपना अच्छा स्थान बनाया करुणा और कसक इनकी कविताओं में भी पर्याप्त मिलती है। नैराश्य और अतृप्ति इनके भी दुख-वाद का प्रधान स्वर है, किन्तु यह स्थिति अधिकतर उन कविताओं की है जो इन्होंने छायावादी और रहस्यवादी शैली के अन्तर्गत लिखी हैं। वास्तवमेंये मिलन के चितेरे कवि हैं विरहके सुख इनको अधिक प्रिय नहीं, यही कारण है कि इनके प्रेम में पार्थिवता अधिक आ गई है। प्रेम के मधु में यह सब कुछ भूले जान पड़ते हैं। हंसने में इन्हें जितना आनन्द मिलता है, उतना रोने में

नहीं। इनकी कविताओं के मधुकरण प्रेमसंगीत और मानव आदि संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें हमें इनका छायावादी और रहस्यवादी दृष्टिकोण तो मिलता ही है, उसके साथ ही प्रगतिशील स्वच्छन्दता के दर्शन भी होते हैं। देश की परिस्थितियों से प्रभावित होकर इन्होंने अपनी कविताओं में जिस स्वर को प्रधानता दी है, वह पूर्णतः प्रगतिवादी है। भैंसा गाड़ी नाम की इनकी इस विषय की कविता ने बहुत ख्याति प्राप्त की है। हिन्दू नाम की कविता में भी इनकी प्रगतिशील भावनाओं का अच्छा परिचय मिलता है। इनकी भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज का आधिक्य है। नीचे इनकी क्रान्तिकारी कविता का उदाहरण पढ़िये:—

लपटें हों विनाश की जिनमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अंगारों में झुलस रहा हो विभव विधान,
अरे क्रान्ति के चिनगारी से तड़फ उठे वासना महान,
उच्छ्वासों के धूम्र-पुञ्ज से ढक जावे जग का अभिमान,
आज प्रलय की वह्नि जल उठे जिसमें शोभा बने, विराग,
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग।

राम कुमार वर्मा—इनका जन्म संवत् १९६२ है। ये कवि के साथ-साथ उच्च कोटि के विद्वान भी हैं। इन्होंने एकांकी नाटक तथा कई आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे हैं। चित्ररेखा, चन्द्रकिरन, अंजली, अभिशाप, रूपराशि, जौहर और संकेत आदि इनकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो

हैं, जिनमें हमें इनके दुःखवादी वेदना पूर्ण स्वर की झंकार सुन पड़ती है। इनके प्रेम में निराशा, वेदना और आकुलता आदि सब कुछ हैं। अनुभूति और कल्पना के आधार पर इन्होंने अपनी कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य के बड़े अनोखे चित्र खींचे हैं। गद्य-काव्य लिखने में भी इन्हें उतनी ही सफलता मिली है, जितनी कि गीति काव्य लिखने में। हिमहास नाम की रचना इनकी गद्य-काव्य का उत्तम संग्रह है। संसार और जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण क्षणभंगुरता का है, शान्ति के चिन्ह इन्हें किसी पदार्थ में भी दृष्टि गोचर नहीं होते। नीचे इनकी कविता का एक उदाहरण देखीये:—

> वह सरिता है—चली आ रही—है चंचल अविराम,
> थकी हुई लहरों को देते, दोनों तट विश्राम,
> मैं भी तो चलता रहता हूं, निशदिन आठोंयाम
> नहीं सुना मेरे भावों ने शांति—शांति का नाम
> लहरों को अपने अंगों में, तट कर लेता लीन
> लीन करेगा कौन! अरे वह मेरा हृदय मलीन।।

उदय शंकर भट्ट— इनका जन्म कर्णवास जिला बुलन्दशहर में संवत् १९५३ में हुआ इन्हें हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त गुजराती और अंग्रेजी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान है। ये यथार्थदर्शी कवि हैं विश्व के वैभव और पराभव का अनुभव प्राप्त कर भट्ट जी शक्ति जीवन के पारखी बन गये हैं। अध्यात्मवाद की अपेक्षा भौतिकवाद इन्हें अधिक प्रिय हैं। दार्शनिक

दृष्टिकोण भी इनका बहुत ऊंचा है। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में जितनी निराशा है उतनीही आशा हमें इनकी बाद की रचनाओं में मिलती है कारुण्यपूर्णस्वर की अपेक्षा आशा और उत्साह भरे स्वरमें गाना इन्हें अधिक प्रिय लगा है। विद्रोही भावना इनमें भी पर्याप्त है, इनका यह विद्रोह सामाजिक रूढ़ियों, राज्यव्यवस्था और ईश्वरवाद आदि सभी क्षेत्रों में देखनेको मिलता है। इनकी दृष्टि में मानव सर्वोपरि सत्ता है। जिसे बढ़ने के लिए इन्होंने अपनी प्रगतिवादी रचनाओं में खूब ललकारा है। इनकी फुटकर कविताओंके विसर्जन और राका दो संग्रह, मानसी खंड काव्य और तक्षशिला इतिवृत्तात्मक काव्य के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे देखिये—

मैं विद्रोही मुझे शाप का कोई भी सन्ताप नहीं है,
मेरा तो बस धर्म यही है यही कि मुझ में पाप नहीं है।
आडम्बर भी नहीं, विनय भी नहीं, कपट भी नहीं, कहीं है,
जग-नाश से खेल-खेल कर तुम्हें सुनाना सही सही है।

हरिकृष्ण प्रेमी—इनका जन्म सम्वत् १९६५ है। इनकी कविता का जन्म भी वेदना से ही हुआ है। इनकी प्रारम्भिक रचनायें छायावादी और रहस्यवादी कोटि की हैं। गहरी अनुभूति, सरल वर्णन, शैली और भाषा की स्वाभाविकता आदि इनकी कविताओं की विशेषतायें है। काव्य-साधना के लिए प्रयास करते हुए कहीं पर भी दिखाई नहीं देते। इनकी कवितायें इनके हृदय से स्वतः उद्भूत भाव तरंगे हैं, जिनमें प्रेम की सरलता, मार्मिकता, कोमलता और सरसता आदि कविता

के सभी गुण मिलते हैं। आंखों में आकुभरनी, स्वर्ण-विहान, अनन्त के पथ पर और अग्निगान आदि इनकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अग्निगान में इनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। ईश्वर, माया, आत्मा प्रेम और सौन्दर्य आदि विषयों को छोड़कर अब इनका कवि हृदय, दलित, तृषित, दुखी, पराजित और व्यथित हृदयों के लिए अधिक क्रांति कर उठा है, सामयिक परिस्थितियों ने इनको भी पूर्णत: प्रगतिवादी बना दिया है। इनकी कविताओं की कुछ पंक्तियां नीचे देखिये—

मेरा दुःख हत्यारे जग का-बन जाए न खिलौना-सा,
इस भय से उर की कुंजों में छिपा रखा मृग-छौना-सा।

× × ×

क्यों अन्धकार में केवल मैं गिनूं गगन के तारे।
ये अस्थिर जगमग दीपक भ्रम की छाया हैं सारे।
'तरणी' को छोड़ यहीं पर मैं बह लूँगी लहरी बन।
नभ में बन पवन बहूंगी मैं तोड़ जगत के बन्धन।

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द—इनका जन्म संवत् १९५४ है। ये कई भारतीय भाषाओं के विद्वान् हैं। कुछ काल तक शान्तिनिकेतन में भी अध्यापन कार्य कर चुके हैं। वहाँ के वातावरण से इनके कवि-हृदय का अच्छा विकास हुआ है। ये प्राकृतिक सौन्दर्य के पुजारी हैं। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करने में इन्हें अच्छी सफलता मिली है कल्पना और अनुभूति के आधार

पर इन्होंने प्रेम और करुणा के बड़े ही सजीव चित्र खींचे हैं। इनकी कविता वैसे आध्यात्मिक कोटि की है, किन्तु उसमें हृदय का पूर्ण उन्माद और माधुर्य भरा हुआ है। राष्ट्र-प्रेम से भरी हुई कवितायें भी इन्होंने अच्छी लिखी हैं। पखुरिया और जीवन संगीत के नाम से इनके दो काव्यसंग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनकी एक कविता नीचे देखिये—

> सुख-दुख, हास-अश्रु के जग से ऊपर उठ, होकर अविकार,
> मुझे पूर्णता के मधुवन में, कर लेने दो मुक्त विहार,
> इस आनन्द-उषा में जग का नभ-प्रकाश छिप जाने दो,
> जीवन के साधना-शिखर पर उत्सव आज मनाने दो,
> आ पहुँचा आह्वान, शृंखला टूटी साथ मिटाने दो,
> मेरी लघुता को 'विराट्' की महिमा में मिल जाने दो,

हरिवंशराय बच्चन—इनका जन्म-संवत् १९६५ है। इन्होंने हिन्दी में हालावादी काव्य का सृजन किया है। हाला-वादी काव्य पहले फ़ारसी में लिखा गया था। ऐसा काव्य लिखने वालों में उमरखैयाम का नाम फ़ारसी में बहुत प्रसिद्ध है। उनकी लिखी रुबाइयों का अनुवाद पहले अंग्रेजी में हुआ फिर हिन्दी में भी उसके कई अनुवाद छपे। जिनमें बच्चनजी का अनुवाद हिन्दी जगत् में बड़ा प्रसिद्ध हुआ है। बच्चन जी ने मधुशाला नाम की इसी विषय की एक स्वतंत्र पुस्तक लिख कर इस काव्यधारा को हिन्दी-साहित्य में भी अच्छी गति दी। उनकी मधुबाला और मधुकलस नाम की रचनायें हाला—

का ही गुणगान करती हैं। हमारे साहित्य में अब छायावादी काव्य-धारा की अलौकिक मस्ती से पाठक ऊबने लगे थे; तो उस समय बच्चन जी की इस हालावादी मस्ती ने उनका अच्छा मनोरञ्जन किया। बच्चन जी की कविता में सरलता सरसता, स्पष्टता और हृदय पर चोट करने की अच्छी शक्ति थी। इसीलिये उन्हें अच्छी लोक-प्रियता प्राप्त हुई। इसके पश्चात् बच्चन जी ने स्वतंत्र प्रेम-विषयक काव्य भी हिन्दी संसार को दिया। एकान्तसंगीत, निशानिमन्त्रण, शतरंगिणी आदि रचनाओं में हमें बच्चन जी की प्रेमानुभूतियों के अच्छे दर्शन होते हैं। इनका प्रेमवर्णन लौकिक है, जिसमें मादकता, आकुलता, मिलन, तीव्रता और आहें आदि सब कुछ है, किन्तु हाला और प्रेम की मस्ती में बच्चन जी संसार की वास्तविकता से नहीं भुला सके। सामयिक परिस्थितियों ने उनकी स्वप्नमयी कल्पना और मधुर शब्दावली को भुलवा दिया तथा वे जीवन-संघर्ष में उतर आये। उनकी आज कल की रचनाओं में प्रगतिवादी भावनाओं का अच्छा परिचय मिलता है। बंगाल के अकाल पीड़ितों, मजदूरों, दलितवर्ग और युग-पुरुष बापू गांधी पर उन्होंने अपनी नवीन रचनाओं में श्रद्धा के अच्छे फूल चढ़ाये हैं। इनकी कविता नीचे देखिये—

मतवालों का राग नहीं अब, अंगूरों का बाग नहीं अब।
अब लोहे के चने मिलेंगे, दाँतों को अजमाओ,
आगे हिम्मत करके आओ।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त मोहन लाल महतो वियोगी, भगवती प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, पद्माकान्त मालवीय और रामनाथ लाल सुमन आदि कवि भी इस धारा के कवियों में गिने जाते हैं; किन्तु विगत द्वितीय महायुद्ध ने विश्व को जिस भयंकरता में ला फंसाया है; उसका प्रभाव मानवमात्र के ऊपर पड़ा है। आज का प्राणी संसार की विषम परिस्थितियों से घबरा उठा है। विचारशील व्यक्तियों को जीवन की विषमताओं के विनाश में ही शान्ति का आभास दृष्टि-गोचर हो रहा है; कवि भी ऐसे ही काव्यका सृजन कर रहे हैं; जिसमें जीवन से लड़कर शान्ति का मार्ग बनाने की प्रेरणा है। आज के कवि को प्रेम की मादकता, प्रकृति की सुन्दरता, मोहकता और अध्यात्ममयी शान्ति सब कुछ मानव की भूख में तिरोहित हुए जान पड़ते हैं। उनका कवि हृदय इस भूख के निवारण में ही संलग्न है। स्वर्ग की आकर्षणमयी छवि को छोड़ कर ये कवि भूतल के प्रतप्त वातावरण में उतर आये हैं। इनके विचारों में, शैली में और दृष्टिकोण में पहले से बहुत कुछ नवीनता आ गई है। जीवन और जगती के प्रत्येक क्षेत्र में ये मंगलकारी परिवर्तन के इच्छुक बन कर ऐसा काव्य लिख रहे हैं, जिसमें पूर्णतया प्रगतिशीलता है। हमारे साहित्य में इस प्रगतिशील भावना का उदय कब और किस प्रकार हुआ इसका विवेचन अगले अध्याय में प्रगतिशील-साहित्य के अन्तर्गत किया जायेगा।

प्रगतिशील साहित्य

प्रगतिवादी कवि

(संवत् २०००—)

सामान्य परिचय—संवत् २००० से हमारे हिन्दी काव्य की धारा ने जो नवीनतम रूप धारण किया है, उसे प्रगतिवादी काव्य का नाम दिया गया है। इस धारा के अन्तर्गत गद्य और पद्य में जितना साहित्य लिखा गया है, वह सब प्रगतिशील-साहित्य में समझना चाहिए। वैसे तो हिन्दी में भारतेन्दुकाल में ही जब हमारे कवियों ने यथार्थवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया था, उसी समय प्रगतिवादी भावनाओं का उदय होगया था, किन्तु उस समय इसने प्रगति-शीलता का जो रूप धारण किया था, उसका प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय चेतना, समाज-सुधार, बौद्धिक दृष्टिबिन्दु और स्वाधीनता आदि ही अधिक रहे। आगे चलकर द्विवेदी-काल में आदर्शवाद के रूप में भी प्रगतिशीलता के लक्षण दृष्टिगोचर हुए, किन्तु इस काल के आदर्शवादी कवियों का ध्यान भी देश—स्वातन्त्र्य

राजनैतिक दासता के प्रति विरोध और समाजोद्धार आदि की ओर ही लगा रहा, क्योंकि इस काल तक की प्रमुख भारतीय समस्यायें ये ही थीं। आर्थिक शोषण अछूतोद्धार पीड़ितों की रक्षा और मजदूर आन्दोलन आदि समस्याओं पर यद्यपि इन कवियों ने पर्याप्त प्रकाश डाला। किन्तु उनकी ये सब प्रवृत्तियाँ राष्ट्रवाद के ही प्रमुख स्वर में समा गईं।

द्विवेदी-काल के पश्चात् प्रसाद-काल के छायावादी-रहस्यवादी कवि कविता कामिनी को भूतल से दूर प्रकृति और अध्यात्म के ऐसे प्रांगण में ले गये जहां सुन्दर ही सुन्दर के दर्शन होते थे। द्विवेदी-युग की आदर्शवादिता और इतिवृत्तात्मकता के कारण ऐसा हुआ हो, केवल यह बात ही नहीं थी, बल्कि उस समय का मानव विश्वव्यापी अशान्ति से घबराकर ईश्वरोन्मुख हो गया था। जीवन की अपेक्षा अध्यात्म-चिन्तन में उसे अधिक शान्ति का अनुभव होने लगा था। किन्तु जब तक भौतिक अशांति बनी रहती है, तब तक आध्यात्मिक शान्ति भी नहीं हो पाती, क्योंकि भौतिकता का जितना सम्बन्ध मनुष्य के बाह्यजीवन से है, उतना ही सम्बन्ध आध्यात्मिकता का उसके आन्तरिक जीवन से है। बाह्यजगत् का मनुष्य के अन्तर्जगत् पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि यह कहा जाय कि बाह्य शान्ति के बिना आन्तरिक शान्ति सम्भव ही नहीं तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसका प्रमाण छायावाद की पलायनवादी क्रिया से भी मिलता

है। प्रकृति और पुरुष की मनोहारी क्रीड़ाओं में विचरण करने वाले हमारे छायावादी-रहस्यवादी कवि शीघ्र ही जीवन के संघर्ष क्षेत्र में उतर आये तथा भौतिक शान्ति के लिये शंखनाद करने लगे। इस प्रतिक्रिया का बहुत कुछ कारण गांधीवाद और समाजवाद का विश्वव्यापी प्रभाव भी है। इन दोनों वादों ने भौतिक शान्ति पर अधिक बल दिया है। जहाँ हम गांधी वाद को अहिंसात्मक प्रयोगों के द्वारा लोक-शान्ति में रत हुआ पाते हैं। वहाँ मार्क्सवाद हिंसात्मक प्रयोग से उसी शान्ति में प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध, जिसकी लपटों में विश्वशान्ति का तीन-चौथाई भाग भस्म हो गया है, ने भी इस युग के प्राणी को उन कारणों पर विचार करने के लिये विवश कर दिया है, जो लोक-शान्ति को नष्ट करने का हेतु बन रहे हैं। आज का मनुष्य साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, जातीयता, धार्मिकता और ऊँच-नीच आदि भेद-भाव को जीवन की अशान्ति का कारण मानता है। वह साम्राज्यवाद के स्थान पर प्रजातंत्रवाद पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद, जातीयता के स्थान पर समानता और धार्मिकता के स्थान पर मानवता का समर्थन करता है। उसकी दृष्टि में संसार के प्रत्येक प्राणी को सुखमय जीवन व्यतीत करने का पूर्ण अधिकार है। उसका सिद्धान्त है 'स्वयं जीओ और सब को जीने दो'; किन्तु यह आवाज उन लोगों के हृदय से निकली है, जो

चिरकाल से शोषित दलित और तुच्छ समझे जाते रहे हैं। जिन्हें मानव होते हुए भी कीट तुल्य समझा गया है। इसलिये स्वभावत: उन व्यक्तियों, राष्ट्रों और जातियों का इस आवाज से विरोध है, जो अपने सुखों के सामने दूसरों के सुखों को तुच्छ समझते रहे हैं।

जिन कवि अथवा लेखकों को हम प्रगतिवादी कहते हैं, उनकी सहानुभूति दलितों की इस आवाज के साथ है इसलिए वे इस प्रकार के साहित्य का सृजन करते हैं जो प्राणीमात्र में हर प्रकार की समत्व की भावना उत्पन्न करने वाला है; किन्तु उनकी वाणी का विरोध होता है। इसलिये उनके स्वर में पर्याप्त उग्रता है। वे क्रान्ति की चिनगारी फूकने के लिये जहाँ समानता के राग गाते हैं वहाँ विद्रोह के विषम स्वर भी उनकी वीणा से निकलते हैं; किन्तु प्रधानता समानता की ही है।

संस्कृत के अनुसार प्रगति का अर्थ किसी भाव या विचार को पूर्ण या उत्कृष्ट रूप से गतिमान करना होता है। इस दृष्टि से यदि हम इस शब्द के अर्थ की व्यापकता पर विचार करते हैं तो वह सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक व्यष्टि और समष्टि आदि की नाना भावनाओं में व्याप्त मिलती है; किन्तु प्रगतिवादी कवियों का दृष्टिकोण अभी तक समाज और राजनीति पर ही अधिक आधारित है, जिसके मूलमें साम्यवादी भावना विशेष रूप से कार्य कर रही है। इस आधार पर

मता से आक्रांत है दूसरी ओर मानस में अन्तर्द्वन्द्व से। उसे समाज से भी लड़ना पड़ता है और अपने से भी। परन्तु जहां छायावादी इस संघर्ष से घबराकर निराशवादी हो जाता है, प्रगतिवादी आशापूर्ण है। उसे विश्वास है कि वह इस दुःख को दूर करने में सफल होगा। और वह दिन आयेगा जब ये विषमतायें मिट जायेंगी। उसमें इनका सामना करने की शक्ति और स्फूर्ति तथा मानव जीवन के विकास की प्रेरणा है। छायावादी उस स्वर्गलोक की कामना करते हैं जो इस जगह से दूर कहीं आकाश में है। प्रगतिवादी इसी जगत् में स्वर्ग चाहते हैं। वे ऐसा संसार बनाना चाहते हैं, जिसमें वर्ग भेद-शोषण और रूढ़ि का नाम तक न होगा।

२—प्रेम के गीत दोनों प्रकार के कवियों ने गाये हैं। प्रगतिवादी प्रेम के दुष्परिणामों पर भी दृष्टि रखता है। वह प्रेम को निपट स्वर्ग की वस्तु नहीं समझता। वह जानता है कि जहाँ अमृत है वहां विष भी है। प्रगतिवाद का शृंगार कभी-कभी अश्लील भी हो जाता है—स्वाभाविकता के नाते वह किसी चीज़ को गोप्य नहीं रखता। 'प्रभात फेरी' और 'ग्राम्या'में यथार्थता के नाम पर अश्लीलता की वीभत्सता कई जगह लक्षित होती है।

३—प्रकृति से दोनों समुदायों के कवियों को प्रेम है। बहुत से कवि छायावाद से प्रगतिवाद की ओर आकर्षित हुए हैं।

प्रगतिवादियों के प्रकृति-प्रेम का मुख्य कारण ग्राम्य जीवन का आकर्षण है, वे शहरियों से तंग है। ग्रामीण लोगों से उन्हें पूरी-पूरी सहानुभूति है।

४—धर्म की प्रतिष्ठा दोनों प्रकार के कवियों ने की है। परन्तु प्रगतिवादी धर्म का व्यावहारिक रूप लेते हैं। वे उस धूर्त की घोर निन्दा करते हैं जो ईश्वर को रिझाने का प्रयत्न तो करता है, परन्तु मनुष्य पर अत्याचार और पाप करना बुरा नहीं समझता। वे धर्म को भी मानव जाति के कल्याण के लिए लगाना चाहते हैं। वे उसी को धार्मिक कहते हैं, जो भिखारी से सहानुभूति रखता है, नंगे के शरीर को ढकता है और समाज के हित में लगा रहता है।

५—यह मानना पड़ेगा कि छायावादी कविता साधन और अभ्यास के कारण कवित्व की दृष्टि से बहुत ऊँची है। प्रगतिवादी कविता में अभी वह गम्भीरता, वह तन्मयता, वह अभिव्यञ्जना, वह अनुभूति की गहराई और वह कला नहीं आ पाई जो छायावाद की अपनी विशेषता है।

विद्वान् लेखक की इस तुलना में छायावाद और प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों का अन्तर तथा प्रगतिवाद की महत्ता का प्रकाशन बहुत कुछ हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवाद काव्य को वस्तु जगत् की कठोर और कर्कश भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। शोषित और पीड़ितों के प्रति उसकी पूर्ण सहानुभूति है। तथा वह विश्व के समस्त प्राणियों

की दीनता और दरिद्रता को दूर करना चाहता है। किन्तु उसका दृष्टिकोण और सहानुभूति अभी तक बौद्धिक है, हृदय की सच्ची भावना का समन्वय अभी तक उसमें नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त उसमें क्रान्ति की उग्रता अधिक होने के कारण वह काव्य की वस्तु नहीं बन सका। क्रान्ति में जब तक समन्वय का स्वर नहीं मिलता तब तक वह हितकारी और उपयोगी नहीं सिद्ध होती। क्योंकि परिवर्तन अवश्यंभावी अवश्य होता है, किन्तु परिवर्तन पर सर्वथा नवीन के दर्शन कभी नहीं होते, इसलिये प्रगतिवाद में काव्य की सब विधाओं और जीवन की समस्त दिशाओं को बदल देने की जो प्रवृत्ति है उस पर नियन्त्रण की आवश्यकता है। रस, भाव, भाषा, छन्द, अलंकार और शैली आदि की दृष्टि से काव्यगत रूढ़ियों का खण्डन तो निस्सन्देह आवश्यक है; किन्तु इस दृष्टि से काव्य में सर्वथा नूतनता का लाना असम्भव है। जीवन में यथार्थ का महत्व अवश्य है, पर कोरा यथार्थ मंगलमय नहीं होता। मंगल की वस्तु आदर्श का चित्रण है। जो साहित्य में इस ढंग से चित्रित होना चाहिये जैसे दर्पण में पड़ी हुई हमारी प्रतिछाया हमें अपने मुख पर पड़े हुए धब्बों अथवा बिखरे हुए बालों को ठीक करने का संकेत करती है। प्रगतिवादी साहित्य में जब तक जीवन के उस आदर्श का चित्रण नहीं होगा जो समाज, देश अथवा जाति के लिए दर्पण की सी स्वच्छता करता

है तब तक इस धारा में प्रौढ़ता और स्थायित्व नहीं आ पायेगा।

कवि-वर्तमान समयके प्रायः सभी प्रमुख हिन्दी कवियों को हम प्रगतिशील साहित्य का सृजन करते हुए पाते हैं। पन्त ने युगान्त, युगवाणी, ज्योत्स्ना और ग्राम्या, निराला जी ने अनामिका, अणिमा, कुकुरमुत्ता, बेला, नयेपत्ते, महादेवी वर्मा ने बंगभू शतवन्दनाले, बच्चन ने हलाहल, बंगाल का आकाल, आकुल अन्तर, भगवती चरण वर्मा ने मानव, सोहनलाल द्विवेदी ने प्रभाती, चित्रा, बाँसुरी, भैरवी, युगाधार, आदि रचनायें लिखकर प्रगतिवादी कवियों में अच्छी सफलता प्राप्त की है। किन्तु फिर भी ये कवि अपनी निजी विशेषताओं को नहीं छोड़ पाये। इसलिए प्रगतिवादी काव्य धारा में इन कवियों में से दो चार का नाम ही आता है। इस धारा का पूर्णतः अनुसरण करने वाले कवियों में रामधारी सिंह दिनकर, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेन्द्र शर्मा, गोपाल सिंह नैपाली, अनूप शर्मा, शिव मंगल सिंह सुमन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं की काव्य-साधना पर यहां प्रकाश डाला जायेगा—

रामधारी सिंह दिनकर—वर्तमान प्रगतिशील कवियों में इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। इनकी लिखी हुए हुंकार, रेणुका द्वन्द्व गीत रसवन्ती आदि रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन में फुटकर काव्य के रूप में ही हमें इनके प्रगतिशील विचार देखने को मिलते हैं। मजदूरों, किसानों,

और दलितों के प्रति इनकी पूर्ण सहानुभूति है। सामन्तवादी मनोवृत्ति का इन्होंने भी पूर्णतः विरोध किया है। इनका कथन है—अन्तर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा.........जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय भुलावे में डाल कर हमारी आंखों को दिल्ली से हटा कर मास्को की ओर लगाना चाहते हैं वह अवश्य ही हमें धोका दे रहे हैं। इस कथन से इनकी उन विचार धाराओं का पता लगता है, जो इन्होंने अपनी रचनाओं में लिपिबद्ध की हैं इनकी दृष्टि में व्यक्ति भी प्रगतिशीलता का केन्द्र है, केवल समाज ही नहीं क्योंकि व्यक्ति में ही निर्बन्ध भावनाओं का उदय होता है। इनकी दृष्टि में काव्य में जीवन के सत्य का विद्यमान रहना आवश्यक है। इनकी प्रगतिवादी भावनायें क्रान्तिकारी अवश्य हैं, किन्तु साहित्य में वे भारतीय साहित्य के दृष्टिकोण को नहीं भूल पाते। इनका काव्य दलितों को लड़ने की प्रेरणा न देकर उनकी उस स्थिति का प्रकाशन करता है, जो उच्चवर्ग की आंखें खोलने वाली है। इनकी आँखें एक ओर तो विवश मानव की दीनता की ओर जाती हैं तथा दूसरी ओर वे अपने आपको उच्च समझने वाले लोगों की आंखें खोलती हैं। जीवन की साम्य-भावना इन्हें प्रिय है; किन्तु इसके साथ ही कर्तव्य पालन के महत्त्व का विवेचन भी इन्होंने किया है। कला को इन्होंने राजनीति से पृथक् माना है। इनकी कला में आत्मा की प्रवृत्तियों को सजग रखने की पूर्ण क्षमता है।

इन की काव्य-कला का आधार भारतीयता है। इन्होंने जीवन को बाह्य और आन्तरिक दोनों दृष्टियों से देखा है तथा परिवर्तन को अनिवार्य माना है। नारी के प्रति इनका दृष्टि-कोण केवल वासना का ही नहीं है, इन्होंने नारी के स्नेह की स्निग्धता और पवित्रता पर पूर्ण ध्यान दिया है। इनकी नारी रसवन्ती, भौतिक भावनाओं में गुम्फित होने पर भी जीवन के मार्मिक सत्य और माधुर्य से पूर्ण है। उसमें रोमांस है, किन्तु उच्च कोटि का। द्वन्द्वगीत में इन्होंने गम्भीर चिन्तन की भाँति सुस्थिर भाव से जीवन का तात्विक विश्लेषण किया है। इसमें जीवन की एक सुनिश्चित दिशा देखने को मिलती है। साहित्य के शिव भाव का ध्यान भी कवि ने इसमें रक्खा है। इन्होंने पाश्चात्य सिद्धांतों को ग्रहण अवश्य किया है, किन्तु भारतीय संस्कृति की मनोवैज्ञानिकता को ये कहीं पर भी नहीं भूल पाये। ये अपने चारों ओर की परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर कहीं २ पर विध्वंसात्मक रूप भी धारण करते हैं, इनकी दृष्टि में सृष्टि पतनोन्मुख है। उसके यौवन का ह्रास हो चुका है—

वृद्ध सूर्य की आँखों पर, माँडी-सी चढ़ी हुई है।
दम तोड़ती हुई बूढ़ी-सी दुनिया पड़ी हुई है॥

संक्षेप में दिनकर जी के लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने शिष्टतापूर्ण प्रगतिशीलता को अपनी काव्य-चेतना का रूप दिया है और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत गहरा

रहा है। उन्होंने दीन कृषकों और मजदूरों की आहों और पुकारों को चित्रित करके शोषकों की आँखें खोलने का प्रयत्न किया है—

आहें उठी दीन कृषकों की, मजदूरों की तड़प पुकारें।
अरी ! गरीबी के लोहू पर, खड़ी हुई तेरी दीवारें ॥

कुरुक्षेत्र नाम से दिनकर जी का एक काव्य-ग्रंथ और प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने महाभारत की घटना को नहीं दुहराया बल्कि उसे आधार मानकर साम्यवादी भावना और कर्म के सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया है। इसमें दिनकर जी ने जीवन की वास्तविक फिलोसफी का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। उनका सिद्धान्त है कि मनुष्य को जीवन की वास्तविकता और वर्तमान युग की विभीषिकाओं से घबराकर किसी अज्ञात लोक अथवा भाग्यवाद की ओर नहीं दौड़ना चाहिये। अपितु एक ऐसा राष्ट्र बनाना चाहिये, जिसमें कर्तव्य को ही जीवन का मूल मन्त्र माना जावे। इनका कुरुक्षेत्र जीवन की उस गरिमा से पूर्ण है, जो हमें महाकाव्य में मिला करती है। इस दृष्टि से इसे महाकाव्य अवश्य कहा जा सकता है, वैसे यह महाकाव्य की कोटि का ग्रन्थ नहीं है।

रामेश्वर शुक्ल अंचल—प्रगतिशील कवियों में इन्होंने भी अपना उच्च स्थान बनाया है। मधूलिका, अपराजिता, किरणबेला, करील और लालचूनर नाम के इनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी प्रारम्भिक रचनायें प्रेमप्रधान हैं, जिन में वासनात्मक प्रेम को स्पष्ट शब्दों में चित्रित किया गया है।

इनके प्रेम में प्रौढ़ता, गम्भीरता और संयतता का अभाव है। तृष्णा की लौकिक तृप्ति को ये विस्मरण नहीं कर सके। इसलिए इनका प्रेम केवल सेक्स (वासना) पर ही आधारित है। नारी का चित्रण इन्होंने युवती, प्रेमिका और पत्नी आदि वासनात्मक रूपों में ही किया है। नारी के बहिन और माँ जैसे पवित्र रूपों पर इनकी दृष्टि नहीं गई। इनका प्रेम-वर्णन भौतिक धरातल पर खड़ा हुआ है। जिसमें प्रेम-तृष्णा को मानव के लिए आवश्यक माना गया है—

चिर तृष्णा में प्यासे रहना,
मानवता का सदेश यहां।

किरणवेला और करील में हमें अंचल जी प्रगतिवादी रूप में देखने को मिलते हैं। पहली दो रचनाओं में इनकी जो काव्यात्मक प्रवृत्तियां थीं, वे यहाँ आकर सर्वथा बदल जाती हैं यहाँ पहुंचकर कवि सृष्टि के क्रम और निम्न वर्ग की समस्याओं पर विचार करने लगता है। उसका दृष्टिकोण पूर्णतः साम्यवादी हो जाता है। पीड़ित और शोषितों के प्रति उसमें सहानुभूति जाग पड़ती है। किन्तु प्रगतिशीलता के साथ-साथ काव्यात्मक सौन्दर्य के दर्शन भी हमें अंचल जी की इन रचनाओं में पर्याप्त होते हैं। इनका कथन है कि जनबल की दुर्दम शक्तियों का लौकिक सत्य और असत्य से संघर्ष जबतक काव्य के मूल रस-धारों से सम्पर्क और दृढ़ पारस्परिक विकास नहीं स्थापित कर लेता तब तक सच्चे प्रगति-काव्य की रचना

असम्भव है। लालचून में इन्होंने अपने इस कथन को बहुत कुछ सिद्ध कर दिखाया है। अंचल में भी क्रांति की भावना विध्वंसात्मक रूप लिये हुये नहीं है। पूंजीवाद के प्रति इनमें असन्तोष है, किन्तु अपने घोर गंभीर रूप को वे नहीं भूल पाते। वे संयत अभिव्यक्ति के साथ सत्य का आग्रह और असत्य के प्रति घृणा करते हुए जितने मिलते हैं, उतने विद्रोही रूप में नहीं। पीड़ित मानवता के चित्र इन्होंने बड़े ही स्वाभाविक खींचे हैं—

> और कई बच्चों की मां आ रही उधर से अन्न बटोरे,
> आंचल में कुछ लिए चबाती कुछ, बिखरे धोती के छोरे।
> वह देखती पेड़ तले वह खड़ी मानवी कृशा जर्जर,
> देती बांध फटे दामन में थोड़े से दाने अकुला कर।
> किन्तु खड़ी रहती वह अब पत्थर निज निरमोही की प्यासी,
> घर के बिकते तो बीतेंगी पेड़ तले फिर रातें आसी॥

नरेन्द्र एम० ए०—इनके शूलफूल, कर्णफूल, प्रभातफेरी मिट्टी और फूल, प्रवासी के गीत, पलाशवन नाम के काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सामाजिक बन्धनों और रूढ़ियों के प्रति इन्होंने बड़ी उग्रता दिखाई है। ये शृंगार और वीररस दोनों के कवि हैं। इनका अध्ययन अत्यन्त प्रौढ़ है। इनके विचारों और बुद्धि का निष्कर्ष मनन की वस्तु है। इन्होंने समाज और राजनीति की अव्यवस्था को व्यक्ति के दोषों का कारण माना है। प्रेम प्रकृति के सौम्य और उग्र

दोनों रूप इन्होंने चित्रित किये हैं। पलाश वन में इनकी अन्त-र्भावना के अच्छे दर्शन होते हैं—

लो, डाल-डाल से उठी लपट! लो, 'डाल डाल फूले पलाश,'
यह है वसन्त की आग, लगादे आग जिसे छूले पलाश।

गुरुभक्त सिंह 'भक्त'—इन्होंने नूरजहाँ के ऊपर एक प्रबन्ध काव्य लिख कर हिन्दी में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। इनकी कवितामें प्रकृति-वर्णन और मुहावरों का प्रयोग हरिऔध जी की तरह मिलता है। ग्रामीण सभ्यता के प्रति भी इनका बड़ा आकर्षण है। आजकल की प्रबन्धात्मक रचनाओं में नूरजहां इनकी एक सफल रचना है।

गोपाल सिंह नैपाली—इनका एक काव्य-संग्रह नवीन नाम से निकला है। जिसमें इनके प्रगतिशील दृष्टिकोण, प्रकृति-वर्णन, राष्ट्रीय प्रेम और गीतात्मक शैली के अच्छे दर्शन होते हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त गोकुलचन्द्र शर्मा, जनार्दन-प्रसाद, अनूप शर्मा, पद्माकान्त मालवीय, आरसी प्रसाद सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क," शिवमंगल सिंह सुमन आदि कवि भी प्रगतिशील-साहित्य के सृजन में लगे हुए हैं। इनके कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उधर तोरन देवी शुक्ल 'ललि' तारा पाण्डेय, राज राजेश्वरी देवी 'नलिनी' सुमित्राकुमारी सिन्हा, दिनेशनन्दिनी चौरड्या आदि स्त्री कवियित्रियां भी

हिन्दी कविता-जगत्में खूब जगमगा रही हैं। इनके काव्य में नारी होने के नाते यद्यपि प्रेम का स्वर ही प्रधान है, तथापि कुछ कवियित्रियों की रचनाओं में राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता के भी अच्छे दर्शन होते हैं।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद के साथ-साथ हिन्दी में प्रयोगवाद का भी उदय हुआ है। प्रयोगवादी कवि विस्तृत जीवन की आवश्यकताओं को अनुभव करते हुए, काव्य को उपयोगी बनाने की ओर विशेष ध्यान देते हैं। प्रगतिवादी कवियों ने जहाँ सामाजिक, राजनैतिक, साम्यवादी चेतना को अपने काव्य का विषय बनाया है, वहां ये कवि काव्यको जीवन की भांति चिरगतिशील और सत्य मानकर अन्वेषणकी प्रयोग और शोध को काव्य को वास्तविक साधना स्वीकार करते हैं। इनकी दृष्टि में भाव की अपेक्षा वस्तु का अधिक मूल्य है तथा ये असुन्दर को भी जीवन में उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना कि सुन्दर को। वर्तमान जीवन में अनगढ़ और असुन्दर के दर्शन इन्हें अधिक होते हैं, इसलिये ये उसकी ही चेतना को वास्तविक मानते हैं। इन का कथन है कि वर्तमान राजनैतिक और आर्थिक दुरवस्था ने सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनें उत्पन्न कर दी हैं। आज के प्राणी में अविश्वास की मात्रा अधिक है। आध्यात्मिक दर्शन में उसकी कोई आस्था नहीं रह गई, विज्ञान ने व्यक्ति

में बौद्धिक चेतना उत्पन्न कर दी है। इसलिए वह प्रत्येक वस्तु को सत्य और उपयोगिता की कसौटी पर कसना चाहता है। उसके लिए कल्पना का जगत् व्यर्थ है। आज का श्रेष्ठ कवि वही है जो अपने दृष्टिकोण को वस्तुगत बनाकर चले। वह किसी वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर उसे उसके वास्तविक रूप में देखे तथा उसकी ऐसी आंतरिक अर्थव्यंजना करे कि जो पाठक के हृदय में किसी भाव विशेष को न जगाकर मन में कोई नवीन भाव अथवा धारणा उद्बुद्ध कर सके।

इनकी मानसिक भावों की यह नव उद्बुद्धि और धारणा बुद्धि का विषय होने के कारण इनमें बुद्धितत्व की प्रधानता है। ये कवि दर्शन अथवा विचार को रागात्मक रूप न देकर जीवन के रागात्मक तत्व को बौद्धिक माध्यम के द्वारा व्यक्त करते हैं, जिससे इनकी काव्यानुभूतियां रागात्मक न रहकर बुद्धिगत बन जाती हैं। भाषा का प्रयोग भी ये कवि वैयक्तिक अधिक करते हैं। ये शब्द की प्रचलित अर्थव्यंजना को न लेकर अपनी निजी अर्थव्यञ्जना के रूप में प्रयुक्त करते हैं, ये शब्द के साधारण अर्थ में कोई ऐसा अर्थ भरना चाहते हैं जो उनका स्वकल्पित हो। इस तरह से इनकी कविता बहुत दुरूह और अस्त-व्यस्त हो जाती है। नवीनता के चक्र में पड़कर ये कवि काव्य के उन सभी उपादानों और तत्वों का तिरस्कार करते हैं, जो कि अब तक काव्य का विषय माने आते रहे हैं। उधर भावाभिव्यक्ति

का ढंग भी इनका बड़ा उलझा हुआ है। इनमें व्यक्ति की अनुभूतियों को समष्टि की अनुभूति बनाने की क्षमता नहीं है। इनमें वह स्वाभाविक अनुभूति नहीं है, जो कि सहृदय मात्र में पाई जाती है। इनकी भावानुभूतियाँ भी बहुत कुछ बुद्धि के रंग में रंगी हुई होती हैं। वर्तमान समय की नाना उलझी हुई सम्वेदनाओं का साधारणीकरण ये नहीं कर पाते। ये विशेष को विशेष रूप में ही रखना चाहते हैं। जिससे इनके काव्य में स्वाभाविक सरलता और सरसता नहीं आ पाती। इनकी शब्द-योजना, वाक्य-रचना; लक्षणा और व्यञ्जना भी इतनी उलझी हुई होती है कि इनकी कविताओं में स्वाभाविक रसोद्रेक नहीं हो पाता। इनकी कविताओं को पढ़ता हुआ पाठक नवीनता के ऐसे गोरखधन्धे में फंस जाता है कि उसे वस्तु-व्यापार, शब्दों की खिलवाड़ और दिमागी उलझन के अतिरिक्त कुछ और सूझ नहीं पड़ता—

> कब तक मगज़ मारता बैठूं
> तुम से कांटे और बीज़ा के,
> तर्क तुला जाता है थाके,
> उभर रहे सोने के टांके।
> जीवन धोखा हो तो हो,
> यह प्यार कभी धोखों से खाली,
> यह सब एक विराट व्यंग है।
> मैं हूं सब जो था की प्यासी॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद सामाजिक और राजनैतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए साहित्यिक क्रांति चाहता है। उसकी दृष्टि में प्राचीन साहित्यिक सिद्धांत उसी तरह से व्यर्थ हो गये हैं जैसे साम्यवाद की दृष्टि में जीवन के। निःसन्देह साहित्य को भी रूढ़ियों के जाल से मुक्त करने की परम आवश्यकता है। किन्तु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि केवल प्रयोग ही कवियों का लक्ष्य न रह जाय, उन्हें काव्य की आत्मा को परख कर ही इस क्षेत्र में बढ़ना चाहिए। काव्य को नई-नई दिशाओं में लाने के प्रयोग सदैव होते रहे हैं, भविष्य में भी होते रहेंगे, किन्तु काव्यगत प्रयोग सदा वे ही सफल हुए हैं जिनमें उनको साध्य न मानकर साधक के रूप में देखा गया है। क्योंकि प्रयोग से अभिप्राय शैली की नवीनता अथवा काव्य के नव-नव उपदानों से है। साध्य वस्तु काव्य में सदैव रस अथवा रागात्मक तत्व रहा है। बुद्धितत्व अथवा प्रयोगों ने जब कभी भी प्रधानता ली है उसी समय काव्यत्व निर्बल, अस्थायी और अप्रभावात्मक हो गया है। इसलिए प्रयोगवादी कवियों को काव्य के इस राग-तत्व को बुद्धितत्व से पृथक् रखकर चलने की परम आवश्यकता है।

मुद्रक—
आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री,
नवजीवन प्रेस, कूचा शरीफ़ बेग, बाज़ार सीताराम, देहली।